|| श्रीगंगारामदेवायनमः ||

उद्घाटन-समारोह

१८ जून १९७५ : गंगादशहरा २०३२
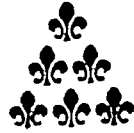
सम्पादन :

पं० रमेशचन्द्र शास्त्री

सप्ततीर्थ

कलकत्ता

प्रकाशन :

श्रीगंगारामजी-चेरिटेबल-ट्रस्ट

१०, फीयर्स लेन

कलकत्ता-१२

सम्पादक की ओर से :

मेरी शास्त्रीय परीक्षा

●

पहले ही दिन, जब चि० श्री देवकीनन्दन मेरे पास आए व पिता का मन्दिर बनाए जाने के बारे में धर्म-शास्त्रों के प्रमाण मांगने लगे तो अन्य पण्डितों की तरह मैं हताश नहीं हुआ। यद्यपि ऐसा अभिनव प्रसङ्ग, मेरे पचास वर्षों के जोवन में प्रथम बार ही उपस्थित हुआ था तो भी मेरी स्पष्ट धार्मिक निर्णय-बुद्धि ने धड़ाधड़ अनेक शास्त्र-प्रमाण उगल दिए। तत्पश्चात् मैं इनको अखिल हिन्दू-विश्व के मूर्धन्य विद्वान पं० करुणामयजो सरस्वती के पास ले गया। परम विद्वान श्रोसरस्वतीजी ने भी तुरन्त हो धर्माज्ञा द्वारा, मन्दिर-निर्माण हो सकना पुष्ट कर दिया। फिर क्या था? अखिल भू-मण्डल के शताधिक धर्म-विदों के पास उक्त जिज्ञासा प्रेषित कर दी गई। सभी स्थानों से प्रबल समर्थन ही मिला। इस प्रकार श्रीपञ्चदेव-मन्दिर का मानसिक पक्ष सुदृढ हो गया।

झुञ्झुनूँ से, मन्दिर-निर्माण को प्रगति ओर भव्यता के समाचार ज्यो-ज्यो कलकत्ता पहुँचते गए, उद्घाटन-कार्यक्रम की रूप-रेखाएँ भी वैसा ही प्रखर-मुखर हाती गई। हिन्दू-धर्म में तो जगद्गुरु श्री १००८ श्री स्वामी शङ्कराचार्यजा का पद ही सर्वोच्च माना गया है। सोचा गया कि इन्हीं के कर-कमलोसे मन्दिरका शुभोद्घाटन-समारोह सम्पन्न हो—जैसे यह विचार भी बाबा श्रीगङ्गारामजी ने हो सुझाया हो। जगद्गुरुजी (पुरी) से प्रार्थना की गई, जिसे उन्होने कृपापूर्वक स्वीकार कर हमारे आयोजन को चरम पुण्याभिमण्डित कर दिया।

इसी प्रकार, जहाँ-जहाँ हमने निवेदन भेजे, देशभर के समस्त गण्यमान्य महानुभावो ने हमें पूरा-पूरा अनुमोदन दिया। झुञ्झुनूँ नगर के तो सभी महात्मागण हम पर विशेष कृपालु रहे। यहाँ के व्यापारी-बन्धुओ सहित सभी बड़े अधिकारीगण व अन्य सज्जन-वृन्द भी, प्रथम निवेदन के साथ ही बड़ी आत्मोयतापूर्वक कार्य-रत हो गए—तो इतना विराट् सार्वजनीन सहयोग-प्रेम, चिरञ्जीवि देवकीनन्दन को प्राप्त हो सका—यह, उन पर, परमपिता परमात्मा की विशेष अनुग्रह-दृष्टि का हो प्रत्यक्ष प्रमाण है।

हमने प्रयत्न किया है कि इस समारोह-हेतु प्रकाशित को गई यह 'स्मारिका' अवसरोपयुक्त हो, फिर भी, बची त्रुटियों के लिए सुधी-वृन्द उदारतापूर्वक क्षमा करने की कृपा करें। धन्यवाद!

विदुषांवशंवद :

पं० रमेशचन्द्र शास्त्री 'सप्ततीर्थ'

(सम्पादक)

ट्रस्ट की ओर से :

श्रीपञ्चदेव-मन्दिर जनता-जनार्दन को सादर भेंट

आदरणीय समवेत-वृन्द ।

इतने विशाल जन-समुदाय के सम्मुख खड़े होकर, विनम्र कर्त्तव्यपूर्ति के लिए ही 'दो शब्द' कहना आज मेरे बड़े सौभाग्य का विषय है। मुझे थोड़ा संकोच भी है—यह सोचकर कि यहाँ उपस्थित अतिसंख्य महज्जन अतिथियों का स्वागत-गौरव, मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति को मिलना, कौन-से बड़े पुण्य का फल है ? छोटा-सा एक उत्तर केवल यही है कि मैंने प्रभु श्रीगंगारामजी के आदेशों का, पूरी सच्चाई के साथ दृढ़तापूर्वक पालन किया है ! बाबा ने अपने आदेशो का निमित्त मुझे बनाया—यह उनकी अनुकम्पा है ।

बाबा के सांसारिक लीला-विग्रह का तिरोभाव हुए तो लगभग ४० वर्ष हो गए हैं और उसके कितने पश्चात् बाबा देव-कोटि में प्रविष्ट हुए—कैसे कहा जा सकता है ? किन्तु, आज से लगभग आठ वर्षों पूर्व स्वप्न में उनकी आज्ञाएँ प्रकट होने लगी थीं। मैंने प्रारम्भ में स्वप्नों को मान लेने में संकोच किया, पर यह सकोच-दशा अधिक दिनों तक नहीं रह सकी क्योंकि "उनका मन्दिर बनवाना है"—यह आज्ञा उन्होंने हस्तामलकवत् स्पष्ट कर दी थी ।

प्रासंगिक चमत्कारों की घटनाएँ तो अनेक हैं, किन्तु सार केवल यही है कि बाबा न केवल आज्ञा ही देते थे, अपितु मार्ग-दर्शन भी प्रतिक्षण ही करते रहते थे। प्रसन्नता का विषय है कि आज आपके सम्मुख उपस्थित यह "श्रीपञ्चदेव-मन्दिर" उन्हीं की इच्छाओं की साकार क्रियान्विति है और मेरे जीवन की महान उपलब्धि भी। मेरा कर-बद्ध निवेदन है कि झुञ्झुनूं-नगर तथा पड़ौसी-निवासी इस पञ्चदेव मन्दिर को अपना ही पूजा-स्थल मानें और श्रद्धा-भरे भाव-सुमन सहर्ष समर्पित करें। मेरा और सभी भक्तों का अनुभव है कि व्यक्ति के निराशतम क्षणो मे भी, बाबा सदैव शांति प्रदान करेंगे।

ट्रस्ट की योजना है कि धार्मिक कार्यों के साथ ही, बाबा का यह मन्दिर विभिन्न प्रकार के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक समायोजनो का केन्द्र भी बने तदर्थ सुझाव आमन्त्रित हैं।

अन्तमें, मैं, आगन्तुक महानुभावों सहित सभी सज्जनोंका बड़ा कृतज्ञ हूँ जिन्होंने यहाँ पधारकर इस समारोहको औरभी पुण्यमय बना दिया है। धन्यवाद !

भागवज्जनों का चरण-रजाकांक्षी :

गङ्गा-दशहरा २०३२ — देवकीनन्दन मोदी (ट्रस्टी)

जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी
(गोवर्द्धन-मठ)
१००८ स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवजी महाराज
जगन्नाथपुरी

२० मई १९७५

प्राचीन ऐतिहासिक झुंझुनू नगरी में पञ्चदेव-मन्दिर की स्थापना एक उत्तम आस्तिक भावना को अनुप्राणित करती है। इस पुनीत कार्य के लिये मोदी-परिवार को मेरी ओर से आशीर्वाद।

—श्रीनिरञ्जन

विश्व के अन्यतम भाषाविद्
महामनीषी आचार्य
श्री १०८ करुणामयजी सरस्वती का शुभ-संदेश

२४ मई १९७५

पवित्र झुन्झुनूँ नगर में श्री गङ्गारामजी चैरिटेबिल ट्रस्ट, कलकत्ता द्वारा निर्मित 'श्रीपञ्चदेव-मन्दिर' एवं विशेषतः दिव्य पुरुष श्रीगङ्गारामजी का मन्दिर शास्त्रीय मर्यादाओं के अनुरूप एवं विशुद्ध प्राचीन आस्तिक परम्परा का पोषक है। इस पुनीत शास्त्र-विहित लोकोपकारक कार्य के लिए इसके निर्माताओं को मेरा शुभाशीर्वाद।

स्वास्थ्य अनुकूल न होने से मेरी उप-स्थिति सम्भव न हो सकेगी। आयोजन के लिए मेरी शुभ कामनाएँ।

—श्रीकरुणामय भट्टाचार्य
कलकत्ता

राष्ट्रपति सचिवालय,
राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली-110004

PRESIDENT'S SECRETARIAT,
Rashtrapati Bhavan,
New Delhi-110004.

पत्रावली सं० 8-एम/75 मई 16, 1975

प्रिय महोदय,

राष्ट्रपति जी के नाम दिनांक 13 मई 1975 का आपका पत्र प्राप्त हुआ। यह जानकर प्रसन्नता हुई कि ट्रस्ट की ओर से श्रीपंचदेव-मन्दिर का उद्‌घाटन समारोह मनाने का आयोजन किया गया है। समारोह की सफलता के लिये राष्ट्रपति जी अपनी शुभकामनायें भेजते हैं।

भवदीय,
(खेमराज गुप्तः)
राष्ट्रपति का अपर निजी सचिव।

श्री देवकीनन्दन मोदी,
ट्रस्टी,
श्री गंगारामजी चेरिटेबिल ट्रस्ट,
10 फीयर्स लेन,
कलकत्ता—700012

जयपुर
राजस्थान

Officer on Special Duty
Chief Minister's Secretariat

मई 20/21, 1975

प्रिय श्री मोदीजी,

आपका पत्र संख्या 503/74-75 दिनांक 13.5.75 जो कि माननीय मुख्य-मंत्रीजी को सम्बोधित किया गया था प्राप्त हुआ। बहुत धन्यवाद।

श्री पंचदेव मन्दिर के 18 जून, 1975 के उद्घाटन पर्व पर माननीय मुख्य-मंत्रीजी अपनी शुभकामनाएँ अर्पित करते हैं एवं उक्त अवसर पर प्रकाशित की जाने वाली स्मारिका की सफलता की कामना करते हैं।

आपका हितैषी,
(मञ्जुनाथ ईश्वर)

नं० 1924 टी सी ए एम (एच)/1975

१९, अकबर रोड
नई दिल्ली
19, AKBAR ROAD
NEW DELHI

19 मई, 1975

प्रिय देवकीनन्दन जी,

नमस्कार ।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री गंगाराम चेरिटेबिल ट्रस्ट की ओर से झुनझुनू में श्रीपचदेव मन्दिर का निर्माण हो रहा है और इसका उद्घाटन 18 जून, 75 को होगा । यह भी प्रसन्नता की बात है कि आप इस अवसर पर एक स्मारिका प्रकाशित कर रहे हैं।

पूर्व निश्चित कार्यक्रम के कारण 18 जून को मेरा झुनझुनू आना संभव न हो सकेगा । मंदिर के निर्माण के लिये मेरी बधाई स्वीकार कीजिये और स्मारिका के लिये मेरी हार्दिक शुभकामनायें ।

आपका
(राज बहादुर)

श्री बाबा गंगारामजी

नं० 1924 टी सी ए एम (एच)/1975

१६, अकबर रोड
नई दिल्ली
19, AKBAR ROAD
NEW DELHI

19 मई, 1975

प्रिय देवकीनन्दन जी,

नमस्कार ।

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री गंगाराम चैरिटेबिल ट्रस्ट की ओर से झुनझुनू में श्रीपंचदेव मन्दिर का निर्माण हो रहा है और इसका उद्घाटन 18 जून, 75 को होगा । यह भी प्रसन्नता की बात है कि आप इस अवसर पर एक स्मारिका प्रकाशित कर रहे हैं ।

पूर्व निश्चित कार्यक्रम के कारण 18 जून को मेरा झुनझुनू आना संभव न हो सकेगा । मंदिर के निर्माण के लिये मेरी बधाई स्वीकार कीजिये और स्मारिका के लिये मेरी हार्दिक शुभकामनायें ।

आपका
(राज बहादुर)

श्री बाबा गंगारामजी

॥ श्रीगङ्गारामदेवायनमः ॥
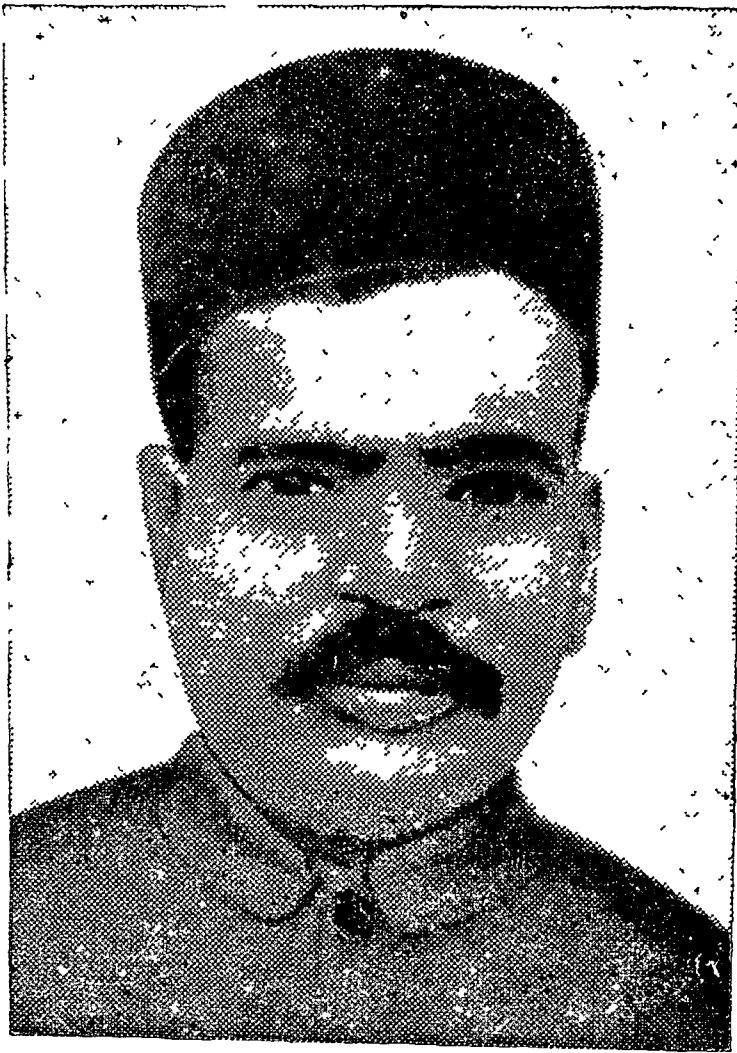
प्रवेशाङ्क | उद्घाटनोत्सव-स्मारिका | प्रथम वर्ष

झुञ्झुनूँ : १८ जून १९७५ : गंगा-दशहरा

विषय-सूची

लेख

कविता

सूक्तियाँ

मुख-पृष्ठ : बाबा गङ्गाराम-धाम (झुञ्झुनूँ) की नयनाभिराम झाँकी। गृहिणी दिवस प्रारम्भ करने से पूर्व पूजा-थाल लेकर मन्दिर-तोरण पर पहुँची। सुविस्तृत हरीतिमा। विपुल पुष्प-सम्भार। शतधा जलोच्छलन। असीम श्रद्धा-विभोर तृप्त हो गया है मन-प्राण। प्रगाढ भक्ति आपूरित हो गई है रोम-रोम में आकण्ठ। श्वेत स्फटिक विनिर्मित विशाल मन्दिर-भवन ने अपने गगनोन्नत शिखरवृन्द द्वारा निराकार ब्रह्म को ममतापूर्वक रूपायित ही कर दिया है—जिसने इसे बनाया और जो यहाँ भक्ति-लाभ करेंगे—दोनों ही भूरिशः धन्य हैं।

अन्य चित्र : (१) बाबा गंगारामजी का विश्व-लीला-विग्रह (२) बाबा के श्रृंगार की एक परम रम्य झाँकी (३) कल्याणजी का मन्दिर (४) चिल्ला हज़रत तारकीनजी (५) जैन-मन्दिर (६) जीतमलजी का तालाव (७) गोगाणा-तालाब (८) बीड़ का तालाब (९) बिसाऊ-महल (१०) बिहारी जी का मन्दिर (११) गिरधारी लालजी तुलस्यान की वावड़ी (१२) बड़ी मस्जिद (१३) नवाब भुवनखां का मक़वरा (१४) नवाव भीकन खाँ की दरग़ाह (१५) वदरूकी जोड़ी (१६) सूर्य-मन्दिर (१७) नवग्रह-मन्दिर (१८) सत्यनारायण भगवान् का मन्दिर (१९) मनसादेवी का मन्दिर (२०) चौबुर्जा व कानू पीर (२१) भव्य झुञ्झुनूँ (२२) मोहन-वाग।

आवरण व चित्र-मुद्रण : यूको प्रेस, १ राजा गुरुदास स्ट्रीट : कलकत्ता-६। रूप-सज्जा : अनिल मोदी

(१)

के० २०/१४० राजमन्दिर
वाराणसी-१

डॉ० वामदेव मिश्र

एम० ए०, आनर्स, पी-एच० डी०, वेदाचार्य

एष ह्वै प्रतिष्ठा-नाम यज्ञः
तेन सर्व्वं प्रतिष्ठितम्भवति ।

यह जान कर वड़ी प्रसन्नता हुई कि श्री वावा गंगारामजी के झुँझुनूं-मन्दिर का निर्माण हो रहा है । पूर्व पुरुषों के प्रतिमा-स्थापन की परम्परा इधर समय की एक लम्वी अवधि से 'अस्ति-नास्ति' के अन्तराल में पहुंच गई थी ।

श्री देवकीनन्दन मोदी प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए अपने दिव्यगति-प्राप्त पिता के मन्दिर का निर्माण करा रहे हैं । यह कार्य प्राचीन शास्त्र-सम्मत-परम्परा का अभिनवीकरण है ।

वामदेव मिश्र

दिनांक ४-४-७५

(२)

श्रीवावा गंगारामजी के झुँझुनू-मन्दिर का निर्माण हो रहा है, यह जानकर प्रसन्नता है । प्राचीन साहित्य में प्राप्त उल्लेखों से प्रतीत होता है कि ऐसे भी मन्दिर वनते थे, जिनमें कुटुम्व के महापुरुषों की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती थीं ।

श्रीदेवकीनन्दन मोदी प्राचीन परम्परा का अनुगमन करते हुए अपने दिव्यगति-प्राप्त पिता के मन्दिर का निर्माण करा रहे हैं । यह कार्य शास्त्र-प्रमाणित भी है और लोक-सम्मत भी ।

अमरनाथ पाण्डे

अध्यक्ष : संस्कृत-विभाग
काशी-विद्यापीठ : काशी

(३)

स्टेशन रोड : रहड़ा
२४-परगना—(पं० वंगाल)

डॉ० भगवानदास पुरोहित

आदरणीय मोदीजी :

यह एक ऐतिहासिक उपलब्धि है कि अनंतकाल से मनुष्य सुख के प्रसार मे लगा है । स्वनामधन्य स्वर्गीय श्री गगारामजी का जो मन्दिर उनके नाम से वन रहा है वह भी उसी के प्रसार का पुण्य प्रमाण है ।

अभिलाषा है कि यह मन्दिर निरन्तर मानवता की शान्ति-सामग्रियाँ संचय करता रहे ताकि मानव मन को आराम मिले । आपकी चेतना और अनुभूति में जो मंगल भावनाएँ हैं उनका विकास मन्दिर की प्रतिष्ठा मे सार्थक हो यही प्रार्थना है ।

विनीत :
भगवानदास पुरोहित

मई २०, १९७५

प्रार्थना

—कन्हैयालाल सेठिया

भव को अपना अनुभव दो हे !

(१)

भटक गया है पथिक ज्ञान का
आज गहन सशय के वन मे,
छूट गया श्रद्धा का सम्बल
तिमिर भर गया चंचल मन मे,
उर के कलुषित कर्कश रव को
अपना निर्मल नीरव दो हे !

(२)

अर्थ रह गगा मात्र शब्द में
चिन्तन का विश्वास खो गया,
अम्बर तक दृग पहुँचे लेकिन
वसुधा का आभास खो गया,
परम पुरातन पर अधुनातन्
युगको अपना अभिनव दो हे !

(३)

सहज दृष्टि दो, हो जाये फिर
जड़ता का चेतन से अन्वय,
अहम् धुके मानस की ऋजुता
अनुकम्पा में हो जाये लय,
शव से विजड़ित जन-जीवन को
अपना जागृत संभव दो हे !

बाबा के अलौकिक शक्ति-सामर्थ्य का क्रमिक विकास

बाबा का एक अनन्य भक्त

वर्त्तमान जीवनमें साधारण जन, दैनिक कार्य-कलापों में सीमातीत व्यस्त रहने के कारण, धार्मिक क्षणों की अनुभूतियों के महत्त्व को गौण मान बैठा है यह अज्ञानावस्था है।

बालक ने मिट्टी खाई अज्ञान के कारण, और ममतामयी माँ ने प्रताड़ना दी—उसके मिट्टी न खा सकने की व्यवस्था की और बालक का भविष्य विकास की ओर बढ़ गया। अर्थात् अबोध शिशु के लिए मातृरूपिणी आकृति ही रूपभेद से इश्वरा-वतार है। गीता का रूपक भी यही स्पष्ट करता है कि करणीय-कर्म (धर्म) की ग्लानि होने की अवस्था को दूर करने के लिए ही प्रभु के अवतार का मूल आयोजन है—

"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत..."

प्रभु के अवतार-ग्रहण की यह प्रक्रिया स्थान, काल व प्रयोजन के अनुसार सम्पन्न होती है। बाबा के भक्तों का श्रद्धा-विनम्र विश्वास है कि 'बाबा गंगारामजी का मानुष-स्वरूप भी परम विभु की उसी अवतार-ग्रहण परम्परा का क्रमिक दैविक अंश था। अपने मनुष्यरूप तथा लौकिक शुचि कर्मों की शुभ परिसमाप्ति के पश्चात् बाबा अब परम श्रेष्ठ देव-योनि में हैं।" भक्तों के मुख से, कार्यों के अनिवार्यत: घटित होने से तथा भविष्य के शुभाशुभ परिणामोंवाली पारिवारिक गृहदशाओं की प्रकृत-स्थितियों द्वारा उनकी दिव्य शक्ति के प्रमाण यथासमय मिलते रहते हैं।

किन्तु मानवलोक कर्मभूमि है तथा देवलोक में स्थित होने वाली जीवात्मा की सांसारिक लीलाएँ भी सात्विक भावेन् दीप्तिमती होनी चाहिए ऐसा

शास्त्र-वचन है। बाबा की परम-पवित्र जीवन-कथा संक्षिप्त रूप से नीचे दी जा रही है :—

"राजस्थान के शेखावाटी भू-खण्ड में झुंझनू नगर अति प्राचीन है; इसलिए वह परमसिद्धों, योगसाधक महर्षियों तथा धर्मभीरु सद्-गृहस्थों से सदा ही भरा-पूरा रहा है। चूंकि मोदी-परिवार न केवल झुंझनू नगर किन्तु झुंझनू के प्रशासकों की समस्त बावनी (शेखावाटीके प्रमुख ५२ नगर) के पाँचो राजकुलों (पाँचो पानों) का रसद-विभाग संभालता रहा है अतः स्पष्ट है कि वह झुंझनू की सामाजिक व्यवस्था में भी विनम्रभावेन् सेवारत और विशिष्टतया गण्यमान्य परिवार था। परिणामतः तत्कालीन भक्तिसाधकों की कृपालु सन्निधि के शुभावसर नियमित रूपेण मोदीकुल को प्राप्त होते रहे।

उन्हीं शुभ वरदानों का परिणाम है कि परम भागवत श्री झूँथारामजी व सतीसाध्वी नारी-रत्न श्रीमती लक्ष्मीदेवी के दिव्य संयोगात्मज बाबा गंगारामजी अवतरित हुए। यह गोयल-गोत्रीय मोदी-कुल का ज्ञात्यौज्ज्वल्य ही था कि प्रभुअंशने यहीं अवतरित होना चुना।

यह मानव-तेज शैशव व बाल्यावस्था की क्रमशः किन-किन सात्विक क्रीड़ाओं का उपभोग करता हुआ सुस्थिर कैशोर्य को प्राप्त हुआ, उन समस्त विस्तारपूर्ण घटनाओं का सांगोपांग विवरण देना तो आकार-विस्तार के कारण यहाँ समीचीन नहीं। किन्तु जब से उन्होंने अपने अर्द्धांग के रूप में परम विदुषी महिला भक्तिमती श्रीमती पार्वती देवी को वरण किया तभी से इनके जीवन-कार्यक्रम की भावी रूपरेखाओं में विशिष्ट तेजस्विता उजागर होती हुई दृष्टिगोचर होती है।

बाबा की दिनचर्या ब्राह्म-मुहुर्त्त से ही धार्मिक भावेन प्रारम्भ होती थी। नियमित संध्योपासना व तर्पण-कर्म तो सम्पन्न होता ही था साथ ही दैनिक पठन व जप करने का भी उनका कार्य सदा ही दृढ़तापूर्वक पालन किया जाता था। यह सारा विधान चार-पाँच घण्टों की नियमितता में उन्हें सदैव ही प्रिय रहा और इससे उनके धर्म-कार्यों के संपादन में निरालस-भाव की भी पुष्टता बनी रहती थी। उनकी नियमित पठन-पुस्तकों में शिव-महीम्न स्तोत्र, गंगा-लहरी, वाल्मीकीय सुन्दरकाण्ड व विष्णु सहस्र नाम प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त अन्यान्य धर्म-ग्रन्थों का भी निरन्तर अनुशीलन उन्हें सतत् क्रियामग्न रखता था।

देखने में यही आता है कि ईश्वरांशों ने मृत्यु लोक में कम ही निवास किया है और अपने उद्देश्य की पूर्त्ति के पश्चात् उनका महाप्रयाण भी शीघ्र ह हो जाता है। अपने आस-पास भगवद्भक्ति एवं सात्विक जीवनक्रम का दिव्य वातावरण प्रसारण कर बाबा ने भी पौष शुक्ल चतुर्थी १९९३ यानी ४१ वर्ष की अल्पायु में ही अपनी इहलीला संवरण कर ली। तो तर्क-सिद्धि यह रही की अवतार-काल से लेकर इह-लीला संवरणकाल पर्यन्त का समस्त जीवन-विस्तार, बाबा के विशुद्ध सात्विक स्वरूप के क्रमशः उदात्तीकरण का साधना-रत मार्ग है जिसे हम उनके पितृलोक-गमन तथा देवलोक-निवास की पूर्व-पीठिका भी कह सकते हैं।

शास्त्रोल्लेख ही है कि संसार-त्याग के पश्चात् जीवात्मा पितृ-लोक, देव-लोक आदि अवान्तर

लोकों का शक्ति-पूर्वक भेदन करते हुए सत्कर्मों के अनिवार्य भोगस्वरूप क्रमशः ऊर्ध्वरूपेण गतिमान रहता है और जहाँ समस्त भोगाभोगों का नितान्त परिचय काल समुपस्थित हुआ कि वही क्षण भगवत्तादात्म्य-काल, ब्रह्म-सम्मिलन-स्थल अथवा मुक्ति की दिव्य संज्ञा से अभिहित किया गया। किन्तु यह भी विधि सम्मत अनुवाक् है कि लोकोत्तर गतियों के लम्बे मार्ग को अधिकाधिक तेजोमय बनाने के लिए दिव्य जीवात्मा अपने सांसारिक भक्तों अथवा कौटुम्बिक परिजनों से अपेक्षा करता है, नहीं तो आदेश देता है, कि वे तत्तत् क्रिया-विधि सम्पन्न करें। महाराज पाण्डु ने भी पितृलोक से ही धर्मराज युधिष्ठिर को आज्ञा दी थी कि तुम राजसूय यज्ञ का सम्पादन करो ताकि अवान्तर लोकों का मेरा गमन निर्बाध प्रखरतर बनता चला जाय।

महाभारत, सभापर्व, अध्याय १२, श्लोक २६ :–
त्वयीष्टवति पुत्रे हं हरिश्चन्द्र वदाशु वै,
मोदिष्ये बहुला शश्वत् समाः शक्रस्य संसदि।

बाबा गंगारामजी के पितृलोक-गमन के तुरन्त बाद से ही समय-समय पर इसी तरह के आदेश होते रहे।

ज्यों-ज्यों बाबा के आदेशों का पालन होता गया वैसे-वैसे उनके उच्चतम लोकों में गति-प्रवेश के प्रमाण भी मोती के समान स्पष्ट दिखाई देने लगे।

उनके मन्दिर-निर्माण संबंधी आदेश कई बार होते रहे किन्तु अस्पष्टता के कारण भ्रांति रही और अन्य तीर्थस्थानों पर विभिन्न देवमूर्तियाँ स्थापित करवा दी गई। जैसे काशीधाम में शिव-परिवार, वृन्दावन-धाम में श्री वैकुण्ठनाथ व बदरीकाश्रम में दुर्गाजी की प्रतिमाएँ दी गई।

तत्पश्चात् जब बाबा का मन्दिर-निर्माण संबंधी आदेश फिर हुआ और अधिक स्पष्टता रही कि मन्दिर उनका ही बनवाना है तब झुंझनू में श्री खेमीसतीजी में बाबा का प्रथम मन्दिर आषाढ़ शुक्ला द्वितीया सम्वत् २०२१ (रथ-यात्रा) को निर्मित हुआ और पुजारी की नियुक्ति अलग से कर दी गई। आगामी आदेश पर वहाँ अखण्ड दीपक प्रारम्भ हुआ।

इस प्रकार अपने ही आदेशों द्वारा बाबा ने देवयोनि में होने के अनेक प्रमाण दे दिए थे। किन्तु एक बार अचानक ही उनका आदेश हुआ कि "मेरा मन्दिर हटाने के लिए तुड़वाया जा रहा है अतः दूसरा नया उपयुक्त स्थान बनाओ।"

बाबा की आज्ञानुसार ही अब उनका यह विशाल मन्दिर निर्मित किया गया है। नए और भव्य मन्दिर के निर्माण की सूचना से विभिन्न प्रान्तों में बसे हुए भक्तगण परम हर्षित हुए हैं जो स्वाभाविक ही है क्योंकि जब प्रखरतम तेजस्वी दिव्य पुरुष परिवार, ग्राम और जाति विशेष की समस्त सीमाएँ उल्लंघित कर मानवों की तो बात ही क्या, किन्तु समस्त जड़-चेतन पर अपना वरद-हस्त प्रसारित करना चाहता है तो सांसारिक शब्दों की परिभाषा में उसे 'देवता' की संज्ञा प्रदत्त हो जाती है, देवस्वरूप की प्रतिमा भी बड़े और भव्य परिवेश में स्थापित कर ली जाती है।

———

पुनर्जन्म की दृष्टि में मानवका कर्त्तव्य

(लेखक—अनन्त श्रीविभूषित श्रीकांचीकामकोटि पीठाधिपति जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य स्वामीजी श्री चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वतीजी महाराज)

संसार में सब जीव-जन्तु 'प्राणी' कहलाते हैं। जिनमें प्राण हैं, वे प्राणी हैं। सभी प्राणी सदा कुछ न कुछ काम करते ही रहते हैं। चींटी सदा इधर-उधर फिरती रहती है। कीड़े-मकोड़े भी कुछ-न-कुछ कार्य करते रहते हैं। पक्षी उड़ते या खाते-पीते रहते हैं। बुद्धिजीवी मानव अपने कार्यालय में जाता है, वहाँ कुछ काम करना है। श्रमजीवी किसान खेती-बाड़ी का काम करता है। मजदूर मजदूरी करता है। इस प्रकार मनुष्यमात्र विविध कामों में लगे रहते हैं। दुनिया में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो बिना कुछ किए सर्वदा चुपचाप बैठा रहे। इसी बात को स्पष्ट करते हुए भगवान ने गीता में कहा है :—

[न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्]

अर्थात् कोई भी क्षण भरके लिए बिना कुछ कर्म किए नहीं रहता। इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव सदा कर्मरत रहता है। छोटे शहरों में रहने वालों के काम कम रहते है; बड़े शहरों में, रहने-वालों को अनगिनत काम रहते हैं। अब सोचना यह है कि 'मानव को किसलिए सदा काम करते रहना पड़ता है?'

मानव को इसलिए सदा कर्मरत रहना पड़ता है कि वह जीवन में अनिष्ट दूर करना और सुखी रहना चाहता है और यह सुनिश्चित है कि मनुष्य तभी सुखी रह सकता है, जब वह किसी न किसी उपयोगी काम में लगा रहे। बेकाम रहना उसके लिए बड़ा दुःखदायक है। मनुष्य को काम करते रहने के लिए अंदर से सदा प्रेरणा मिलती रहती है। जैसे प्रत्येक जीव के अंदर 'भूख' नामक एक चीज है। वह भूख अपनी शान्ति के लिए प्रत्येक मनुष्य को काम करने की सदा प्रेरणा देती रहती है। यदि वह कोई काम नहीं करता है तो उसका पेट भूख की ज्वाला से जलने लगता है। अतः इस 'भूख' नामक रोग के शमन के लिए दवा की खोज में मनुष्य को काम करना ही पड़ता है। शिरोवेदना के लिए यदि हम कोई दवा लगा देते हैं, तो वह वेदना तुरंत मिट जाती है। कभी बहुत दिनों के बाद फिर शायद आती है। पर यह भूख ऐसा रोग नहीं है। दूसरे रोगों में और इस रोग में बड़ा अन्तर है। इस रोग के लिए तो प्रतिदिन, जब यह रोग दिखायी दे, तभी दवा लेनी पड़ती है। जब तक इसकी दवा न हो जाय, तबतक दूसरा काम होना कठिन होता है। इसके लिए सभी को प्रयत्न करना पड़ता है। बाघ या सिंह हिरन या बैल को मारता है तो वह

इसी रोगको दूर करने के लिए। मनुष्य भाँति-भाँति के वेष बनाकर, नाना प्रकार से सब तरह की बुद्धि लगाकर पैसे कमाता है, तो इसी के लिए भूखे-भटकते मानव को यदि ढूँढ़नेपर कहीं दो मुट्ठी चावल मिल जाते हैं तो वह तुरंत उन्हें सिजाकर खा लेता है और बड़ा तृप्त होता है। यह काम भी उसका इसीलिए होता है। मनुष्यको जीवित रहने के लिए काम करना ही चाहिए। वह एक क्षण भी निकम्मा नहीं रह सकता।

फिर यह बात भी है कि मनुष्य यदि कुछ भी काम न करे तो उसका शरीर बेकार बन जाता है। अतः दरिद्र-धनी सब काम करते हैं। बल्कि धनी को तो वस्तुतः मन-तन से अधिक काम करना पड़ता है; क्योंकि उसको यह चिन्ता लगी रहती है कि उसके पैसे सुरक्षित रहने चाहिए। इस चिन्ता से उसका मन सदा काम करता रहता हैं। यह सत्य है कि एक उछृङ्खल ब्राह्मण की अपेक्षा लाखों-करोड़ों वाला धनी बहुत अधिक काम करता है।

मनुष्य के द्वारा किए जानेवाले काम विभिन्न हेतुओं से विभिन्न प्रकार के होते हैं। मनुष्य कुछ काम अपने शरीर के लिए और अपने सम्बन्धियों के लिए करता है। उसको अपने बाल-बच्चे, स्त्री, माता-पिता आदि सम्बन्धियों का संरक्षण तथा भरण-पोषण करना पड़ता है। अतः उनकी देख-भाल के लिए उसे काम करना पड़ता है।

तदनन्तर अपने बैल, गाय, कुत्ते, बिल्ली, घर के नौकर-चाकर, अपने खेतों में काम करनेवाले मजदूर आदि की भी देखभाल करने के लिए कुछ भी काम करना पड़ता है। फिर मनुष्य के लिए ग्राम-समाज के सम्बन्ध में भी काम करते हैं। जैसे घर-वाले का कर्त्तव्य अपने घर को साफ-सुथरा तथा सुन्दर रखना है, वैसे ही गाँववालों का कर्त्तव्य है कि वे अपने गाँव को साफ, स्वच्छ तथा सुन्दर रखें। जिस प्रकार मनुष्य के लिए अपने कुटुम्ब का काम करना आवश्यक है, उसी प्रकार गाँव का काम करना भी प्रयोजनीय है। इसके पश्चात्, देश के तथा राष्ट्र के काम आते हैं। जिम्मेवार मनुष्य उन कामों का सम्पादन भी करता ही है।

इस प्रकार विभाजन कामों में छोटे बड़े सभी काम दन्तधावन करना, कपड़े साफ करना, स्नान करना, भोजन करना आदि काम अपने निजके प्रयोजन के लिए किए जाते हैं। घर बनाना, उसको साफ रखना, घर में आवश्यक चीजों का संग्रह तथा रक्षण करना इत्यादि परिवार-सम्बन्धी काम हैं। नाले बनाने, कूएँ-तालाबों का निर्माण तथा उनकी मरम्मत कराना, गाँव में दवाखाना खोलकर रोगों को दूर करने के लिए प्रबन्ध करना और शिक्षालयों की स्थापना करना आदि ग्राम-समाज के काम है। देशभर की भलाई के लिए अन्यान्य बहुत से काम किए जाते हैं, जिनसे आजकल के लोग भलीभाँति परिचित हैं।

जो सशक्त हैं, वे अशक्त की रक्षा करते हैं। मनुष्य अपने बच्चों को उनकी छोटी अवस्था में पाल-पोसकर बड़ा करता तथा योग्य बनाता है और बाद में अपनी वृद्धावस्था में वह उसके द्वारा पाल-पोसा जाता है। यह सब काम बराबर चलते आ रहे है। यह स्वभाव केवल मनुष्य-समाज में ही नहीं, परंतु पशु-पक्षियों में भी न्यूनाधिक रूप में देखा जाता है।

सारी दुनिया में काम चलते रहते हैं। मनुष्य इन विभिन्न कामों में यथायोग्य भाग लेता है। बहुत से लोग प्रधानता से समाज-कल्याण के लिए विविध कार्य करते जाते हैं।

मानव के लिए साधारणतः तीन ही चीजें अत्यन्त आवश्यक हैं—(१) भूख मिटाने के लिए आहार, (२) धूप-सर्दी आदि से अपने को बचाने के लिए तथा मान-संरक्षण के लिए वस्त्र और (३) विश्राम तथा निवास करने के लिए घर। इनके अतिरिक्त जो चीजें वह एकत्र करता है, वे उसके बाल-बच्चों के पालन-पोषण और उनके विवाह आदि तथा अन्यान्य सामाजिक, व्यक्तिगत आवश्यकता की पूर्ति या संग्रहवृत्ति की चरितार्थता के लिए करता है।

पहले भूख को रोग के रूप में और भोजन को उसकी दवा के रूप में बताया गया है। इसमें एक विशेषता है—

क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यतां
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात् प्राप्तेन संतुष्यताम्
शीतोष्णादि विषह्यतां न तु वृथावाक्यं समुच्चार्यता-
मौदासीन्यमभीप्स्यतां जनकृपानैष्ठुर्यमुत्सृज्यताम् ॥

(भगवत्पाद श्री शंकराचार्य-साधनपंचकम्—४)

इस श्लोक में भगवान् श्री शंकराचार्यजी, 'क्षुधा नामक व्याधि को अन्नरूपी औषध से दूर करो' यह आदेश देते हैं। रोगी उतनी ही औषध खाता है, जितनी उसे अपना रोग दूर करने के लिए पर्याप्त हो। अपनी रुचि के अनुसार दवाओं को मनमाने तौर पर लाकर नहीं खाता। वहाँ भी, जो दवा सस्ते में मिलती है, उसी को खरीदकर खाता है। इस श्लोक का तात्पर्य है कि शरीर-धारण करने के लिए साधारण भोजन ही पर्याप्त है।

इन आवश्यक चीजों को उपलब्ध करने के लिए जो काम किए जाते हैं, उनके अतिरिक्त मानव को दूसरे काम भी रहते हैं। कभी-कभी मानव, मन्दिर मस्जिद या गिरजाघर बनाता है; भस्मरुद्राक्ष आदि धारण कर पूजा-पाठ करता है; संध्या-उपासना आदि कर्म करता है; भजन करता है। इस पर यह प्रश्न होता है कि 'इन कामों से क्या उसकी भूख मिटेगी? क्या उसे वस्त्र मिल जायगा और क्या रहने के लिए घर प्राप्त हो जायगा? मोटी दृष्टि से देखने पर तिलक धारण करना, मन्दिर बनाना, पितृ-श्राद्ध करना, पूजा-पाठ करना, अन्नदान करना आदि कर्म उपर्युक्त अत्यन्त आवश्यक चीजों को उपलब्ध करने के लिए नहीं किए जाने के कारण अनावश्यक मालूम होते हैं। परंतु मानव अनादि काल से ऐसे काम भी करता आ रहा है। अतः हमें विचार करना चाहिए कि इनसे क्या लाभ होते हैं? मानव इनको क्यों करता है?

मनुष्य का स्वभाव है कि वह एक दिन के लिए भोजन मिल जाने पर उससे तृप्त नहीं होता। भविष्य के लिए भी आज ही कुछ चीजें इस विचार से संग्रह करके अपने पास रखना चाहता है और रखता है कि भविष्य में यदि तकलीफ आयी तो उस समय उसका सामना करने के लिए भी हमें तैयार रहना चाहिए। कुछ चीजें ऐसी हैं, जो पके अन्न की तरह थोड़े समय के लिए ही उपयोगी रह सकती हैं। कुछ और चीजें हैं, जो और अधिक समय तक काम में आती हैं। जैसे गेहूं, चावल आदि कच्चा अनाज। परंतु धन आदि ऐसी चीजें हैं, जो तरह-तरह के उपयोग के लिए काम में आती हैं और अधिक दिनों तक सुविधा से रक्खी जा

उद्घाटनोत्सव : १८ जून १९७५

सकती हैं। बुद्धिमान मनुष्य दीर्घकाल तक रख सकने योग्य चीजों को ही संग्रह के लिए चुनता है, न कि मूर्खों की तरह थोड़े दिन रहने वाली चीजों को। आत्मा अमर है। शरीरका ही जन्ममरण हैं। इसलिए इस नित्य आत्मा को सुखी रखने के लिए जो काम करना आवश्यक तथा उचित है, उसी में लगा रहना ही मनुष्य की बुद्धिमानी का परिचायक है।

मान लीजिए, हम कि-ी पहाड़ी की इस ओर रहते हैं हमारे पास हजार रुपए हैं। यह पूरा धन सिक्के के रूप में है। वहाँ चोर आते हैं। ऐसा भय लगा रहता है कि उनके और हमारे बीच में झगड़ा होगा। परन्तु यदि हम पहाड़ी के ऊपर चढ़कर उस प्रार चले जाँयँ तो यह भय नहीं रहेगा। उसी समय भाग्यवश कोई मनुष्य आकर पूछता कि "क्या उन सिक्कों के बदले में एक हजार रुपए के नोट लेंगे ?" तो हम क्या करेंगे ? पैसों की गठरी उसे झट देकर नोट ले लेंगे और दौड़कर पहाड़ी के उस पार जाकर सुखी रहेंगे। परन्तु यहाँ एक शर्त्त है। वह यह है कि जो नोट मिले हैं, वे पहाड़ी के उस पार भी चलनेवाले होने चाहिए। प्रत्येक जीव की भी यही स्थिति है। अपनी शक्ति के अनुसार भविष्य के लिए जितना भी वह उपयोगी काम कर सकता है अच्छा है और वह उसी को करना चाहता है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि 'हमें तो इस लोक में सुख से जीवित रहना है, भविष्य के बारे में क्यों सोचना है।' इस सम्बन्ध में एक कहावत है—

नास्ति चेन्नास्ति नो हानिरस्ति चेन्नास्तिको हतः।"

आस्तिक कहता है—'अभी अच्छे-अच्छे कर्म करो; क्योंकि इस जन्म के बाद दूसरा जन्म भी रहेगा; उस समय ये कर्म काम आयेंगे।' नास्तिक बोलता है—'कौन निश्चित रूप से यह कह सकता है, इस जन्म के बाद भी हम पुनर्जन्म लेंगे। अतः क्योंऐसा करें ?' पर यह सामान्य ज्ञान की चीज है कि यदि अब हम अच्छे उपयोगी कर्मों का संग्रह रक्खेंगे तो भविष्य में वे लाभदायक होंगे। इससे यदि भावी जन्म है तो सत्कर्म संग्रह करनेवाला आस्तिक लाभ में रहेगा और यदि भावी जन्म नहीं है तो उसकी कोई हानि नहीं हुई—उसने बुराई तो कुछ की ही नहीं। पर यदि भावी जन्म न रहा तो सत्कर्म न करनेवाले नास्तिक को कष्ट होगा ही।

अतएव अच्छे कर्म करना सदा ही अच्छा है। हम कहीं यात्रा करते हैं तो उस समय हमारा मन संतुष्ट रहना चाहिए। वैसे ही इस शरीर को छोड़कर कहीं दूसरी जगह जाते समय भी हमारा मन शान्त और संतुष्ट रहना चाहिए। उसके लिए यदि हम आवश्यक काम नहीं करें तो बाद में हमें ही कष्ट होगा। इस दिशा में उपयुक्त कर्म क्या-क्या हैं—इस पर सोच-विचार करके मनुष्य उन्हें जान सकता है। जो भी काम हम आज करते हैं, उनका फल इस जन्म में नहीं मिला तो दूसरे जन्मों में अवश्य मिलना चाहिए। यह नियम आत्मा के विषय में अटल है। हमारे पूर्वजों ने न्यूटन के क्रिया-प्रतिक्रिया-नियम को शताब्दियों पूर्व आत्मिक विषय में भी प्रमाणित कर दिया था। हमारे शास्त्र इस बात की घोषणा करते हैं कि किसी भी क्रिया की प्रतिक्रिया अवश्य होती है।

क्रैस्तव (ईसाई) लोग जन्मान्तर को नहीं मानते हैं; परंतु उनकी कुछ बातों से पता चलता है कि वे

अन्तत्वान्‌ होकर भी किसी-न-किसी रूप में पुनर्जन्म को मानते हैं। वे कहते हैं कि 'शरीर-पतन के पश्चात्‌ जीवात्मा का न्याय-निर्णय भगवान्‌ के समक्ष होता है और तब वह स्वर्ग या नरक को भेजा जाता है। सुख–दुःख का अनुभव करनेवाला शरीर यद्यपि यहाँ पेटी में पड़ा रहता है; फिर भी जीव को इस शरीर के साधन से किए गए कर्मों के कारण सुख या दुःख स्वर्ग या नरक में भोगना पड़ता है' इसी को हम पुनर्जन्म कहते हैं। उस देश में (स्वर्ग या नरक में) सुख–दुःख भोगने के पहले उनके कारण जो कर्म थे, उनके लिए एक जन्म अवश्य था। इसी तर्क के अनुसार हम कह सकते हैं कि इस जन्म के सुख-दुःख के कारण इसके पहले जन्म में किए गए कर्म हैं। इससे पुनर्जन्मवाद सिद्ध होता है।

पहले कहा गया है कि हमें सदा इस अमर आत्मा को सुखी रखने के लिए अधिक-से-अधिक सत्कर्म–अच्छे काम करने चाहिए। हमारे यहाँ का नोट रूस में नहीं चलता है। लेकिन कोई एक ऐसा राजा है, जो समस्त संसार का अधीश्वर है। उसका नोट कहीं भी चल सकता है। वह चतुर्दश भुवनों का अधिप एक है और वह है—परमेश्वर। उसके सब राज्यों में चलनेवाला एक नोट है। वही सदा सभी जगह चलेगा। वह है—'धर्म'।

श्रीरामचन्द्रजी वनगमन के पहले अपनी माता-जी से आज्ञा लेने जाते हैं। अपना प्रिय पुत्र जब यात्रा में दूसरे देश को जाता है, तब माता उसे मिठाइयाँ तथा खाने की और चीजें बनाकर उसके साथ भेजती है, ताकि उसको मार्ग में कष्ट न हो। कौशल्याजी सोचती हैं कि चौदह वर्ष के लिए वन जानेवाले मेरे प्रिय पुत्र के हाथ में क्या देकर भेजूँ! गम्भीर विचार के बाद कौशल्याजी श्रीराम से कहती हैं —

यं पालयसि धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥
(वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड २५/३)

'राघव! तुम्हारी सुरक्षा के लिए मैं क्या करूँ? केवल धर्म ही निश्चय तुम्हारी रक्षा करेगा। तुम जिस धर्म का धैर्य और नियम के साथ पालन करते आ रहे हो, वही धर्म तुम्हारी रक्षा करेगा। यही मेरा एकमात्र अनुग्रह है।' यह भी नियम प्रसिद्ध है कि यदि हम धर्म की रक्षा और पालन करेंगे तो वह धर्म हमारा रक्षण तथा पालन करेगा—

'धर्मो रक्षति रक्षितः।'

श्री कौशल्याजी के कथनानुसार जो धर्म श्री रामचन्द्र का रक्षा करनेवाला था, वही धर्म परमेश्वर के अखण्ड चतुर्दश भुवनराज्य में चलनेवाला नोट है। अतः हमारे दूसरे कामों के साथ-साथ हमें ऐसे भी काम अवश्य करने चाहिए, जो 'धर्म' कहलाते हैं और जिनका उल्लेख पहले मन्दिर बनाने, भगवान्‌ की भक्ति करने, अन्नदान करने, सेवा-परोपकार करने इत्यादि 'आवश्यक' कामों के अन्तर्गत किया जा चुका है।

वास्तव में जो भी कर्म ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाता है, वह धर्म के रूप में परिणत हो जाता है और निरन्तर आनन्द देनेवाला होता है। अपने स्वार्थ के लिए न होकर, दूसरों की भलाई के लिए ईश्वरार्पण-भावना से जो काम किया जाता है, वही 'धर्म' है। मन, वाणी और शरीर—इन तीनों

कारणों के द्वारा हमें ऐसे ही काम करने चाहिए जो धर्म के रूप में परिणत हो जाँय। धर्मरूपी नोट किसी भी काल में और किसी भी देश मे हमारे लिए उपयोगी और सुखदायक रहेगा। श्री रामचन्द्रजी की विपत्तियाँ बहुत बड़ी थीं। परंतु उनकी रक्षा इसी धर्म ने की। धर्ममार्ग में रहनेवाले के सब (पशु-पक्षी भी) अनुकूल और सहायक बन जायँगे। इसके विपरीत अधर्म-मार्ग में रहनेवालेको सगा भाई भी छोड़ देगा। इस तथ्य को श्रीमद्रापायण में हम देख सकते हैं—

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यंचोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि बिमुञ्चति॥

(अनर्घराघवनाटक १/४)

धर्ममार्गमें चलनेवाले रामचन्द्र का पशु-पक्षियों ने भी साथ दिया। अधर्ममार्ग में चलनेवाले रावण को सगे भाई विभीषण ने भी छोड़ दिया।'

अपनी मातृभाषा से ही चिपटा रहूँगा !

"मेरी मातृभाषा में कितनी हो खामियां क्यों न हो, मै उससे उसी तरह चिपटा रहूँगा, जिस तरह अपनी मां की छाती से। वही मुझे जीवन प्रदान करने वाला दूध दे सकती है। मै अंग्रेजी को उसकी अपनी जगह पर प्यार करता हूँ! लेकिन अगर वह उस जगह को हड़पना चाहती है, जिसकी वह हकदार नही है, तो मैं उससे सख्त नफरत करूंगा। यह बात मानी हुई है कि अंग्रेजी आज सारी दुनियां की भाषा बन गई है। इसलिये मै उसे दूसरी भाषा के नाते जगह दूँगा, लेकिन युनिवर्सिटी के पाठ्यक्रम मे स्कूलों मे नहीं। वह कुछ चुने हुए लोगों के सीखने की चीज हो सकती है, लाखो-करोड़ों की नहीं। आज जब हमारे पास प्राथमिक शिक्षा को भी देश में अनिवार्य बनाने के साधन नहीं है, तो हम अंग्रेजी सिखाने के साधन कहा से जुटा सकते हैं? रूस ने बिना अंग्रेजी के विज्ञान मे इतनी उन्नति कर ली है। आज हम अपनी मानसिक गुलामी की वजह से ही यह मानने लग गये हैं कि अंग्रेजी के बिना हमारा काम नही चल सकता। मै काम शुरू करने से पहले ही हार मान लेने की इस निराशापूर्ण वृत्ति को कभी स्वीकार नही कर सकता।"

—*गाँधीजी*

जीवन में कर्म का महत्त्व

हम जो भी कर्म करते हैं,
उसका फल हमें प्राप्त होता है,
...फल वही दे सकता है जिसको
हमारे सभी कर्मों का ज्ञान हो।

(कुमारी अस्मिता मोदी, कलकत्ता)

मानवलोक कर्मभूमि है। कर्म के अनुसार ही मानव फल प्राप्त करता है। कर्म किए बिना मानव एक क्षण भी नहीं रह सकता। कहा गया है कि :-

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा
जो जस करिय सो तस फल चाखा

एक बालक पैदा होता है, और तुरंत मर जाता है। अब जन्म से मृत्यु तक की इस अवस्था में उसने कोई भी कार्य नहीं किया, क्योंकि वह कुछ करने में समर्थ ही नहीं था।

पर जब समर्थ था तब उसने अवश्य ही कुछ ऐसा कर्म किया था जिसका फल उसने भोगा है। अब समर्थ होने पर फिर वह कर्म करेगा। यही कर्म हमारे जीवन के सुख-दुःख का मूल कारण है।

कर्म तीन तरह के माने गए हैं—तामस, राजस तथा सात्विक। इनमें सत्कर्म को ही सर्वाधिक उच्चता प्रदान की गई है, तामस को सबसे हेय माना गया है, और राजस को भी उत्तम ही कहा गया है, अगर वह कार्य नियन्त्रण रख कर किया जाय। हमारे धर्म-ग्रन्थों में यह भी कहा गया है कि किन-किन कर्मों के करने से मनुष्य को कौन-कौन सी योनि प्राप्त होती है? मनुस्मृति (श्लोक १२.४०) में भगवान मनु का कथन है—

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसः
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः

अर्थात् सत्त्वगुणी लोग देवयोनि को, रजोगुणी मनुष्ययोनि को और तमोगुणी तिर्यग्-योनि को प्राप्त होते हैं। जीवों की सदा तीन प्रकार की गति होती है।

यह साधारण सी बात है कि कर्म करने से थकावट आती है चाहे वह कैसा भी कर्म क्यों न हो, अतः जीवात्मा को बार-बार कर्म करने के लिए तथा कर्मों का फल भोगने के लिए जन्म लेना पड़ता है। पर कर्म करने के लिए मानवलोक में जन्म लेना बहुत ही आवश्यक है क्योंकि 'देवता' या 'दैत्य' भी अगर कर्म करना चाहें तो उन्हें इस धरा पर आना पड़ेगा। इसीलिए तो मानव योनि को 'कर्म-योनि' तथा देवयोनि को 'भोगयोनि कहा गया है, क्योंकि उनमें नवीन कर्म-संस्कार ग्रहण करने की क्षमता नहीं होती।

हम जो भी कर्म करते हैं, उसका फल हमें प्राप्त होता है, पर किसके द्वारा प्राप्त होता है? यह विचारणीय प्रश्न है। क्या हमें फल कर्म द्वारा प्राप्त होता है? क्योंकि कर्म तो जड़ पदार्थ है, अतः फल दे नहीं सकता। इसलिए हमें फल-दाता के रूप में एक व्यवस्थापक मानना ही पड़ेगा और वह है परब्रह्म परमेश्वर। वही हमारे कर्मों के पाप-पुण्य का लेखा-जोखा रखता है और इस अनन्त ब्रह्माण्ड में रहने वाले अनन्त जीवों के कार्य-कलापों का पता लगाता है। फल वही दे सकता है जिसको हमारे सभी कर्मों का ज्ञान हो। अब कर्मानुसार जिसके पुण्य सबसे अधिक हों, उसे 'दिव्य देह' की प्राप्ति होती है और जिसके पाप सबसे अधिक हों उसे 'यातना देह' धारण करके नरक में जाना पड़ता है।

यह सत्य है कि मनुष्य फल की आशा के लिए कर्म करता है, पर कुछ मनुष्य ऐसे भी हैं जिन्होंने बिना किसी इच्छा के भले और हितकर कर्म किए हैं उनको इस संसार में नहीं आना पड़ता। वे तो क्रमशः ऊर्ध्वलोकों की तरफ बढ़ते ही जायेंगे। कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने बदले में शुभ फल प्राप्त करने की इच्छा से कर्म किए हैं। अतः वे उन पुण्य कर्मों के फलों का भोग तब तक करते रहेंगे जब तक वे समाप्त नहीं हो जाएँ। निष्काम कर्म करने वालों के लिए भागवत में भी भगवान रुद्र का कथन है (भागवत स्कंध (४ अध्याय २४, श्लोक २६) भगवान रुद्र प्राचेतस् लोगों से कह रहे हैं, कि स्वधर्म-निष्ठ पुरुष क्रमशः विकास करते हुए सैकड़ों जन्मों के पश्चात् ब्रह्मा-पद प्राप्त करता है। उसके बाद उत्तरोत्तर उत्कर्षमय पदों को प्राप्त करता हुआ क्रमशः मुझमें मिल जाता है। अन्त में उस नाम-रूप रहित वैष्णव-पद को भी वैसे ही प्राप्त हो जाता है जैसे महाप्रलय में मैं भी विष्णु में ही प्रविष्ट हो जाता हूँ। अर्थात् यह जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार ही लोक-लोकान्तरों और एक योनि से दूसरी योनि में विचरण करता रहता है।

अब यहाँ पर यह प्रश्न हमारे सम्मुख आता है कि अगर हम कुछ कर्म परलोक में स्थित पूर्वजों के निमित्त करें तो क्या उसका फल उनको प्राप्त होगा? इसका उत्तर यह है कि कर्मों का फल अवश्य ही उनको मिलेगा क्योंकि हमारे धर्म-ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर पितरों के निमित्त पिण्डदान, श्राद्ध, तर्पण आदि का उल्लेख मिलता है। श्री रामचन्द्रजी महाराज ने भी पिता की मृत्यु का संवाद सुनते ही मंदाकिनी के तीर पर जाकर तर्पण किया एवं स्वयं जैसा भोजन करते थे, उसी के पिण्ड बनाकर दशरथ जी के निमित्त दिए—

ततो मन्दाकिनी गत्वा स्नात्वा ते वीतकल्मषाः
राज्ञे ददुर्जलं तत्र सर्वे ते जलकांक्षिणे

धार्मिक सह-अस्तित्व

•

कल्याणजी का मन्दिर
(शार्दूलसिंहजी ने सं० १७९४ में बनवाया)

•
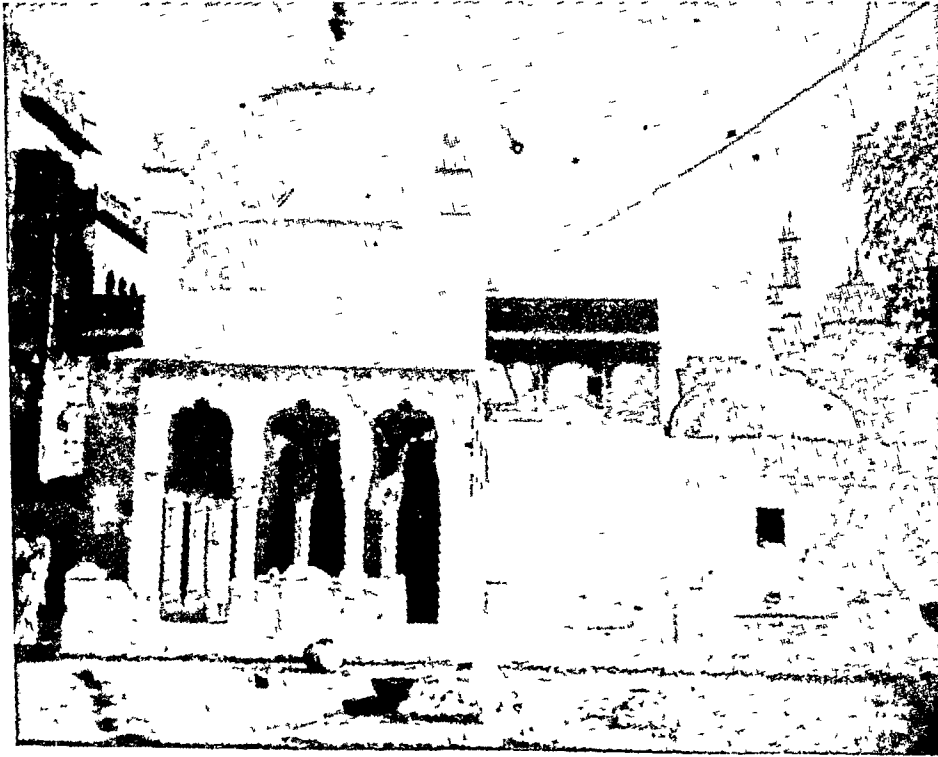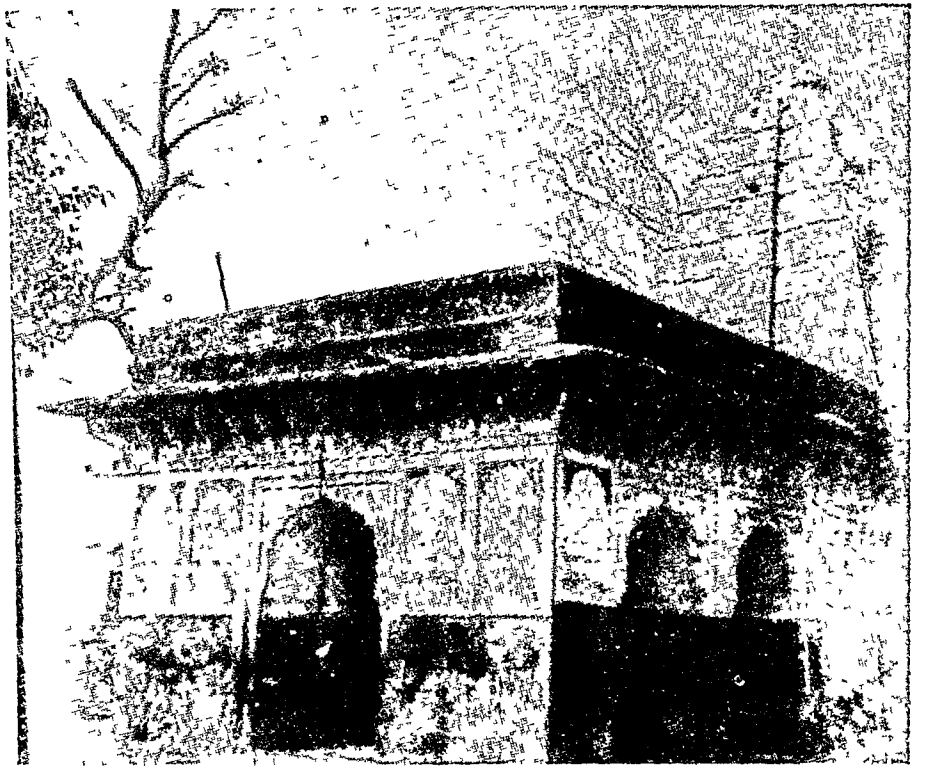
चिल्ला हज़रत तारकीनजी साहिब
(निर्माण : पन्द्रहवीं शताब्दी)

•

जैन-मन्दिर
(महावीर स्वामी की प्रतिमा : सं० १००५)

श्रीपञ्चदेव-मन्दिरके उद्घाटनोत्सव १८ जून ७५
पर प्रकाशित
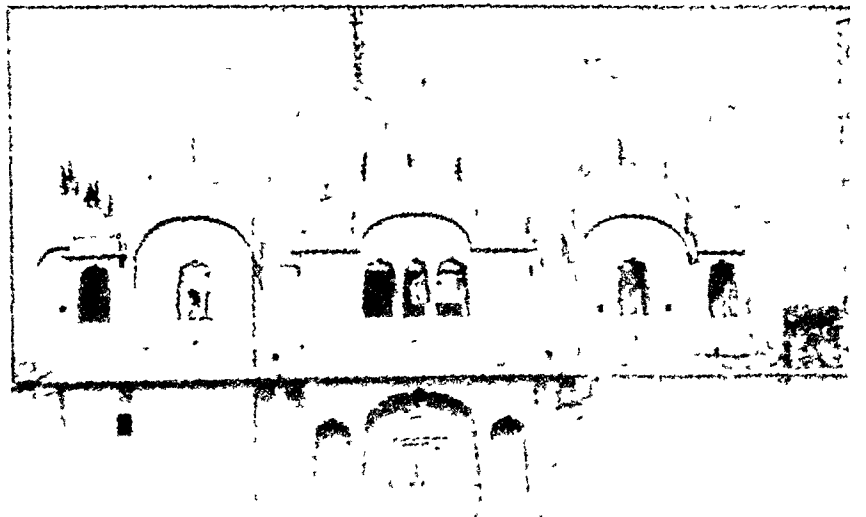
जलाशय

जीतमलजी का तालाब

(तेरहवी शताब्दी के मोरा जाटों के इस तालाब को जीतमलजी खेतान ने वर्तमान रूप दिया)
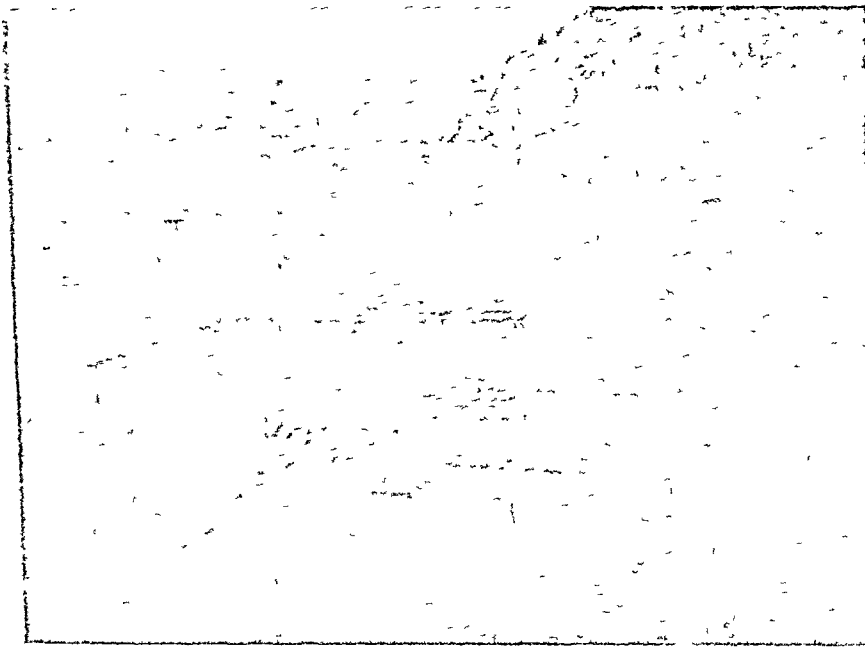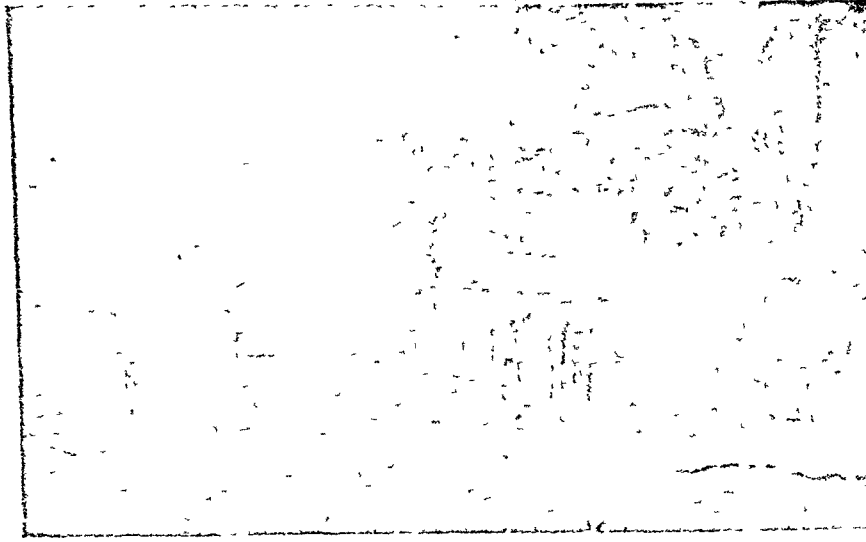
डोगाणा-तालाब

(निर्माण : सं० १०७१)

बीड़ का तालाब

(इसका निर्माण सेवारामजी तुलस्यान ने करवाया था)

श्रीचन्द्रदेव-मन्दिर के उद्घाटनोत्सव
१८ जून १९७५ पर प्रकाशित

इंगुदीफलपिण्याकर्चितान् मधुसम्पलुतान्
वयं यदन्नाः पितरस्तदन्नाः स्मृतिनोदिताः
---अध्यात्मः अयोध्याकाण्ड १९—१८

अगर कर्मों का फल परलोक में नहीं मिलता तो राजा पाण्डु कभी भी नारद मुनि द्वारा महाराज युधिष्ठिर को यह संदेश नहीं भिजवाते :—

स्वर्गाष्टवति पुत्रेहं हरिश्चन्द्र वदाशु वे
मोदिष्ये-बहुलाः साश्वत् समाः शक्रस्य संसदि ।
—सभापर्व १२।२६

अर्थात् हे युधिष्ठिर! तुम मेरे पुत्र हो, यदि तुम राजसूय यज्ञ करो तो मैं भी हरिश्चन्द्र के समान इन्द्र की राज्यसभा में सम्मानपूर्वक बहुत दिनों तक आनन्द कर सकता हूँ।

इसी प्रकार का प्रमाण गीता के अध्याय ३ श्लोक १०-१२ में मिलता है।

पूर्वजों का हमारे कर्मों का फल किस प्रकार प्राप्त होता है? इसका वैज्ञानिक रूप भी हमारे धर्मग्रन्थों में मिलता है। एक प्रसंग में जब भीष्म पितामह मार्कण्डेय मुनि से पितरों तथा पिण्डदान के विषय में प्रश्न पूछते हैं तो मार्कण्डेय मुनि, जो कुछ सनत्कुमार से सुना हुआ था, उसी का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि हम जो पिण्डदान करते हैं, उसका जलीय अंश रस व गंध सूर्य की रश्मियों द्वारा ऊर्ध्वलोकों में पहुँचा दिये जाते हैं। वहाँ उनके पितर होते हैं। यदि उनके पितर नीचे के लोकों में अवस्थित हों तो सूर्य उन तत्त्वों को अपनी रश्मि से खींचकर चन्द्रमा को दे देता है। चन्द्रमा से ओस या वृष्टि की बूंदों के रूप में वह पदार्थ उन लोकों में पहुँच जाता है जहाँ उनके पितर उस समय रहते हैं। यदि वे नीच योनि में हैं, जिनका कि मुख्य भोजन घास वगैरह है तो उसी रूप में उनको प्राप्त होता है मनुष्यों को अन्न रूप में प्राप्त होता है, पितरों को सूक्ष्म तत्त्वों के रूप में तथा यदि किसी के पूर्वज शुभ कर्मों की सहायता से देवयोनि में हों, तो उनको अमृत रूप में चन्द्रमा द्वारा ही प्राप्त होता है।

वस्तुतः हमारे पूर्वजों को हमारे कर्मों का फल मिलता है, किसी को तुरंत तो किसी को कुछ समय पश्चात्।

इसी प्रकार जीव अपने शुभ कर्मों की सहायता से उत्तरोत्तर लोकों को प्राप्त होता जाता है। देवी भागवत (८।२७) (१८-२०) में भी, इसी तथ्य को प्रमाणित करते हुए कहा गया है कि :—

"जीव अपने शुभ-कर्मों की सहायता से इन्द्र-पद प्राप्त कर सकता है। वह हरि का सेवक हो सकता है। आवागमन के चक्र से मुक्त हो सकता है। समस्त सिद्धियाँ प्राप्त करता हुआ अमरत्व-पद तक पहुँच जाता है। सालोक्य मुक्ति का अधिकारी बन सकता है और देवता, शिव, गणेश और जो कुछ भी चाहे वही वह निश्चय ही बन सकता है।"

———

कल्याण-मूर्ति शिव और उनका परिवार

राधाकृष्ण शर्मा, जोधपुर

ध्यायेय नित्यं रजतगिरि निभं चारु चंद्रावतंसम् ।
रत्ना कल्पो ज्वालाङ्गम् परशुमृगवरं भीतिहस्तं प्रसन्नम् ॥
पद्मासीनं समंतात् स्तुतमभरगणै व्याघ्र कृति वसानं ।
विश्वाद्यं विश्ववंद्यं निखिल भयहरं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ॥

सत् चित् आनन्द स्वरूप परमपिता परमेश्वर महेश्वर सम्पूर्ण विश्व के पिता हैं। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने भी समस्त सचराचर के पिता रूप में स्मरण किया है—'जगतः पितरौ वन्दे पार्वति परमेश्वरौ । इस सम्पूर्ण विश्व के स्रष्टा, धर्ता और हर्ता एक मात्र शिव ही हैं। मीमांसकों ने 'शंकर व शिव' शब्द की व्युत्पति करते हुए सकल लोक के कल्याण कर्ता कहा है। यथा—'शंकर', 'श' करोति 'शं' इति-शुभं-कल्याणं करोति इति शंकरः। शिवं शुभम्-कल्याणम्-करोति, स एवं शिवः। शिव का रूप (श्री विग्रह) ही शुभ और कल्याणकारी है। विश्व कल्याण की कामना करने वाले शिव-शुभ-मंगलप्रद होने के कारण ही ये आनन्द-महानन्द व परमानन्द के प्रदाता है। प्रथम कल्याण प्राप्त होता है और उसी से आनद की उत्पत्ति होती है। सदा सर्वदा आनंद के दानी-महादानी होने के कारण ही ये सत्-चित्-आनंद स्वरूप ईश्वर ही नहीं अपितु महेश्वर कहे गये है। ऊपर दिये गये ध्यान को सम्यक् ध्यान देकर देखने पर विदित होगा कि सदाशिव शंकर 'पद्मासन' लगाए विराजमान हैं। शास्त्रों में वर्णित भी है—'शान्तं पद्मासनस्थं शशिधर मुकुटं" जो शान्ति स्वरूप हैं और पद्मासन लगाए हुए हैं। जिनके जटाजूट में चंद्रकला अत्यन्त शोभायमान है। ऐसी शिव की शान्त विग्रह (स्वरूप) मुद्रा है। ये अपने इष्टदेव परब्रह्म परमात्मा के ध्यान योग में मस्त रहने वाले योगियों के ईश्वर योगेश्वर हैं। परब्रह्म स्वरूप श्री राघवेन्द्र ने जब शिव के लिंग-विग्रह (स्वरूप) की स्थापना समुद्र तट पर की, उस समय अपने श्रीमुखारविंद से कहा—'मयि चैव शिवे चैव अंतर यो हि पश्यति' मेरे में और शिव में जो भेद को दृष्टि करेगा वह नरक का अधिकारी होगा। यही बात संत शिरोमणि श्री गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—'शिव द्रोही मम दास', शिव का द्रोह करे, मुझे प्रसन्न करना चाहे तथा-मेरा द्रोही हो और शिव की कृपा चाहे तो वह कभी भी संभव नहीं हो सकता। ऐसा व्यक्ति-'सो नर करहि कलपशत घोर नरक मंह बास' सो कल्पों तक नरक में वास करता है। इसके बारे में

अन्य भी कई एक प्रभाव हैं—जैसे 'एको देव केशवो वा शिवो वा' देवता एक ही हो—केशव हो या शिव हो। दोनों एक ही ब्रह्मरूप हैं। अतः मानना होगा कि शंकर जी का श्रीविग्रह उसी परब्रह्म परमेश्वर का श्री विग्रह (रूप) है।

पञ्चानन :—भूतेश्वर भगवान भोलेनाथ का एक पंचमुख स्वरूप भी माना है। योगियों में योगीन्द्र सदाशिव सर्वत्र, सर्वदा, सर्वकाल उसी अपने परब्रह्म परमेश्वर के चिन्तन में निमग्न हो, ध्यान योग द्वारा उत्पन्न नाद-ब्रह्म के रसका आस्वादन करते हुए परमानन्द को प्राप्त करते हैं। नाद और उसके द्वारा प्रकटित संगीत के आदि स्रष्टा श्री शिव ही हैं। 'पञ्चाननात् पञ्चरागास्युः षड्स्तु गिरिजा मुखात्।" इन्हीं पञ्चानन भगवान शिव के पांच मुखों से भैरव, दीपक, मेघादि, ५ रागों का सृजन हुआ और छठा (श्री राग) श्री हिमगिरि नंदिनी के श्री मुख से प्रकट हुआ। इस प्रकार से पञ्चानन प्रभु के द्वारा प्रकटित रागों के द्वारा लोगों को आनन्द और कल्याण की प्राप्ति होती है।

एक बार की बात है कि—पार्वतिपति परात्पर श्री पशुपतिनाथ के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि—'सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा के श्री चरणों की सेवा करने का शुभ अवसर प्राप्त नहीं हुआ है, अतः श्री कमलापति नारायण के पास गये, और अपनी मनोभावना को प्रकट किया कि ''हे देवाधिदेव ! आपने मुझे अपने श्री चरणों की सेवा करने का सुअवसर कभी नहीं दिया है, अतः मेरे मन में यही उत्कट लालसा है कि मैं अपने हाथों आपके चरण-कमलों की सेवा करूँ।' प्रभु ने प्रतिउत्तर में कहा—'हे महेश्वर ! मैं तो केवल ईश्वर मात्र हूं, आपतो ईश्वर के ईश्वर ही नहीं अपितु महेश्वर हैं आप मेरे आराध्य हैं, फिर यह कैसे सम्भव हो सकता है ? प्रत्युत्तर में तत्काल शिव ने कहा—'भगवान् ! मैंने माना कि 'मैं' व 'आप' एक ही हैं, तथा मेरे भोले-भाले स्वभाव के कारण कई बार मुझसे गलतियाँ हुई और आपने बार-बार अवतार धारण करके उसे अनुग्रह पूर्वक सुधारा है। मैं आपके इस आभार से कब उऋण हो सकता हूं। अतएव मेरी इस महती इच्छा की भी आप अनुग्रह पूर्वक पूर्ति कीजियेगा। भगवान् जिससे मेरी आत्मा को सान्त्वना प्राप्त हो सके।' इस पर देवाधिदेव श्रीपति नारायण ने कहा—'यदि आपकी यही इच्छा है तो मैं अपने आराध्यदेव के आग्रह को किस प्रकार टाल सकता हूँ, अभी तो फिलहाल नहीं, कुछ धैर्य रखें। जब मैं माता कौशल्या के गर्भ से मानव रूप में अवतरित होऊँगा, उस समय आपको सेवा करने का बहुत कुछ अवसर प्राप्त होगा। वनवास की अवधि में आप आकर मेरी सहायता करना।" यह सुनते ही अखिलेश्वर आशुतोष हर्षातिरेक से गद्गद् हो गये और—"जय सच्चिदानन्द !" इस प्रकार से जोर से जयघोष करके कैलास की ओर चल दिये। आपको विदित ही है कि पवनपुत्र महावीर श्री हनुमान जी ने श्री रामरूप परब्रह्म की कैसी-कैसी सेवाएँ की हैं। यहाँ हमें केवल मात्र इतना ही कहना है कि—श्री आशुतोष भगवान ही ब्रह्म, परमब्रह्म रूप श्री राम जी की सेवार्थ अपने सम्पूर्ण विग्रहों व शक्ति द्वारा अवतरित होकर वानर रूप लेकर हनुमान रूप में प्रकटित हुए। अतएव हनुमान जी के भी वही पंचानन हैं तथा इन्हीं पञ्चमुखों की पूजा-अर्चना की जाती है और पंचमुखी बालाजी के नाम से पुकारे जाते हैं।

शिवा-पार्वति :—भगवान भोलेनाथ की अर्धाङ्गिनी को 'शिवा या पार्वति के नाम से सम्बोधित किया जाता है। ये जगत् जननी हैं, अतएव इन्हें 'माँ' भी कहा जाता है। यों तो इनके अनेकों नाम हैं, और इन सबका यहाँ विवेचन नहीं करना है, मात्र दो-एक मुद्दों पर हम विचार करेंगे। संस्कृत में 'पा' धातु है 'पा-पाने-अवने-च' धातु का प्रयोग पीने या बचाने के लिए किया जाता है। पा-पिबति अथवा पा-पाति-अवती व्यर्थः जैसे बालक माँ का स्तन पान करते हैं और पुष्ट होते हैं, उसी रूप में माँ पार्वती जी इस चतुर्दश भुवनों के चराचर जीवनों का पालन करती है, अतएव 'पाति-अवति-इति-पार्वति' कहा गया है। मां अपने पुत्रों को पुष्ट करती है, पालती है, सब प्रकार की अलाबला से बचाती है। यही मां का विग्रह है। एक नाम 'अन्नपूर्णा' भी है। हमने अपने बड़े-बूढ़ों के मुखारबिंद से प्रातः स्मरण करते हुए सुना है—

'अन्न-पूर्णा अन्न पूरे अरु घृत पूरे गणेश।
पाँच देव रक्षा करे ब्रह्मा-विष्णु-महेश।" इन्हीं ५ देवों का पञ्चायतन या पंच-महा विभूति कहा जाता है। श्री अन्नपूर्णा माता के मान को संस्कृत के एक भक्त कवि ने बड़ा महत्व दिया है—इसमें आप भगवान भूतेश्वर के घर-गृहस्थी की झलक मात्र ही पा सकेंगे। 'स्वयं पञ्च मुखः पुत्रौ गजानन षडाननौ॥ दिगम्बरः कथं जीवेत् अन्नपूर्णा न चेत् गृहे।" शंकर भगवान स्वयतो ५ मुखों से आरोगते हैं, बेटे बाप से भी आगे बाजी मार लेते हैं। एक तो गज मुख है, जो कुछ भी दें झटपट ही सम्पूर्ण भाग मुखारबिंद के हवाले कर देते हैं। सवा मन से कम में कलेवा नहीं होता। अन्य हैं श्री कार्तिकेय जी। ये भी अपने पिता से कब पीछे रहने वाले हैं। पिता पंचमुखी हैं तो पुत्र ने एक मुख और अधिक पाया है। दिशाओं को ही वस्त्र बनाने वाले नंगे बाबा के घर में यदि 'अन्नपूर्णा' माता न होती तो बाबा के घर का गुजारा ही चलना असंभव था।

हर एक को यह विदित है कि शिव की पत्नी को ही भक्तजन 'शिवा' के नाम से स्मरण करते आये हैं क्योंकि 'शिवेन सह वसति मोदते च अत एव शिवा है। आठों याम ये सच्चिदानन्द सदा शिव के चरणस्मरण में ही व्यतीत करती है। आनंद-कन्द भोलेनाथ का ध्यान धरती रहती हैं और उनके शान्त स्वरूपानदामृत का पान करती हुई मोदपूर्ण हो जाती है। भला वो अपने पुत्रों को सचराचर जीवों को उस परमानन्द से परे कैसे रख सकती हैं? अर्थात् अपने भक्त पुत्रों को अननुभूत आनन्द का आस्वादन अवश्यमेव कराती है। अतः शिवा भी आनन्दमयी है। हाँ मेरे जैसे कपूत पैदा हो सकते हैं जो 'मां' के महत्व को ध्यान में नहीं लाते हैं, परन्तु मां तो मां ही है:—कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।" अगर माता अपने तेवर फेर दे तो फिर-चराचर की चक्की का चलाना ही मुश्किल हो जाय। अर्थात् जीवों का जीवन यापन करना दूभर हो जाय, अतः माता कभी भी कु-माता हो हीं नहीं सकती। अतः माता जन-जन का सदैव कल्याण करने वाली है। इसीलिए तो 'मां' का पद सर्वोपरि माना गया है। स्मृति कहती है—'मातृ देवो भव' तथा तदुपरान्त 'पितृ देवो भव'। अतः माता 'शिवा' आनंदमयी कल्याणकारी हैं।

गजाननम् ऋग्वेदमें एक मंत्र आता है—

"गणानांत्वं" इसमें गजानन्द को 'ज्येष्ठराज' के नाम से उच्चरित किया गया है। अतः ये महेश्वर के ज्येष्ठ पुत्र हैं। इसी प्रकार का मंत्र यजुर्वेद में भी आया है, तथा दोनों ही वेदमंत्र गजानन के महत्व के द्योतक हैं। शास्त्रों में 'गज' शब्द का कई प्रकार से विवेचन किया गया है जैसे—'गजति मदेन मतो भवति इति 'गजः' आननम्-मुखं यस्य सः 'गजाननः'। कहीं-कहीं ऐसा प्रतिवाद किया गया है कि 'समाधिनां योगिनो यत्र गच्छति इति-गः तथा यस्मात् बिम्ब प्रतिबिम्बवत्तया प्रणवात्मकं जगत् जायेत इति 'जः' इस प्रकार से 'गज' उत्पत्ति मानी है कि बिम्ब से ही प्रतिबिम्ब उत्पन्न होता है। इसी प्रकार प्रणवात्मक प्रपञ्च से उत्पन्न होने वाला 'ज' है। इस प्रकार से गज शब्द की व्युत्पत्ति की जाती है तथा 'गज' का मुख है जिसका वही 'गजानन' है। हाथी के सम बल बुद्धि, गम्भीरतादि गुणों के द्योतक हैं। ये शिव गणों के अधिपति हैं अतः इन्हें गणेश कहा गया है। पार्वती के कोप को शान्त करने के लिए जब इन्हें वरदान दिये गए उसी समय स्वयं महेश्वर ने अपना श्रीविग्रह (स्वरूप) प्रदान किया अतः 'पंच वक्त्र' कहे जाते है। ये जो भी पाते हैं अपने मुख द्वारा ग्रहण करके उदरस्थ कर लेते हैं, जो धैर्य और गम्भीरता के प्रतीक हैं तथा भक्तों की विघ्नबाधाओं को दूर करने वाले और सतत 'मोदक प्रिय' है। किसे भला मोदक प्रिय नहीं हैं तथा मोदक ही में मोद अर्थात् आनंद का निवास है। जहाँ आनन्द है वहीं कल्याण भी है। अतः ये आनन्द स्वरूप हैं और सर्वजनों के कल्याणकारी भी हैं। और सदैव ही बालरूप में विद्यमान हैं अतः क्रीड़ा में मस्त रहते हैं। हमारे राष्ट्रकवि श्री गुप्तजी ने इनकी बालक्रीड़ा व मोदक प्रियता का विशद वर्णन किया है—'एक बार दोनों भाई परस्पर खेल रहे थे। खेलते-खेलते बीच में वे विनोदप्रिय अपने मन भाते मोदक को लेकर गेंद के समान ऊपर को उछालते हैं। छोटे भाई स्कन्द लेने को दौड़ते हैं तो ये लपक कर अपनी सूंड से झेल लेते हैं और उन्हें देने का भाव करके झट से वे मुख के बीच धर लेते हैं तब खीझ कर माता पार्वती के पास आकर शिकायत करते हैं—

"गोद भरे मोदक धरे हैं, सविनोद उन्हें
सूँड़ से उठाके, मुझे देने को दिखाते हैं
देते नहीं, कन्दुक सा ऊपर उछालते हैं,
ऊपर ही झेल कर खेल कर खाते हैं।"

क्या ही सुन्दर शिव परिवार की प्रेम भरी विनोद प्रियता है तथा जगत जननी पार्वती माता हँस देती है।

कुमार स्कन्द :—शिव प्रिया 'शिवा' पार्वति के ये दूसरे पुत्र है जो पार्वति जी के प्रिय भी है ये पार्वतिजी की दक्षिण कुक्षि से प्रकट हुए थे। कहा जाता है कि इनकी सुन्दरता पर मुग्ध होकर सप्त-कृतिकाओं ने इन्हें अपना स्तन पान कराया था अतः इनका दूसरा नाम 'कार्तिकेय' पड़ गया। सब देवताओं ने मिलकर इन्हें अपना सेनापति बनाया अतः 'सेनानी' भी ये कहे जाते हैं। ये भी गणपति के समान सदैव बाल स्वरूप अतः 'कुमार' कहे जाते हैं। देवों को दुख देनेवाले दुराचारी दुष्ट तारकासुर का वध करके समस्त विश्व को आनन्दित करके प्रमुदित किया था अतः इन्हें भी कल्याणकारी लोकोपकारक कहा जाता है।

शिव के इस कल्याणकारी परिवार के आनन्द-विनोद का एक छोटा सा प्रसंग देकर मैं अपने इस लेख को विराम दूँगा। एक बार दोनों भाई खेल-कूद में मग्न थे तथा खेल ही खेल में किसी बात पर अत्यधिक रुष्ट हो जाते हैं। स्कन्द ने कान खिंचाई कर दी तो जननी के पास रोते हुए पहुँचते हैं। माँ पूछती है—'रो क्यों रहे हो?' गणेश भगवान ने बताया कि -'स्कन्द ने मेरे कान उमेठ लिये।' माता ने स्कन्द को डाँटा तो उन्होंने कहा कि—'ये मुझे बारह आँखों वाला कह कर चिढ़ाते हैं।' माँ ने कहा—'गजानन! 'यह तूने उचित नहीं किया।' तो वे बोले— इन्होंने ही पहले मेरी सूंड का नाप लेना आरंभ किया।' इस प्रकार दोनों पुत्रों की शैतानियों को सुनते ही माता पार्वति हँस पड़ती हैं यथा दोनों भाइयों के झगड़े के निवारण में निमग्न माता पार्वति सर्व संसार का कल्याण करें। संस्कृत में एक कवि ने माता के इसी व्यस्त स्वरूप का स्तवन करते हुए संपूर्ण लोकों के कल्याण की कामना की है—

हे हेरम्ब! किमम्बरे रोदिषि कथं?
कर्णौ लटत्याग्निभूः किं ते स्कन्द विचेष्टितम्?
मम पुरा संख्या कृताचक्षुषाम्॥
नैतन्तेऽप्युचितं गजास्य चरितं?
नासां मिमीतेऽम्ब मे!
तावेव सहसा विलोक्य हसिता व्यग्रा
'शिवा' वाक्तुवः॥

क्या ही सुन्दर पारिवारिक आमोद-प्रमोद है। इस प्रकार से विनोद का आनंद लेने वाली जगत् जननी माता सर्वलोगों का कल्याण करती रहे। ऐसी आनन्दमयी कल्याणमयी माता के आराधन से हम विमुख होकर रहें और सुख शांति की चाह-यह कैसी विडम्बना है। सेवा करने पर ही मेवा मिलता है। मेरा आप सभी पाठकों से अनुरोध है कि शिव के इस परिवार में से किसी के भी स्मरण से आनन्द-सुख व कल्याण की प्राप्ति हो सकती है।

॥ इति ॥

बावड़ी

झूँझणूँ में मेड़तनी बावड़ो री चिणाई। तीन बरस लाग्या। कारीगर १५१, मजूर १७१, लुगाई २२१, सूत १५ मण, लोहो ८२१ मण, लोहो आडावल स्यूँ ३२१ गाड़ियाँ में आयो। पहियाँ में २८ मण घी, १२१ मण सण। पोस्त २२१ मण, नमक ७२१ मण, खुराकी में घी ११२१ मण। गेहूँ २८८८ मण, दूसरो नाज ११,१२१ मण, अफीस ८ मण।

परलोक और पुनर्जन्म का सत्य सिद्धान्त

(*लेखक—परमपूज्य गुरुजी—श्री माधव सदाशिव गोलवलकर*)

भौतिक जगत् में यह नियम सब लोग जानते हैं कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्यतः होती है। मनुष्य जगत् में प्रत्यक्ष रूप से यह अनुभव होता है; जो जैसा करेगा वैसा फल उसे भोगना ही होता है। प्रत्यक्ष में हम यह देख सकते हैं कि कोई व्यक्ति यदि मद्यपान करे तो वह उन्मत्त होकर स्मृतिज्ञान नष्ट होने के कारण असम्बद्ध बोलता है, लड़-खड़ाने लगता है, न करने योग्य कार्य करता है, अनेक बार गंदगी में लोटता है। कार्य का फल भोग इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने में आता है।

कई प्रकार के कर्मों का परिणाम तुरंत हाथों हाथ मिल जाता है। किंतु अनेक कर्म ऐसे होते हैं कि जिनका फल कालान्तर में—किन्हीं-किन्हीं का बहुत काल के पश्चात् दिखायी देता है। मनुष्य जीवन में प्रतिदिन अनेक प्रकार के कर्म होते रहते हैं। शरीर से, वाणी से, मन से कर्मयोगी मनुष्य निरन्तर कर्म करता ही रहता है। कर्म के बिना एक क्षण भी वह रह नहीं सकता—'नहि कश्चित् क्षण-मपि जातु तिष्ठत्य कर्मकृत्।' यह वचन प्रत्यक्ष अनुभव का है। इन असंख्य कर्मों में से कुछ सद्यः फलदायी, कुछ विलम्ब से परन्तु इसी जीवन में फल देने वाले होते हैं। तथापि अनेक कर्मों का परिणाम फलभोगरूप में इसी जन्म में अनुभव में नहीं आता। जीवन की समाप्ति के साथ सारे कर्म भी समाप्त हो जाते हैं—यह बात अशास्त्रीय एवं अनुभव विरुद्ध है; क्योंकि कर्म कभी निष्फल नहीं हो सकता यह सर्वमान्य सत्य सिद्धान्त है। फिर इन अभुक्त कर्मों का फलभोग जीव कब कर सकता है?

भिन्न-भिन्न धर्मों में विभिन्न प्रकार से इस प्रश्न को समाधान करने का प्रयत्न किया गया है। ईसाई, इस्लाम आदि मतों के अनुसार 'जगत् के अन्त में ईश्वर सब जीवों के कर्मों का निर्णय कर शुभ कर्मवालों को स्वर्ग में और अशुभ कर्मवालों को नरक में उन कर्मों से प्राप्त भोग भोगने के लिए भेज देता है।' परन्तु यह विचार युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। एक छोटे से जन्म में किए हुए कर्म का भोग चिरकाल तक करना पड़े—यह तो अन्याय है। फिर, न्यायदान में इतना प्रदीर्घ विलम्ब होना भी अयुक्त ही कहा जा सकता है। भूल सुधारकर जीवन को सुयोग्य, सुसंस्कृत तथा उच्च बनाने का अवसर सामान्य जीवन में भी दिया जाना योग्य माना जाता है। भगवान के राज्य में ऐसे अवसर का न मिलना, यह बात भगवान् की न्याय प्रियता तथा उनके कारुण्य से विसंगत है।

अपने सनातनधर्म में इसका समाधान विचार तथा अनुभव के अनुरूप किया गया है। जिस जीव

ने जो कर्म किए हों, उनका फल भोगने के लिए अन्यान्य लोक हैं, जिनमें वह अपने शुभाशुभ कर्मों के फलों का भोग करता है तथा कुछ कर्मों के फल-भोग के लिए इसी मर्त्यलोक में पुनः विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण कर फल भोगता है और मनुष्य बनकर अपनी उन्नति करने का अवसर बार-बार प्राप्त करता है और क्रमशः अपने सब कर्मों को भोगकर उनका क्षय करता हुआ, अन्ततोगत्वा पूर्ण सुखशान्तिरूप मुक्त प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार परलोक तथा इहलोक में पुनर्जन्म का विचार केवल तर्क अथवा अनुमानमात्र प्रतीत हो सकता है, किंतु हमारे पूर्वजों ने प्रखर तपस्या के बल पर दिव्य दृष्टि प्राप्त कर इन सत्यों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त किया था। केवल तर्क या अनुमान के आधार पर परलोकों के अस्तित्व या पुनर्जन्म-ग्रहण की वास्तविकता का उन्होंने प्रतिपादन नहीं किया; अपितु प्रत्यक्ष ज्ञान के बल पर इसका उद्घोष किया।

अनेक व्यक्तियों का जन्म से ही अलौकिक प्रतिभासम्पन्न होना, कुछ अबोध बालकों का पूर्वजन्म के स्थान, परिवारस्थजन इत्यादि का आश्चर्यचकित करनेवाला ज्ञान सप्रमाण प्रकट करते हुए दिखाई देना ऐसे अनेक उदाहरण प्रमाणभूत होकर उपस्थित होते हैं। अब विगत कुछ काल से इन बातों पर विश्वास न रखनेवाले पाश्चमीय देशों के विद्वानों में भी परलोकविद्या का अध्ययन करने की प्रवृत्ति बढ़ी है और धीरे-धीरे वे परलोक तथा पुनर्जन्म के सत्य को पहचानने की या मानने की ओर झुक रहे हैं। जिन धर्म-मतों का अवलम्बन उन्होंने किया है, उनका समर्थन न होने से अभी उनमें पर्याप्त झिझक है। तथापि सत्यान्वेषण की अन्तःप्रेरणा उन्हें इस सत्य का साक्षात्कार करने के मार्ग पर अग्रसर करा रही है।

वैसे सूक्ष्मदृष्टि से अध्ययन करने पर ईसाई धर्मग्रन्थ 'पवित्र बाइबल' में भगवान ईसा के ही मुखारविन्द से प्रकट हुए शब्दों से यह जाना जा सकता है कि भगवान ईसा ने स्थानीय परिस्थिति तथा मान्यताओं के होते हुए स्थानीय परिभाषा के ही माध्यम से भारतीय क्रान्तदर्शी ऋषियों के सत्य सिद्धान्त को ही समझाने का प्रयास किया है; किंतु शुद्ध दृष्टि से इसका अध्ययन करना आवश्यक है।

परलोक तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कारण से ही प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सकता है कि उसका सुख-दुःख, श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व सद्गुणों का अभाव आदि सब उसी के पूर्वजन्मों में किए गए कर्मों के परिणाम हैं और इस जन्म में यदि वह अपने कर्मों में सुधार कर ले तो इसी जन्म में वह अधिक श्रेष्ठ एवं सुखी बन सकता है और उसे यह भी विश्वास होता है कि जीवन का चरम लक्ष्य-मोक्ष, इस एक जन्म में न भी प्राप्त हो तो भी इसके लिए उचित प्रयत्नों में रत रहने से आने वाले जन्मों में वह अपने को मोक्ष के लिए अधिकाधिक योग्य बनाकर, अन्त में जीवन मरण के सब सुख-दुःखों से छूटकर अपनी नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्द-स्थिति में स्थिर हो सकता है।

श्रेष्ठ कर्मप्रेरणा देनेवाले, मनुष्यमात्र के पौरुष

बदरू की जोड़ी
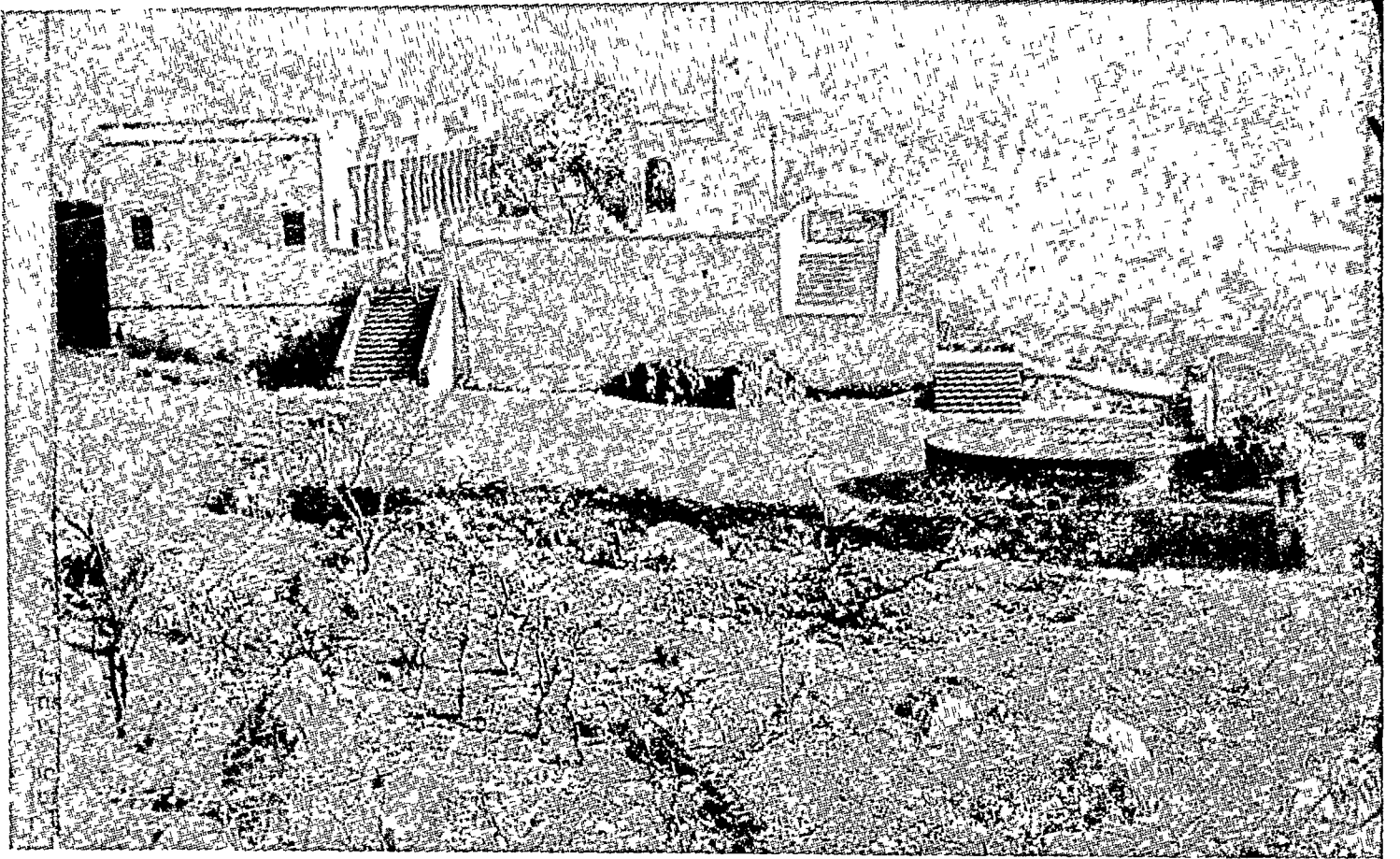
सबसे पहले बदरीदासजी खेतान ने दो कमरे बनवाए थे।

सूर्य-मन्दिर

निर्माण : ठा० भौमसिहजी द्वारा।
वर्तमान पुजारी
सत्यनारायणजी बियाँला।

श्रीपञ्चदेव-मन्दिर के उद्घाटनोत्सव
१८ जून १९७५ पर प्रकाशित

नवग्रह-मन्दिर

सूरजमलजी खेतान ने
सौ वर्ष पहले बनवाया।

श्रीपंचदेव-मंदिर के उद्घाटनोत्सव
१८ जून १९७५ पर प्रकाशित
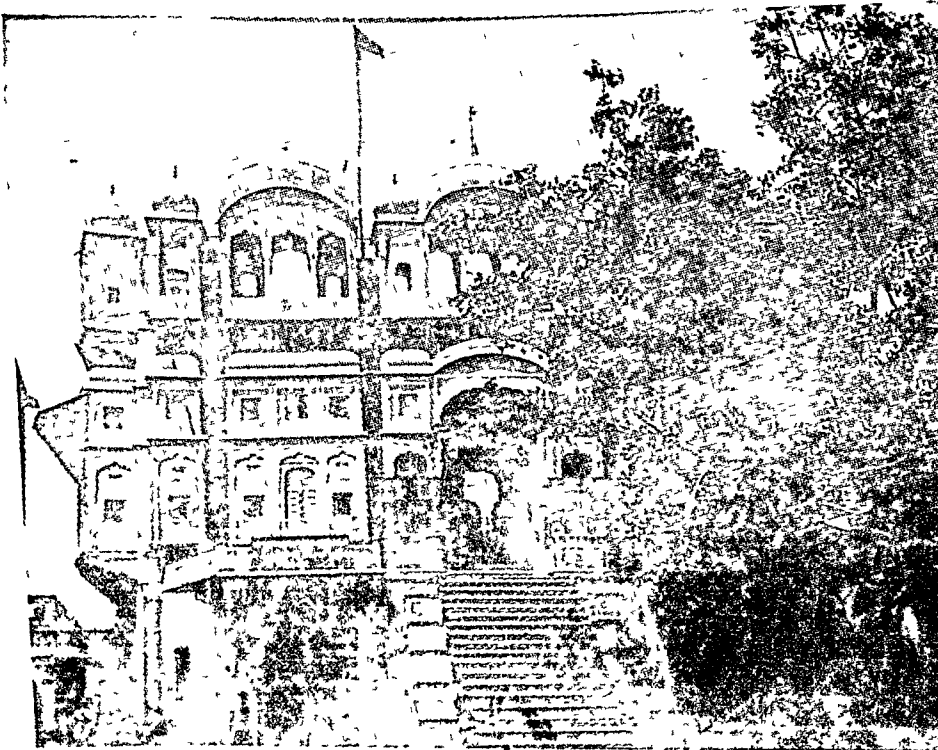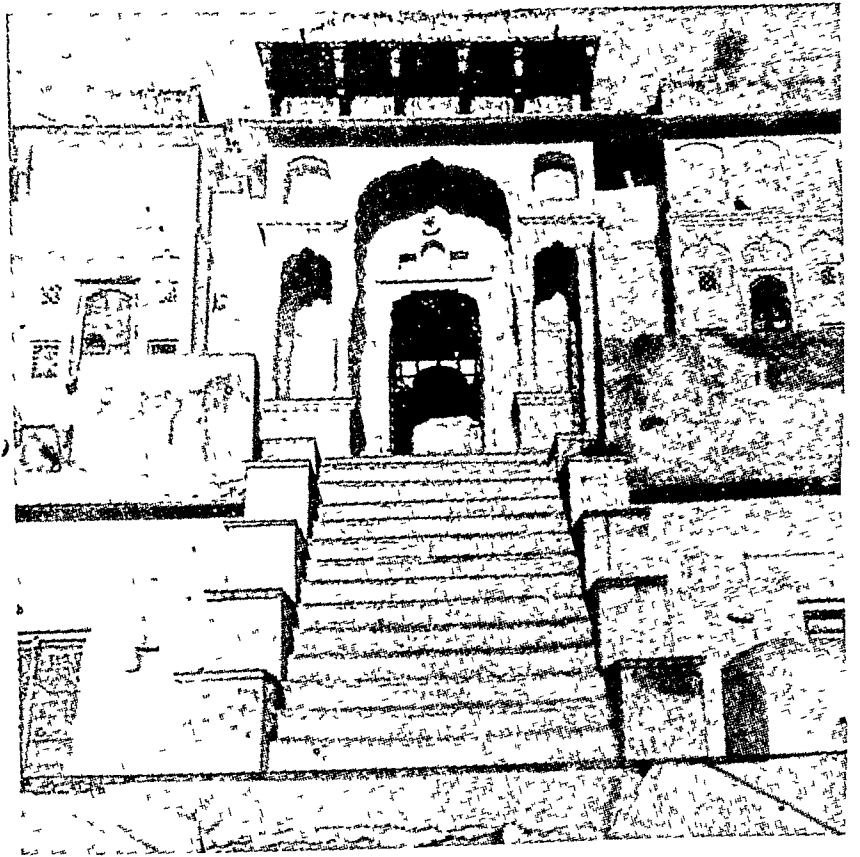
सत्यनारायण भगवान का मन्दिर

स्व० सेठ ईश्वरदासजी ने
सं० १९५५ में बनवाया।

को आह्वान करनेवाले इस सत्य को हृदयङ्गम करना मनुष्य के कल्याण के लिए परम आवश्यक है। आज इसके सम्बन्ध में कुछ भ्रम फैले हैं और निष्क्रियता को पनपानेवाला दैववाद लोगों की बुद्धि पर चढ़ बैठा है। उनसे अपने को छुटकारा दिलाकर विशुद्ध कर्मसिद्धान्त, तदङ्गभूत परलोक तथा पुनर्जन्म के सत्य सिद्धान्तों को समझकर सत्कर्म में प्रवृत्त होना, निरन्तर उद्यमशील रहना तथा परिणामस्वरूप इहलोक में वैयक्तिक एवं सामूहिक उत्कर्ष की प्राप्ति के साथ मुक्तिमार्ग पर अग्रसर होकर मनुष्य जीवन सार्थक करना आवश्यक है। यही है—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

अपने महान् सनातनधर्म में उद्घाटित इन महान् सत्यों को जीवन में उतारकर अपने समाज के सब व्यक्ति उत्तरोत्तर श्रेष्ठ शुद्ध जीवन के चलते-बोलते आदर्श बनें और सम्पूर्ण मानवजाति के सन्मार्ग-पथ प्रदर्शक बनें। यही समय की मांग है। इति शम्!

क्षणभंगुरता

(एक पारिवारिक परिसंवाद)

लाखो फूलाणी

जीवतड़ाँ मांणो नहीं, लाखो कहै सुवट्ट
गिणिया आवै दीहड़ा, छैय'र सात'र अट्ठ

धण

फूलाँणी भूल्या थणॉ, सात-आठ बहु दूर
साँझा दीठा जे नहीं, पौह उगन्तै सूर

बेटी

लखपत भूल्यो 'बार' लख, कमहाँ भूलो कोय
सास बटाऊ सायबो, आवण होय न होय

चारण

लखपत आँधो थण उसी, उसो लखा दी जोय
आँख तणौ फारूकणै; क्या जाणै क्या होय

मृत्यु, परलोक और और्ध्वदैहिक कृत्य

(लेखक—शास्त्रार्थ महारथी पं० श्री माधवाचार्यजी शास्त्री)

वेद का वेदत्व केवल इस विशेषता पर निर्भर है कि जो रहस्य प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान आदि किसी भी प्रमाण द्वारा वेद्य न हो, उस रहस्य को जो प्रकट करे, तादृश प्रमाण को 'वेद' कहते हैं। इसलिए आस्तिक समाज की यह गर्वोक्ति शास्त्रसिद्ध है कि 'शास्त्रप्रामाणिका वयम्' अर्थात् 'हम शब्द (वेद) को प्रमाण माननेवाले आस्तिक हैं।'

यह बात युक्ति संगत भी है। बहुत से ऐसे विषय हैं, जिन तक मानव की पहुँच नहीं हो सकती है। जैसे उदाहरणार्थ 'मृत्यु की क्या गति होगी? यह रहस्य मानव बुद्धि का विषय नहीं। जो मर जाते हैं, वे लौटकर कुछ कहने नहीं आते और जिन्हें मरना है वे उसका स्वयं क्या अनुमान कर सकते हैं? इसी प्रकार 'परलोक क्या है? वह है भी या नहीं? है तो तदर्थ हमारा अपना क्या कर्त्तव्य है? परलोकगत प्राणी की उसके जीवन-सम्बन्धी भी कुछ सहायता हम कर सकते है क्या? इत्यादि अनेक प्रश्न हैं, जिनका उत्तर एकमात्र वेद ही दे सकता है। वस्तुतः वेद का आरम्भ वहाँ से होता है, जहाँ मानव-बुद्धि की दौड़ समाप्त हो जाती है। इसलिए मृत्यु के अनन्तर क्या-क्या ऐसे अनुष्ठान हैं, जिनके करने से परलोकगत आत्मा की सद्गति हो सकती है—इत्यादि परोक्ष विषयों पर ही इस लेख में वेदशास्त्र के प्रमाणानुसार संक्षिप्त विचार किया जायगा।

मृत्यु क्या है?

हमारा यह मानव-शरीर पंचमहाभूत (पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश), पंचकर्मेन्द्रिय (हस्त, चरण, गुदा, लिंग और जिह्वा, पंचज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, चक्षु, रसना, त्वक् और घ्राण) पंचप्राण (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) अन्तः-करण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) तथा अविद्या, काम और कर्म इन २७ तत्त्वों का संघात है, जिसे 'स्थूलशरीर' कहते हैं।

स्थूल पंचमहाभूत और स्थूल पंचकर्मेन्द्रिय इन दस तत्त्वों के अतिरिक्त जो शेष सत्रह तत्त्व बचते हैं, उतने संघात का नाम 'सूक्ष्मशरीर' है। मृत्यु का अर्थ है—'स्थूल पंचमहाभूत और स्थूल पचकर्मेन्द्रियों का छूट जाना।' अतः मृत्यु में प्राणी का सर्वनाश नहीं हो जाता; किन्तु केवल पूर्वोक्त दस तत्त्वों की निवृत्ति मात्र हो जाती है। शेष सत्रह तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर और कारणशरीर मुक्तिपर्यन्त तथैव विद्यमान रहेंगे।

मृत्यु के अनन्तर क्या गति होती है?

यह गति सबके लिए समान नहीं है। अपने-अपने कर्मानुसार प्राप्त होती है। ज्ञानाग्नि में

जिनके शुभाशुभ कर्म दग्ध हो जाते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं—न स पुनरावर्तते।' वे फिर जन्म मृत्यु के चक्र में नहीं पड़ते। जिनके सकाम शुभ कर्म हैं, वे स्वर्ग आदि लोकों में अपने शुभ कर्मों का फल उपभोग करते हैं। जिनके उग्र पाप कर्म हैं, वे नरक में सड़ते हैं। परन्तु जब भोगते-भोगते शुभ किंवा अशुभ कर्म ऐसे स्तर के अविष्ट रह जाते हैं, जो मृत्युलोक में ही भोगे जा सकते हैं, तब स्वर्गीय प्राणी शुचि-श्रीमानों के या योगियों के कुल में उत्पन्न होकर पुण्य-फल प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार नारकीय प्राणी सूकर, कूकर, कुष्ठी, निर्धन के रूप में जन्म लेकर अपने शेष पापकर्मों का उपभोग करते हैं।

चन्द्रकक्षा के उपरिभाग में पितृलोक है। सूर्य कक्षा में द्युः स्वर्गलोक है और शनि की अन्धकार-मय कक्षा में अट्ठाईस नरक-लोकों की अवस्थिति है।

मृत्यु के अनन्तर सूक्ष्म शरीर धारी जीव को स्वर्गोपभोग के लिए 'दिव्य शरीर' की प्राप्ति होती है, नरकोपभोग के लिए 'यातना शरीर' की प्राप्ति होती है, सर्वाधम पापियों को एक ही दिन में जन्म और मरण का कष्ट भोगनेवाली कीट-पतंगादि की 'जायस्व म्रियस्व'—गति मिलती है। जिनके न अपने शुभ कर्म हैं, न अशुभ उग्र कर्म हैं और न उनके सम्बन्धी ही और्ध्वदैहिक अनुष्ठानों द्वारा उनकी कुछ सहायता करते हैं, वे लोकान्तर में न जाकर 'वायुभूतो दिगम्बर।' रूप में मृत्युलोक में ही भूत-प्रेत आदि योनियों में परिभ्रमण करते हैं। इस प्रकार अपने-अपने कर्मों के तारतम्य से विभिन्न गतियाँ होती हैं।

'और्ध्वदैहिक कृत्य'

वेद का तीन चतुर्थांश भाग केवल 'परलोक विषयक और्ध्वदैहिक' कृत्यों की इतिकर्त्तव्यता से ही भरा पड़ा है। वस्तुतः वेदों का मुख्य विषय आपाततः परलोक ही है; क्योंकि यह विषय परोक्ष होने के कारण मानव-बुद्धिगम्य नहीं है। उक्त सब और्ध्वदैहिक कृत्यों का संग्राहक पारिभाषिक नाम 'श्राद्ध' है। मृत पितरों के उद्देश्य से अपनी प्रिय भोग्य वस्तुओं को वैदिक विधि के अनुसार श्रद्धा-पूर्वक जो प्रदान किया जाता है, उन अनुष्ठानों को 'श्राद्ध' कहा जाता है। यही श्राद्ध की मुख्य चार क्रियाएँ हैं—पिण्डदान, तर्पण, हवन और ब्राह्मण-भोजन।

क्या श्राद्ध द्वारा मृत प्राणियों की तृप्ति होती है?

नास्तिक लोग प्रायः कहा करते हैं कि मृत प्राणी स्वकर्मानुसार न जाने किस लोक में और किस योनि में गया है। ऐसी दशा में हमारे द्वारा किए श्राद्ध की वस्तु उसे कैसे प्राप्त हो सकती है? यदि वह मरकर हाथी बन गया तो हमारा दिया सेर भर अन्न उसको कैसे तृप्त कर सकेगा? और यदि वह कीट-पतंग आदि लघु शरीरधारी बन गया होगा तो सेर भर अन्न का पिण्ड उस पर भारभूत होकर उसकी मृत्यु का कारण हो जायगा। साथ ही हमारी दी गई शय्या-वस्त्र आदि वस्तुओं का भी पशु-पक्षी आदि योनियों में पुनर्जन्म धारण करनेवाले के लिए क्या उपयोग हो सकता है। इत्यादि।

इन सब शंकाओं और संदेहों का एकमात्र यही कारण है कि नास्तिक अपनी प्रदत्त वस्तुओं को ज्यों की त्यों परलोक में मिलने की कल्पना किए बैठा है; अन्यथा वेदादि शास्त्रों के अनुसार तो पूर्वोक्त चारों श्राद्ध-कृत्यों के अनुष्ठान के उपलक्ष्य

में मृत प्राणी को सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामि ईश्वर के न्याय से 'तृप्ति' प्राप्त होती है अर्थात् वह जिस भी योनि में पहुंचा होगा, उस योनि में उसको तृप्त करने वाली जो-जो स्वाभाविक वस्तुएँ होंगी, श्राद्ध का फल उसी रूप में परिवर्तित होकर मृत प्राणी की तृप्ति का कारण होगा। 'तृप्ति' का अर्थ है—भोग्य पदार्थों की लालसा की निवृत्ति। जब तक किसी भी जीव में यह लालसा बनी रहती है, तब तक वह मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। अतः जीवनकाल में अपनी साधना से जिन प्राणियों ने लालसा की निवृत्ति प्राप्त नहीं की है, वे मृत्यु के अनन्तर भी लालसा सम्बन्धियों का यह कर्त्तव्य है कि वे श्राद्ध क्रिया द्वारा मृत व्यक्ति की लालसा को निवृत्त करने का प्रयत्न करें।

श्राद्ध का भार पुत्रादि पर क्यों ?

शास्त्र कहता है कि 'यदि मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन करे तो उसके द्वारा उसकी प्राणशक्ति इतनी प्रबल हो जायगी कि मृत्यु के समय बिना प्रयास उसके प्राण कपाल फोड़कर शरीर से निकलेंगे और सूर्यमण्डल का भेदन कर ब्रह्माण्ड की परिधि को पार कर जायेंगे। वह मुक्त हो जायगा।' परंतु सन्तान उत्पन्न करने वाले गृहस्थों की वह शक्ति क्षीण हो जाती है। उनके प्राण अन्य किसी द्वार से निकलते हैं। इसलिए दाह-संस्कार के समय पुत्र पिता की कपाल क्रिया करता हुआ मानो यह प्रतिज्ञा करता है कि मृत पिताजी! यदि आप मुझ सरीखे पुत्र को उत्पन्न न करके अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य को धारण करते तो आज उस ब्रह्मचर्य के कारण आपकी मृत्यु कपाल फूटकर होती और आप मुक्त हो जाते; परंतु आपने मेरे उत्पन्न करने में अपनी मुक्ति का लोभ छोड़ा है। अतः अब मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं श्राद्ध-कृत्य द्वारा आपकी उस कमी की पूर्ति करके आपकी मुक्ति में सहायक बनूँ।

क्या हम भी श्राद्ध-फल कभी मिला है ?

क्या हमें पूर्वजन्म के सम्बन्धियों द्वारा किए श्राद्ध का फल इस जन्म मे मिल रहा है? आखिर हम भी तो आस्तिक पुत्रों के पिता हो सकते हैं। हमारे लिए पूर्वजन्म के सम्बन्धी भी श्राद्ध करते ही होंगे—परंतु क्या हम कभी यह अनुभव हुआ है कि अमुक वस्तु हमें श्राद्ध के उपलक्ष्य में प्राप्त हुई है ?

इत्यादि शंकाओं की निवृत्ति के लिए कहा जा सकता है कि संसार में हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सभी जीव दो प्रकार के हैं—एक तृप्त और दूसरे अतृप्त। जैसे एक कुत्ता आँगन के एक कोने में शान्त बैठा रहता है। गृह-स्वामी जो ग्रास उसको प्रदान करता है, वह उसे खाकर ही संतोष कर लेता है; परंतु दूसरा कुत्ता इसके सर्वथा विपरीत इस ताक मे रहता है कि घरवालों की जरा-सी आँख चूके तो वह चौके में घुसकर रोटी उठाकर रफूचक्कर हो जाय। इसी प्रकार अधिकांश गाय, भैंस आदि—मालिक जो चारा उनके आगे डालता है, उसे खाकर ही संतोष करती हैं; परंतु कुछ ऐसी भी होती हैं, जिनको हरे खेत खाने की बुरी आदत होती है। गोपाल उनके गले में घंटा बाँधता है, मोटा लक्कड़ बाँधता है; परन्तु फिर भी वे काँटों की ऊंची बाड़े लाँघकर हरा खेत खाए बिना नहीं मानती हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी दो प्रकार के स्वभाव के हैं—एक तृप्त, दूसरा अतृप्त। तृप्त वह है, जो अपने घर का चनाचूर—जो भी भोजन मिलता है—उसे खाकर ही संतुष्ट रहता है। उसे अपने पड़ोस में

रहते धनी के उन छत्तीस पदार्थों की कभी लालसा नहीं होती। परंतु ऐसे भी जंगी जीव हैं, जो धनी-मानी हैं, दिन भर नानाविध पदार्थ चरते रहते हैं; परंतु उनकी भोगों से कभी तृप्ति नहीं होती। रात को सोते-सोते भी उनको खाने-पीने के ही स्वप्न आते हैं। बस, समझ लीजिए कि जो प्राणी तृप्त कोटि के हैं, वे ये हैं, जिनके कि पूर्वजन्म के संबंधी श्राद्ध कृत्य करते हैं, जिसके फलस्वरूप उनको यह तृप्ति प्राप्त है। दूसरी कोटि के अतृप्त व्यक्ति वे हैं, जिनके पूर्वजन्म के नास्तिक पुत्र श्राद्धादि नहीं करते। वे लालसा के गर्त में पड़े भटकते हैं।

पितरों को दिखा दो तो हम मानें?

यह नास्तिकों का अन्तिम ब्रह्मास्त्र है। परतु इन सज्जनों को यह विदित नहीं कि स्थूल शरीर ही नेत्र का विषय है। सूक्ष्म आत्मा चर्म-चक्षुओं का विषय नहीं। मरते हुए प्राणी का जीव सबके देखते-देखते निकल जाता है; परतु वह किसी को भी दीख नहीं पड़ता। अतः जो जीव शरीर से निकल गया है वही श्राद्ध में आवाहन करने पर आता है। जब वह जाता हुआ नहीं दीख पड़ा, तब वह आता हुआ कैसे दीखेगा? जाते को नास्तिक दिखा दें तो हम आते को दिखा देंगे। योगी और दिव्य चक्षु वालों का ही पितृदर्शन होते हैं। भगवान राम के वन में श्राद्ध करते समय सीता माता ने निमन्त्रित ब्राह्मणों में दशरथजी के दर्शन किए थे। यह इतिहास-पुराण ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। वस्तुतः मृत व्यक्ति के आत्मा को शान्ति पहुंचाने की इच्छा एक स्वाभाविक मानव-भावना है। मुसलमान कब्रों पर दीपक जलाते हैं, फातिहा पढ़ते हैं, ताज़िया निकालते हैं। रोमन कैथलिक ईसाई कब्रों पर पुष्प-वाटिका लगाते हैं, दूध की बोतलें रखते हैं, क्रॉस का चिन्ह खड़ा करते है। आर्यसमाजी अजमेर में स्वामी दयानन्द के चितास्थान पर अखण्ड अग्नि जला रहे हैं! अन्यान्य सभ्य लोग भी सभा जुटाकर एक मिनट सब मौन खड़े होकर खास प्रार्थना करते हैं; श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं। ये सब विभिन्न क्रियाएँ श्राद्ध की प्रतिनिधिभूत क्रियाएँ ही हैं। यह विषय इतना विस्तृत और परिश्रमगम्य है कि जिसे एक लेख क्या किसी एक ग्रन्थ में भी पूरा नहीं लिखा जा सकता। ●

'सारङ्ग' सबद रा ३२ अर्थ

हन्स सरप वीणा हरख मोती मोर भुणाय
साँच नाद आकास सुख कोमल कमल कुहाय
बज्र रूख नारेल बक केसर मेह कुहात
सीह चन्द तरवार तृण सूरज दीप सुहात
परबत हाथी खैंग गढ चन्नण अगन चवन्त
बाबहियो पाणी वलै गरड़ गुजाब गणन्त

तीन पौराणिक पात्र और उनका वैज्ञानिक स्वरूप

(त्रिलोक गोयल : अजमेर)

ब्रह्मा, विष्णु और महेश पुराणों के तीन प्रमुख पात्र हैं। ये त्रिदेव ही सृष्टि के आधारभूत हैं। कामायनी में मनु महाराज के मुखारविन्द से प्रसाद जी कहते हैं सृजन, सिंचन, संहार इन तीनों स्थितियों के अभाव में विश्व का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता। जड़ चेतन हर एक के लिये ये तीनों ही स्थितियाँ अनिवार्य हैं। भारतीय दर्शन ने इन तीनों विभागों के संचालकों के रूप में ही इन तीनों महापुरुषों की कल्पना की है। ब्रह्मा जन्मदाता, विष्णु पोषक तथा शिव संहारक। पुराणों व अन्य धर्म ग्रन्थों में इन त्रिमूर्तियों का विशद विवेचन मिलता है। अपने-अपने दृष्टिकोण तथा भावना के अनुकूल विद्वानों ने इनकी व्याख्या की है।

कुछ मनीषी इन्हें वैदिक काल के आर्य महापुरुषों के रूप में यथार्थ पात्र मानते हैं कुछ काल्पनिक। इस विवाद में पड़ने की हमें आवश्यकता नहीं है कारण कि चाहे वे वास्तविक हों चाहे काल्पनिक अधिक अन्तर नहीं पड़ता। हमारे पूर्वजों कि यदि यह कल्पना भी हो तो भी यह कितनी महान है, कितनी ठोस है जो किसी भी अस्तित्व आधार से बढ़कर है।

देश, काल, धर्म, जाति सभी सीमाओं से ऊपर उठकर अपनी मान्यताओं के अनुरूप यहाँ मैं उनका शाश्वत और वैज्ञानिक स्वरूप आपके समक्ष प्रस्तुत करूँगा।

ब्रह्मा के अनेक पर्याय हैं। स्रष्टा, अज, चतुरानन, विधाता, प्रजापति आदि। हर शब्द उनके स्वरूप को स्वयं स्पष्ट करता है। चार मुख, कमलासन, हाथ में पोथी, कमण्डल, हंस पर सवार स्थानाभाव के कारण अधिक गहराई में न जाकर मैं यहाँ संक्षेप में कुछ मोटी-मोटी बातों का ही उल्लेख कर रहा हूँ। शारीरिक रूप से उनके चार मुख थे इस बात को अवैज्ञानिक मानते हुए मैं उन्हें प्रतीक रूपमें मान्यता दे रहा हूँ। चार मुख का अर्थ है चहुँमुखी प्रतिभा वाला जिनकी दृष्टि चतुर्मुखी हो, जिनसे अजाना कुछ न हो। कमल हिन्दू संस्कृति का प्रतीक है और ब्रह्मा उसे अपना आसन बनाकर संरक्षण दिये हुए है। सम्पूर्ण सृष्टि का सर्जक जगत पिता ब्रह्मा सादा जीवन उच्च विचार का साकार स्वरूप है। कविकुल इन्दु बाबू भारतेन्दु ने अपने एक प्रसिद्ध पद मे लिखा है "करम गति टारे नाहिं टरे" और इस कार्य की गति को अंकित करने वाला है विधाता, जैसी करनी वैसे ही विधि के लेख। उनकी न्यायप्रियता का चिह्न है हंस, नीरक्षीर-न्याय जगत विख्यात है। दूध का दूध पानी का पानी वही हंस उनका वाहन है द्रुवगामिता

पवित्रता और सात्विकता की प्रतिमूर्ति उसके बिना बूढ़े ब्रह्मा की गति कहाँ ? प्रजापति का एक शाब्दिक अर्थ है कुम्हार जिस प्रकार कुम्भकार निरन्तर मिट्टी के पात्र व खिलौने गढ़ता रहता है उसी प्रकार यह स्रष्टा भी मनुष्य, पशु पक्षी कीट पतंग, लता वृक्ष. नाना प्रकार के निर्माण में तल्लीन रहता है साथ ही ऋतुएँ, नक्षत्र, सभी उसके संकेत पर संचालित होते हैं इसीलिये कहा जाता है कि 'उसके आदेश बिना पत्ता भी नहीं हिलता'। प्रजापति का दूसरा अर्थ है प्रजा का स्वामी प्रजा का पालक ऐसा लगता है कि वैदिक काल का हर शासक इस उपाधि से विभूषित किया जाता था। उन ब्रह्माओंमें कोई विशिष्ट शासक सर्वाधिक लोकप्रिय होकर इस श्रृंखला के प्रतिनिधि या प्रतीक के रूप में आज तक पुज रहे हैं। जिनकी सहचरी भी कैसी हैं मां वीणापाणि सरस्वती जो सकल विद्याओं और ललित कलाओं की एक मात्र अधिष्ठात्री हैं साथ ही देवर्षि नारद जैसे पुत्र जो सुरअसुर, नाग, नर, किन्नर यक्ष सभी का कल्याण करने वाले प्रभु के अनन्य भक्त और अखण्ड ब्रह्मचारी उलझी से उलझी समस्याओं का तत्काल सुलझा देने की अद्भुत बुद्धि रखने वाले ऐसे सहयोगियों के एवं असाधारण क्षमता के बिना क्या ब्रह्मा के सदृश्य सृजनशील होना सम्भव है ? श्रम की इतनी साधना क्या सहज ही हो सकती है।

आप ही के नाम पर ब्रह्मप्रदेश की स्थापना हुई, सम्पूर्ण जगत में ब्रह्माजी के मंदिर होने का एकमात्र गौरव अजमेर के समीप ही सात मील पर स्थित तीर्थ गुरु पुष्करराज को है—उसी क्षेत्र में ब्रह्माजी ने एक वृहद् यज्ञ किया था इसी कारण वह ब्रह्म पुष्कर के नाम से प्रख्यात है। ऊपर पर्वत शिखर पर जगज्जननी सावित्री विराजमान है। ऐसे आदि देव के चरणों में कौन हतभागी नत शिर नहीं होगा ?

सृजन के पश्चात पोषण की समस्या आती है जो सबसे अधिक कठिन कार्य है। आज भारत के दुखी होने का मूल कारण यही है कि सृजन और संहार का कार्य तो आवश्यकता से अधिक चल रहा है किन्तु पोषणकार्य अत्यन्त शिथिल है। तो पोषण जैसे दुर्लभ कार्य के संचालक हैं शक्ति, शील और सौंदर्य के सिन्धु परमब्रह्म विष्णु। राम, कृष्ण नृसिंह, वाराह, रामदेव आदि जितने भी छोटे बड़े अवतारों की कल्पना हिन्दूधर्म ने की है सब विष्णु के अंशावतार के रूप में ही माने जाते हैं। इनके अनुयायी वैष्णव कहलाते हैं विष्णुपुराण, विष्णु सहस्र नाम आदि विविध ग्रन्थों ने उनकी विभिन्न नामों से अभ्यर्थना की हैं। यथा लक्ष्मीपति, त्रिलोकीनाथ, शेषशायी, चतुर्भुज आदि आदि। किरीट, कुण्डल, पीताम्बरधारी, चारों हाथों में शख चक्र, गदा, पद्म, क्षीर सागरनिवासी, गरुड़आसीन चरणचापती महामाया ऐसा भव्य और अनूठा व्यक्तित्व है भगवान विष्णु का।

लक्ष्मीपति हुए बिना भला भरणपोषण का कार्य संभव ही कैसे हो सकता है ? जिसके जिम्मे विश्व के परिवार का भार हो उसे तो अतुल कोष चाहिये ही। अतः ये लक्ष्मीपति हैं।

जो पालन करे वही पिता, पति, नाथ, स्वामी, सब कुछ ही है। तीनों लोकों के पालनकर्ता को सम्पूर्ण शब्दकोष उनकी प्रशंसा में थोड़ा है। कीड़ी को कण और हाथी को मण देने वाला वही दयालु है।

साक्षात काल शेषनाग विष्णु की शैया है जो तक्षकों का तक्षक है वही फण फैलाकर रक्षक बना बैठा है। शत्रु सिरहाने पर निशंक सोये हैं, कितना दृढ़ आत्म विश्वास है। दूसरी तरफ नाभि से विस्तृत कमल नाल पर स्रष्टा, ब्रह्मा विराजमान है- चरणों का धोवन पतितपावनी गंगा। ऐसे उत्कृष्ट व्यक्तियों के चरणों का प्रक्षालित जल ही चरणोदक बन कर कल्याणकारी हो जाता है। कल्पना भावना और यथार्थ की कैसी विस्मय कारी त्रिवेणी निहित है भगवान विष्णु में। वे तो चार हाथ वाले नहीं अनन्त भुजा वाले है तभी तो बीस भुजा वाले दशानन तक उनसे मात खा गये। इसी कार्यक्षमता के कारण ही तो पुजते हैं। पद्म धर्म और संस्कृति शंखजागरण, गदा पापी भंजकता का प्रतीक है तो चक्र सृष्टि के चक्र को चालित करने का चक्र, तेज, शक्ति और गति का चिन्ह है।

विष्णु का मोहक शृंगार हृदय हारी वेश-भूषा कला और सौंदर्यप्रियता का सूचक है—कर्त्तव्य पालन की व्यस्तता के कारण कोई ललित कलाओं को बिसरा दे तो सिवाय नीरसता के क्या पायेगा।

पोषण जैसा कठिन कार्य करते हुये भी कोई क्षीरसागर में निश्चिन्त होकर सो सकता है, कैसा विरोधाभास है। पर यह यथार्थ है। वे वास्तव में समुद्र के समान गम्भीर हैं, कितना ही कार्य हो, कितना ही उत्तरदायित्व हो उन्हें विचलित नहीं कर सकता। क्योंकि उनके पास है शीघ्रगामी वाहन [illegible] गरुड़ [illegible] का [illegible], [illegible] [illegible] का [illegible] और [illegible] के प्राण बचाये जा सकते हैं ?

[illegible] है [illegible] और [illegible] का महत्व

साथ उनकी रसिकता का कौटुम्बिक प्रेम और आसक्ति में निरासक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। सागर में जहां शीतलता है वहाँ बड़वानल भी है, मोती है वहां सीप और घोंघे भी हैं सबको अपने में समेटे, सदा मुस्कुराते, सब पर वरद हस्त रखे भगवान विष्णु का मंगलमय स्वरूप अभिनंदनीय है।

शान्ताकारं भुजग शयनं पद्मनाभं सुरेशम् विश्वाधारं गगन सदृश्यं मेघवरणम् शुभांगम् लक्ष्मी कान्तं, कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम् वन्दे विष्णु भवभयहरम् सर्वलोकैकनाथम्।

और अब आती है महाकाल शंकर की बारी भूतनाथ, औघड़ दानी, श्मशान निवासी, कैलास वासी, नीलकंठ, त्रिलोचन, त्रिशूलधारी, डमरूवादक आदि विविध नामों वाले महादेव के महाकर्मों का कार्य है विनाश या-संहार का काम सृजन के काम से किसी भी भांति कम आवश्यक नहीं है। जन्मे ही जन्मे तो सीमित संसार में इतने समाये कहां? दो या तीन बच्चे अच्छे के नारे लगाने पड़ेंगे। माता अन्नपूर्णा उन्हें अन्न देते देते स्वयं भूखों मरने लगे। इसके विपरीत यदि जीव मरें ही मरें तो सृष्टि श्मशान हो जाये। आने जाने दोनों ही मार्ग खुले रहने पर ही तो निर्वाह हो सकता है। कितना महान और ऊँचा दर्शन है हमारे देश का हमारे पूर्वजों का। पर इस मृत्यु-विभाग को भला हर कोई अंगीकार कर सकता है? इस कटु कर्तव्य का पालन क्या कोई ऐरा गैरा नत्थू खैरा कर पायेगा।

श्मशान में सोना क्या सहज ही है? जीवन बिताना क्या हर किसी के बस की बात है? प्रेतात्माओं में विचरना क्या हँसी खिलवाड़ है?

अपनी आत्मा पर इतना नियंत्रण किसे है ? यह क्षमता यह सामर्थ्य शंकर के सिवाय और किसी में नहीं हैं। इतनी गालियाँ अपयश, और अभिशाप पाकर क्योंकि जिसके घर का प्राणी मरेगा वह मृत्यु को कोसेगा ही—मुस्कराना क्या किसी साधारण प्राणी, साधारण प्रतिभावान या साधारण देवता का काम है। जिस विभाग को अन्य कोई न ले सका उसे ही तो शिव ने सहर्ष स्वीकार किया है, जिस विष को पीने से अमृत पीने वाले सारे देवता भय खा गये, उसे पीने वाले नीलकंठ आशुतोष सोमनाथ ही तो हैं। अन्य देव खाते हैं मावा मोहन भोग, मिष्ठान्न, हमारे सदा संतोषी सेतुबन्ध रामेश्वर प्रसन्न हो जाते हैं भंग धतूरे से और इस विष का शमन करने की औषध सदा साथ रखते हैं सुधा। सुधा क्या सुधाकर—नशा न करें तो मृत्यु के दुख को भूल कर मस्त कैसे रहे—समस्त विश्व का विष वेदना पीने से ही तो वे देवों के देव महादेव कहलाते हैं। सबका अमंगल, अशिव स्वयं ग्रहण करते हैं —और करते हैं शिव, कल्याण भस्मासुर, रावण, कंस जैसे नराधमों को भी वर देने वाला भोला भण्डारी और कौन है, सबके लिये समदृष्टि सबके लिये कृपा की दृष्टि और अध्यक्ष है मृत्यु के महकमे के।

हमारे शास्त्रों में मृत्यु को भी अमंगलकारी नहीं माना तभी तो धूम-धाम से बैकुंठ-यात्रा निकाली जाती है, भोज होते हैं—जानते हैं कि आत्मा ने पुराना जीर्ण चोला बदला है। शिव-तांडव जिससे विलासता में डूबना तो दूर विप्लव आ जाता है जो अपने ढंग का प्रथम और अंतिम नृत्य होता है तन्मयता की पराकाष्ठा, जिससे वसुन्धरा कम्पायमान हो जाय ऐसा लय ताल का ज्ञाता कहीं अन्यत्र देखा सुना है ?

कामदेव को भस्म कर रति को अनंग का वर देना बहुत गहरी बात है यह घटना जहां उनके क्रोधी और दयालु स्वभाव को प्रकट करता है वहां उनके भोग में योग की बात को बताता है। बभूत रमाकर भी वे पार्वति के बिना क्षणभर नहीं रह सकते यह उनकी आसक्ति या विलासता नहीं कर्त्तव्य के प्रति जागरूकता है।

अपने इष्टदेव विष्णु का चरणोदक गंगा के रूप में सदा मस्तक पर धारण किये रहते हैं।

कटि में बाघम्बर तो वाहन नन्दी। जहां बैल जैसे निरीह प्राणी को इतने महान पुरुष ने यह मान प्रदान किया, वहाँ हिंसक पशु सिंह की भी अवहेलना नहीं है। दुर्गावतार उमा, तारकासुरसंहारक, स्वामी कार्तिक, प्रथम पूज्य रिद्धि सिद्धि दाता गजानन, डाकिनी, पिशाचिनी के नायक भैरव, सभी उनके कुटुम्बी और अनुचर हैं—उनके कार्य के सहायक हैं। उपर्युक्त महान गुणों के कारण ही हर गांव में चाहे और कोई मंदिर हो या न हो शंकर का मंदिर अवश्य होता है।

———

धर्म का वैज्ञानिक विश्लेषण

(गोविन्द कल्ला : जोधपुर)

ब्रह्म की सृष्टि-जिज्ञासा से उद्भूत प्रकृति और उसके तीन गुणों एवं पाँच तत्त्वों से जिस जगत की प्रक्रिया का सर्वोत्तम प्राणी मनुष्य है, जो भौतिक बोध से निरा अपूर्ण 'मैं' के पाश में बुद्धि के सर्वोत्तम संस्कार, विवेक से अलंकृत होते हुए, उस शूद्र-जीव से भी अधम है जब तक कि वह विवेकपूर्ण 'मैं' को पहचान कर 'मैं'-शून्य नहीं हो जाता। जागृत, सुषुप्ति, तुरीय और निद्रा अवस्थाओं में दिखनेवाला हड्डियाँ और माँसपेशियों का बना हुआ मनुष्य, उस मनुष्य से अलग है जो इनसे परे है और पूर्ण-पुरुष है। ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति द्वारा निस्वार्थ भाव से कर्मशील साधक जब साधना के चरम लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ विवेक की पराकाष्ठा पर मोक्ष की जिज्ञासा से भी मुक्त हो जाता है, तब मनुष्य पूर्ण-पुरुष होता है।

विवेक का प्रकाश-पुञ्ज धर्म, प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जाने वाला सेतु है, जहाँ साधक अपने चरम-लक्ष्य को प्राप्त करता है किन्तु आज धर्म का अर्थ अन्यथा लगाया जा रहा है। कुछ अधकचरे साक्षर अन्धानुकृत प्रभावों से चुंधियाये हुए लोग इसकी स्वस्थ मान्यताओं-परम्पराओं आदि को रूढ़ियाँ कहकर या पाखण्ड आडम्बर आदि कह कर, हेय दृष्टि से देखते हुए इसका तिरस्कार करते हैं।

धर्म मेरी दृष्टि में दो उत्तरदायित्व पूरे करता है :—

(अ) धर्म प्राथमिक स्तर पर सामाजिक स्वास्थ्य का प्रतीक है अतः यह स्वस्थ नागरिक और स्वस्थ समाज की रचना करता है।

(ब) धर्म, मानव जीवन के चरम लक्ष्य का मार्ग प्रशस्त करता है।

इस प्रकार धर्म लौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार के जीवन के लिये सफलता का सूत्र है।

धार्मिक अनुसन्धान, निश्चित रूप से स्वस्थ परम्पराओं का पुनर्गठन करने में सक्षम है, ऐसी मेरी मान्यता है। मैं भौतिकता और आध्यात्मिकता को एक दूसरे का विरोधी नहीं मानता। यह एक दूसरे की पूरक हैं। बुद्धिमता पूर्ण समन्वयात्मकता ही तो धारण करने योग्य सत्य है। धर्मार्थकाम मोक्षाणाम्" (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) इनका संतुलन ही तो धर्म है। मीमांसा सूत्रकार जेमिनी ने भी कहा है, यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" अर्थात् जिससे इहलोक और परलोक दोनों में उत्कर्ष हो, वही धर्म है। परलोक की बात धर्म के जिस पक्ष से सम्बद्ध है उसमें तो महात्माओं का ही अनुसरण करना होगा परन्तु जहाँ इहलोक की

भौतिकता से धर्म सम्बन्धित है, उसे वैज्ञानिक दृष्टि कोण से परखें।

चीन की नाड़ी-छेदन (ऐक्यु-पञ्चर) पद्धति समस्त बीमारियों का सफलता से उपचार करती है। यह उनकी अपनी देन है। भारतीय आयुर्वेदिक विज्ञान ने कान को नाड़ीसंस्थान का केन्द्र-बिन्दु माना है अतः शौच और लघुशंका के समय नाड़ी संस्थान को संयमित रखने के लिये जनेऊ नाम का एक धागा धर्म के साथ जोड़ दिया। हमारे समस्त संस्कारों का औचित्य, उनकी वैज्ञानिकता संबद्ध है। सगोत्र, सपिण्ड में विवाह न करना भी एक स्वस्थ परम्परा है। वंशानुक्रम मनुष्य के शरीर को प्रभावित करता है, ऐसा मनोविज्ञान और जीव विज्ञान मानते हैं अतः कर्णछेदन संस्कार भी इसी सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। एक गोत्र के लड़के के साथ दूसरे गोत्र की लड़की का पाणिग्रहण जहाँ स्वस्थ सुन्दर और योग्य बालक को जन्म देने की आकाँक्षा है ठीक इसी के साथ एक गोत्र के दोष दूसरे गोत्र में न चले जायें अतः कर्ण-छेदन, नाकछेदन इत्यादि क्रियाएँ पूर्ण रूप से वैज्ञानिक तथ्य हैं। अगर किसी के बच्चे का कान और नाक दोनों में बड़े छेद करा देते हैं और बच्चे का नाम भी प्रायः अमरदत्त, अमरचन्द या मोहवश 'कुड़की' 'बाली' इत्यादि रख देते हैं और वे बच्चे जी जाते हैं अर्थात् दोनों वंशानुक्रमों में बह रहे अप्रासंगिक प्रवाहों को कर्णछेदन और नाकछेदन द्वारा अवरुद्ध कर देते हैं। ठीक इसी तरह शिखाधारण करना, तिलक और 'टीकी' लगाना भस्मी धारण करना, पंचामृत लेना, भगवान के भोग में तुलसी की अनिवार्यता, ग्रहण के समय पानी में 'डाब' डालना, 'चैत' मास में शीतला अष्टमी पर 'ठंडा' खाना, गधे पे सवारी करना, 'फाल्गुन' मास में 'फायसा गीत गाना (बोम्बे मेडिकल कालिज के व्याख्याता द्वारा इस मास में 'फायसा गीत गाने' से चर्म रोग नहीं होता, एक लेख विशेष अनुसंधानों के आधार पर प्रकाशित हुआ था), रजस्वला हो तो किसी भी प्रकार के कार्य करने की अनुमति नहीं देना इत्यादि धर्म के नाम पर वैज्ञानिक तथ्यों के साथ स्वास्थ्य के शाश्वत नियम हैं।

●

जुरा पथर नैं आवै

(*महन्त ओपनाथ : सिरोही*)

थोड़ो कियाँ भरोसो थारो, बीसै वातें लखण बुरा
लूटँ कुण तो बिन लाखीणो, जोबन-सिरखो रतन जुरा
अरजन-भीम जिसा आळीजा, रेसो बेदळ कियाँ रंगै
जो तुझ बिना कँवळ जोबन रो, नवपण जिसा अमोल नगै
पीळा चावळ केण परठिया, बेगम आवे माणं बिणे
हेर लिया जण-जण रा हेतू, पण रा रावण तरण पणे
चकवै खट थाका तन छेवे पाका ज्यूं तरवर रा पात
ओपा जुरा पथर नें आवे, मानव-देह तणी कुण मात

भरमल

(पोथी : कुँवरसी साँखलो स्यूँ)

भरमल री सोभा सकळ, एकण जीभ न होय
जे मुख में सौ जीभ हो, तो कुछ बरणन होय

वेणी देखी सीस पर. बासग भयो मलीन
स्याम सचिक्कण सरळ सुध, आछी नरम नवीन

मुख को सोभा देख कर, ससहर रह्यो लजाय
नाक सुवे री चाँच ज्यूँ, ग्रीवा मोर-सुभाय

आँखड़ियाँ रतनाळियाँ, म्रग सारिस उणहार
कान पान चम्पे तणा, असल अनूप सँवार

अधर प्रवाळी सारसा, दाँत दाड़िमी बीज
रसना नागरपान सी, चूँपाँ चमकै बीज

गाल गिरीदळ रस सुघर, ठोडी चिबुक अनूप
लाल कपोल बिराजही, भूहाँ धनख सरूप

कुच नारंगी कँवळ-फळ, सुन्दर चूँच चिणाय
बाहाँ गज-री सूँड ज्यूँ चूड़े सुरही छाय

मूँगफळी-सी आँगळी, हाथ पीपळी-पान
नख सुरंग अळते रच्या, किस विध करूँ बखाण

हिवड़ो सञ्चे ढाळियो, सायर उदर गँभीर
केहर लंकी कामणी, मन स्यूँ सरस जँभीर

पसवाड़े आटी पड़े, पीठ'ज सुरंग सरूप
नाभी फूल अनार रो, अङ्ग सुब्रन्न अनूप

पेट'ज लच्छी पाट री, नितँब नारियर जाण
मदनांकुश री जायगा, त्रिवळी सीप पिछाण

जंघा गरभ'ज केळ रो, पीडी पोहरियाहँ
गिरियाँ गोळ सुपारियाँ, भीणो साँसळियाहँ

एडी लाल ममोळिया, तळियाँ रसना स्वान
पग नें किणविध ओपमा, फूल कँवळ परमाण

वाणी-वंदना

(श्यामसुन्दर 'श्रीपत' : जैसलमेर)

वाणी आय विराज, हंसासण हिवड़ो करै
पूरण कर माँ काज, गुण गावाँ ग्यानेश्वरी
कीरत करी कवेश, शेष देव सुमरी सदा
नित-नित नवला भेष, लिखलिख थाकी लेखणी

सुमरै नित शेष महेश सदा, पण गुण गाताँ नीं पार पड्या
ब्रह्मा सुरेश करता बखांण, 'इति ना इति ना' मुख ऊचरिया
सुत माथै महर करै सुरसत, हिवड़ै सूं हींणा भाव हरै
वांणी जगरांणी, वेद बखांणो, कल्यांणी दुख दूर करै

अँधकार भर्यौ जग अंधकूप, प्राणी अग्यांनी पछतावै
माया रै फंद फंसै मांणस, ओसाण न ग्यान बिना आवै
सुलझै पल में संकट सारा, दे ग्यांन-दांन दुख दूर करै

नश्वर जग सूँ नर करै नेह, बिलमावै पाप ब्रह्म बिसरै
साँचो सुख भोग तणो समझो, नित ऊमर रा दिनड़ा निसरै
देवै जद ग्यान दांन देवी, गाढोड़ा पाप गरुड़ गुजरै

सगती थारी कुण माप सकै, परमेश्वर सूं नीं पार पड़ै
उलटावै ब्रह्मा रा आखर, कविता जद रण-हुँकार करै
जूंभण लागै जोधा जबरा, भैरव खप्पर भरपूर भरै

मावड़ सुत माथै करै महर, वांणी सांचौड़ी रो वर दे
रसना सरसै कविता-रस सूं वांणी में माँ अमरत भरदे
बोलाये नित साँची वांणी, छल-छद्म कूड़ माँ चूर करै

समझणियाँ रै नित रहूँ साथै पाखण्डी सूं नीं कांम पड़ै
वांणी गुणियाँ-आगल बोलूं, गांणस रो साँचो मोल करै
अवगुणियाँ-आगल आखण रा करमाँ रा लेख करूर टलै

उद्घाटनोत्सव : १८ जून १९७५.

उलटा-सीधा आखर उचरै, कद मावड़ सुत सूं क्रोध करै
चट लेवै गोद लिलाड़ चूम, प्यावै थण मन आनन्द भरै
जणणी नीं काव्य-दोष जांणू माँ है जेड़ा मंजूर करै

त्र्यम्बिकी खुल गई

(डॉ० दयाकृष्ण विजयवर्गीय : कोटा)

थाम कर नाम के निरवरण प्रिय चरण
बाँसुरी हो गई श्वाँस की लकुटिया

(१)

मौन जिह्वा हुई, मौन सुमरिन हुआ
जाप अजपा जपा जा रहा है स्वयं,
सुरति-रस में डुवा कामना-मछलियाँ
विन्दु के नाद में खो गया है अहम्
पलक-पट तो मुँदे, रूप-रस से छके
त्र्यम्बिकी खुल गई ध्यान की भृकुटिया

(२)

हृदय-आकाश में चाँदनी क्या खिली
खिल उठी प्राण की कुमुदिनी विरहिणी
अमृत-रस की झड़ी क्या लगी, वह उठी
दृग-पुलिन तोड़ती स्नेह-मन्दाकिनी
शब्द के रास में नाचते-नाचते
राधिका हो गये मोरपंख-मुकुटिया

—:o:—

जैन लोगों द्वारा संरक्षित लोक-कलाएँ

(डॉ० महेन्द्र भानावत : उदयपुर)

हम तो सनातन-धर्मी हैं अतः हमारी राय में जो भी धर्म मानव के श्रेष्ठ कर्मो को सनातनता प्रदान करे वह भी ठीक-ही है। इस लेख मे जैन-धर्म का कुछ भी नही है किन्तु जो है वह उस सच्चे राजस्थानी की स्थायी-निधि है जो हिन्दू-मुस्लिम-सिख्ख-ईसाई-जैन-पारसी कोई भी है किन्तु शर्त यह है कि वह लोक-कलाओ से उपरत कोई अरसिक अज्ञान व्यक्ति न हो।

—सम्पादक

जैनी लोग धर्मजीवी होते हैं। उनका सारा जीवन धार्मिक ताने-बाने से गुँथा हुआ होता है। व्रत, उपवास, अनुष्ठान, तपस्या, इष्ट-आराधना एवं अन्यान्य धार्मिक क्रियाकलापों तथा विश्वासों में समर्पित भाव से अपने तन-मन-धन को लगाने में ही उन्हें आनंद की अनुभूति होती है। साहित्य, संगीत, संस्कृति एवं कला के उन्नयन तथा प्रचार-प्रसार में जितना योग जैनों का रहा है उतना अन्य किसी का नहीं। जैन-ग्रंथ-भडारों में संरक्षित विपुल एवं समृद्ध सामग्री को यदि विस्मृत कर दी जाय तो हमारे इतिहास की सांस्कृतिक पीठिका का नक्शा ही नगण्य हो जायगा। जैन-मंदिरों का कलात्मक शिल्प और वास्तुकारीगरी की कहीं कोई समता नहीं। मंदिरों के भित्तिचित्र, हस्तचित्र तथा काष्ठचित्रों के संरक्षण एवं विकास में भी इनका वेजोड़ योग रहा है। जैनी लोग प्रारंभ से ही वणिक अधिक रहे हैं। अपने व्यापार द्वारा विपुल धन कमाकर अधिकाधिक पैसा अपने धर्म-कर्मों तथा सांस्कृतिक अभिरुचियों में खर्च करने की उनकी तबीयत रहती है। लोकसंस्कार जितने उत्साह और आनंदपूर्वक जैनियों में मनाये जाते हैं उतने अन्य जातियों में नहीं। अन्य जातियाँ स्वतः मनोरंजित होती हैं, स्वयं नाचती गाती हैं परन्तु जैनियों के यहाँ अन्यान्य कलापेशा जातियाँ जो-जो अपना हुनर-कर्म करती हैं वे अपनी-अपनी कला की उत्कृष्ट कृतियाँ ऐसे प्रसंगों पर प्रस्तुत करती हैं। विवाह-शादी पर चित्रकार भांति-भांति के चितराम दीवालों पर अंकित करता है। विवाह के लिये ये चित्र मांगलिक समझे जाते हैं इसीलिए इनके बिना विवाह की शुरुआत हो ही नहीं सकती। यों अब तक की खोजों के अनुसार संसार की प्राचीन से प्राचीन कलाओं के उदाहरण भित्तिचित्रों के ही प्राप्त हुए हैं। ये भित्तिचित्र चाहे पुरातन गुफाओं के हों, चाहे धर्मस्थानों, राजप्रासादों अथवा सेठ-श्रीमंतो की हवेलियों के हों, कलात्मक अंकन में सर्वाधिक महत्त्व इन्हीं भित्तिचित्रों का रहा है। प्राचीन ग्रंथों में ऐसे वर्णन भी मिलते हैं जबकि श्रेष्ठीजन अपने-उद्यानों में विविध प्रकार की काष्ठ, प्रस्तर, चित्र तथा लेप्य कारीगरी से आलीशान चित्रशालाएँ सजवाते थे। श्रुताँग नाया धम्म कहाओ (१३, ९९) में मणि-

कार श्रेष्ठिनंद राजगृह के उद्यान में एक इसी प्रकार की चित्रशाला बनवाता है जिसमें सैकड़ों स्तंभ और नाना प्रकार की लकड़ी, चूने, सीमेन्ट, रंग व मिट्टी तथा विविध प्रकार के द्रव्यों की आकृतियों का निर्माण कराता है।

विवाह के विविध प्रसंगों पर गाने-बजाने वाले कलावंत पनपे, ढोल बजानेवाला ढोली, वांकिया बजानेवाला वांकियेदार तथा ताशेवालों को संरक्षण मिला कारण कि गाजे-बाजे के बिना विवाहश्री का रंग ही फीका रह जाता है। इसी प्रकार कुंकुम के तिलक के लिए कलात्मक चोपड़े, लड़की को देने के लिए कलात्मक बाजोट, दूल्हे के स्पर्श के लिए कलात्मक तोरण, कलात्मक खाट, गंजफा खेल की विविधरंगी काष्ठ टिकियां, पुतली-खेलकी कलात्मक पुतलियाँ, कलात्मक रोड़ोथंम, कलात्मक पेटियों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए खैरादियों को धंधा मिला और उनकी संपूर्ण कलात्मक काष्ठ-कलाओं को संरक्षण मिला। विविध नृत्य-मुद्राओं तथा वाद्यभंगिमाओं में देवदासियों के सुन्दर कलात्मक अंकन, मंदिरों में तथा घरों में सजावट के प्रसाधन बने। कठपुतलियों की हजारों वर्षों की परंपरा को जीवित रखने में भी जैनियों का ही विशेष योग रहा है। विवाह-शादियों तथा अन्यान्य मौकों पर ये पुतलीवाले अपनी पुतलियाँ लेकर आते और उनके विविध करतब दिखाकर इनाम-इकराम पाते थे। आज तो यहाँ की यह धरोहर विदेशों तक को लुभाने, चकित करने में कामयाब हुई है। प्रतिवर्ष विदेशों से आनेवाले सैलानी इनके खेल देखकर दांतों तले अंगुली दबाते हैं। 'भारतीय लोककला मंडल' जैसी संस्था ने तो इन्हीं पुतलियों के आधार पर पारंपरिक पुतलियों का 'विश्व का सर्वोच्च' पुरस्कार अपने नाम किया था।

लोकसाहित्य के संरक्षण में भी जैनियों का कम योग नहीं रहा। पवाड़े, फागु, चर्चरी, रास हीयाली आदि की विपुल रचना कर, इन्होंने लोक-जीवन की इन समृद्ध विधाओं को विकसित और संरक्षित कर इन्हें लुप्त होने से बचाया। महाराणा कुँभा के सम्मानित गुरु हीरानंद सूरि पहुँचे हुए जैन कवि थे जिन्होंने सम्वत् १४८५में 'विद्याविलास' पवाड़ा बनाया जो लोककथा-संबंधी राजस्थानी का पहला काव्य माना जाता है। सुप्रसिद्ध प्रेमाख्यान 'ढोलामारू' के प्राचीन दोहोंको एकत्र कर ढोलामारू की चौपाई की रचना की। इसी प्रकार कवि हरिकलश की सिंहासन बत्तीसी, हेमानंद की वैताल पच्चीसी तथा भोजचरित्र चौपाई भी लोक-कथाओं पर आधारित है। राजा विक्रम की लोक-कथाओं से संबंधित रासकी रचनामें मंगल माणिक्य ने विशेष नाम कमायो। इससे भी अधिक कार्य हुआ लोककथाओं और लोकगीतों की देशियों के आधार पर लोकसाहित्य के विपुल सृजन का। समय सुन्दर, राजलाभ, महिम समुद्र, हरिकलश, हेमानंद, समय-प्रमोद, ज्ञानविलास, जिनहर्ष, जयनिधान, धर्मसी, हंसप्रमोद, देपाल आदि कवियों का हीयाली-साहित्य आज भी उत्कृष्ट साहित्य की लोकधरोहर बना हुआ है। विवाह-शादियों में आज भी पग-पग पर जँवाई को हीयालियों के अर्थ छुड़ाने पड़ते हैं। यदि जँवाई इनके अर्थ नहीं छुड़ा पाता है तो उसे गीत में गालियाँ तक दी जाती हैं। मुकलावे पर जब जँवाई को ताले में दे दिया जाता है तो प्रातः बाहर बैठी औरतें नाना प्रकार की हीयालियाँ गाती हैं जिनका भीतर से जँवाई को जवाब देना होता है। इसी प्रकार भोजन के समय भी कई प्रकार की आरसियां-पारसियाँ गाई जाती है।

मनसादेवी का मन्दिर
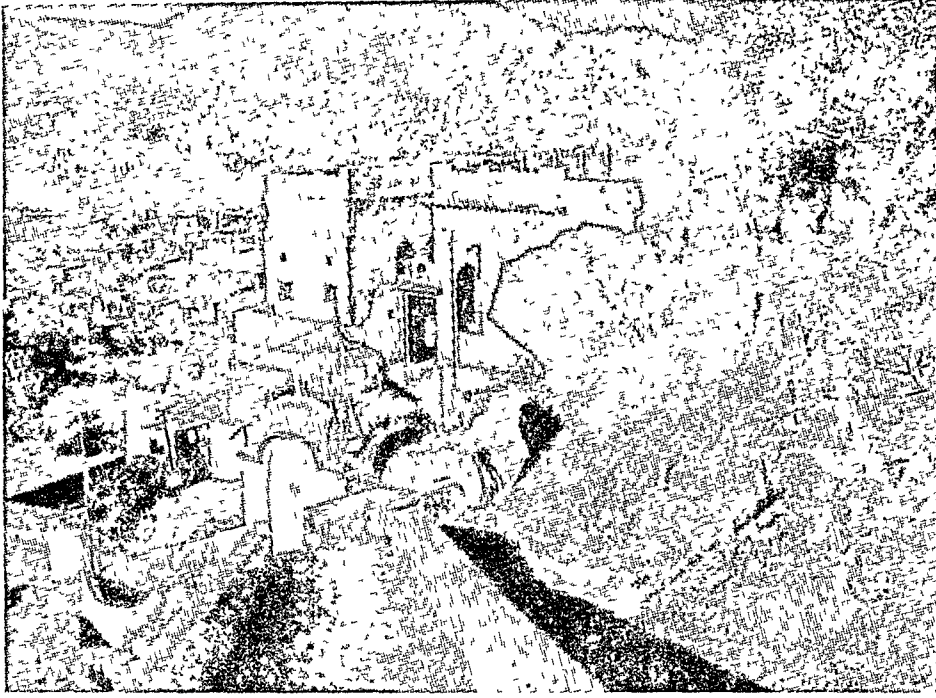
यहाँ ४५० वर्षों पूर्व किन्हीं मिश्रजी को देवी ने दर्शन दिए थे।
वैसे प्राकृतिक मन्दिर होने के कारण भक्तगण इसे
प्राचीनतम पूजा-स्थल मानते हैं।

चौबुर्जा व कानू पीर
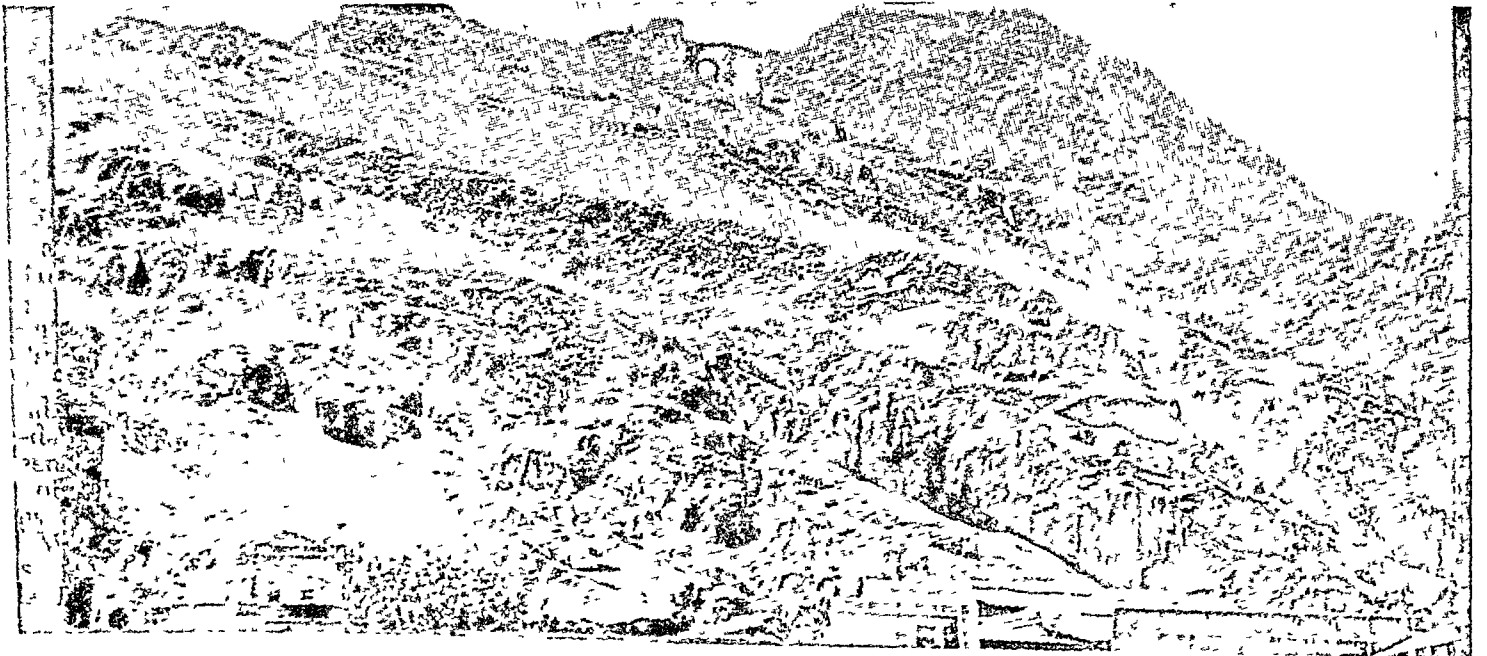
चौबुर्ज की एक बुर्ज दिखाई दे रही है। दूर कानू पीर पहाड़ है
जिस पर खानू खाँ ग्वालियरवालों का चिल्ला है।

भव्य नगर झुञ्झुनूँ
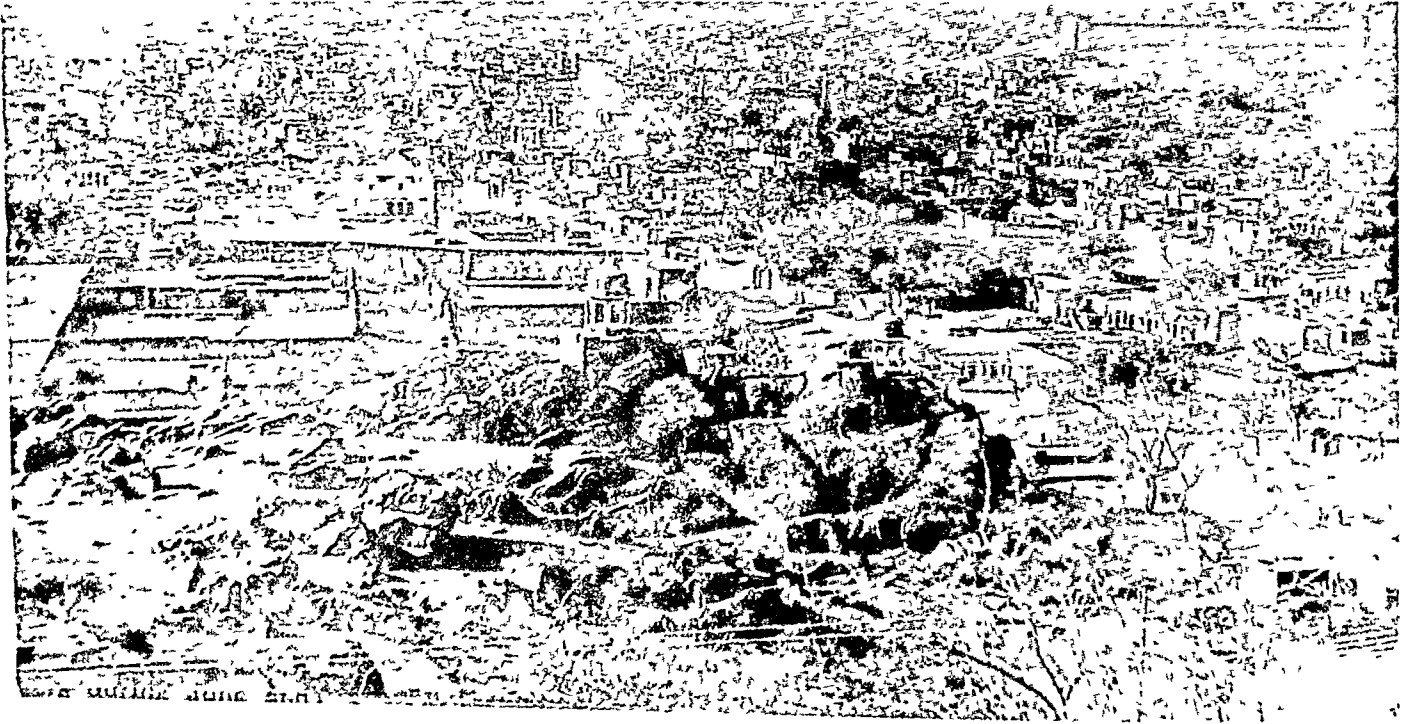
कुं० रघुनाथसिंहजी ने हकीम यूसुफ साहब की अप्रकाशित पुस्तक "झुन्झुनूँ के मन्दिर" की भूमिका में लिखा है—जैन-मुनियों ने बताया है कि यह नगर १३वीं शताब्दी से पूर्व भी विद्यमान था।

मोहन-बाग

जहाँ कभी नवाबों के लिए बढ़िया गुलाब उगाए जाते थे।

श्रीपंचदेव-मंदिर के उद्घाटनोत्सव १८ जून १९७५ पर प्रकाशित

लेख लिखने के आधार पत्रों का भी अपना एक कलात्मक इतिहास है। इन आधारों में वल्कल, काष्ठ, दंत, लोह, ताम्र, रजत आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। इन पर लेखन की पद्धतियाँ भी कई थीं। इन पद्धतियों में अक्षर खोदकर लिखने की उत्कीर्णन-पद्धति, सीकर लिखने को स्यूत-पद्धति, बुनकर लिखने की व्यूत-पद्धति, छेदकर लिखने की छिन्न-पद्धति, भेदकर लिखने की भिन्न-पद्धति, जलाकर लिखने को दग्ध-पद्धति तथा ठप्पा देकर लिखने की सक्रान्तित-पद्धति विशेष रूप से प्रचलित थी। महीन से महीन लेखन लिखने की कला में भी जैनियों में मुख्यतः जैनसाधुओंका मुकाबला कोई नहीं कर सकता।

नाटकों तथा ख्याल-तमाशों के क्षेत्र में भी जैनियों का उल्लेखनीय योग रहा है। भगवान महावीर के समय में भी धार्मिक नाटकों का बहुत जोर था। देवसूर्याभ नामक उनके एक भक्त ने स्वयं उनके सम्मुख एक समय बत्तीस प्रकार के नाटक खेले थे। रायपसेणीय नामक उपांगसूत्र में आमलकम्पा नामक नगरी में प्रदर्शित किये जाने वाले इन नाटकों का बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है। रास, चर्चरी, फागुसंज्ञक काव्य-ग्रंथों में भी इनका उल्लेख मिलता है। ये नाटक गेय एवं अभिनेय होते थे जो किन्हीं मांगलिक प्रसंगों, उत्सवों, गुरु-आगमनों तथा मंदिर की प्रतिष्ठा के मोकों पर खेले जाते थे। प्रदर्शकों के साथ-साथ दर्शक भी एकरस होकर उनके साथ गाते थे। इन खेलों में डंडियों का प्रयोग विशेप रहता था तथा नृत्य के समय तालियों का वड़ा शोर था। स्त्रियाँ इनमें वर्जित नहीं थीं। वे भी खुलकर भाग लेती थीं। ये नाटक देर रात तक चलते ही रहते थे। फागु-काव्य फागुन में विशेषरूप से खेले जाते थे इसीलिए इनका यह नाम चल पड़ा प्रतीत होता है।

नाटकों तथा खेल-तमाशों का यह जोर तो आज भी देखनेको मिलता है। गंधर्व-जाति के लोग अपने सभी ख्याल जैन-मंदिरों अथवा जैनियोंकी बस्ती में ही करते हैं। जैनों के अतिरिक्त ये कहीं अपना मंच नहीं मांडते। इनका पड़ाव मंदिरों में रहता है। जैनियों के यहाँ ओसरे के अनुसार इनके खाने-पीने की व्यवस्था होती है और नियमों में भी जैनियोंकी तरह ये बंधे होते हैं। ये लोग रात्रि-भोजन भी नहीं करते और बड़े सात्त्विक होते हैं।

इनके सभी ख्याल धार्मिक आख्यानों से संबंधित होते हैं। इन्हें प्रदर्शित करने के लिए तख्तों का मंच बनाया जाता है जो तीन ओर से खुला होता है। इस पर एक साधारण सा चँदोवा तान दिया जाता है। प्रारंभ में सभी पात्र स्तुति-वंदन के लिए मंच पर आते हैं। मंचकी एक ओर गाने-बजानेवाले बैठ जाते हैं। इन्हीं के पास इनका पोथीवाचक प्रेरक बैठा रहता है जो प्रत्येक पात्र से संबंधित बोल सुनाकर पात्र को गाइड करता रहता है। ये लोग मुख्यतः श्रीपाल-मैनासुन्दरी, सुरसुन्दरी, चन्दनबाला, सोमासती, अंजना, सत्यवान-सावित्री, राजा हरिश्चन्द्र आदि का खेल करते हैं। अलवर, भरतपुर तथा जयपुर में इन लोगों की अच्छी बस्ती है।

राजस्थान में ख्यालों की वड़ी समृद्ध परंपरा रही है। ये ख्याल यहाँ गायकी, नृत्य-अदायगी तथा रंगशिल्प की दृष्टि से विभिन्न शैलियों में प्रदर्शित किये जाते हैं। इनके संरक्षण में भी जैनियों का भारी योग रहा है। आज भी यहाँ के दलों को प्रवासी-राजस्थानी-जैनी बैंगलोर, कलकत्ता, मद्रास,

बंबई आदि स्थानों पर आमंत्रित कर उन्हें अच्छा खास इनाम सत्कार देकर सम्मानित करते हैं। जैनियों में कई अच्छे लेखक भी हुए हैं जिन्होंने पारंपरिक रंगतों में ख्यालों की उत्कृष्ट रचना की। ये ख्याल आज भी यहाँ प्रदर्शित होते हैं। इनमें डालू अगरवाला का ध्रुवजी का ख्याल, नाथूलाल अगरवाल का खींवो आभलदे, देवर-भोजाई, विक्रमादित्य, चौबोलीराणीका ख्याल, लाला पारसीमल का राजारिसालू का ख्याल, सुन्दरलाल का नरसी-भगत का ख्याल, रामदास बनिया का शनिश्चर महाराज का मारवाड़ी ख्याल लोककंठों पर आज भी अत्यंत प्रिय है। तुर्राकलंगी के ख्यालों के पीछे तो जैनियों ने सैकड़ों रुपयों की निछरावल तक कर दी। तुर्रा तथा कलंगी के अलग-अलग अखाड़ेबालों ने अपने-अपने अखाड़ों की वाह-वाही की होड़ाहोड़ी में पैसों को तो पानी की तरह बहाया ही, साथ ही इन ख्यालों का इन लोगों पर इतना नशा चढ़ा कि उनके परिवार तक में तड़ें पड़ने लगीं। पिता और पुत्रों में अपने-अपने अखाड़ों की प्रतिस्पर्धा सवार हुई। आज भी डूँगला तथा जावद आदि में इन ख्यालों का नशा वैसा ही छाया हुआ है। सुप्रसिद्ध संत चौथमलजी महाराज ने ख्यालों की धुनों में धार्मिक कथानकों पर कई चरित्र लिखे जिन्हें वे अपने व्याख्यानों में नियमित रूप से गा-सुनाकर लोगों को आनंदमग्न कर देते थे। इसीलिए उनके व्याख्यान में जात-पांत धर्म-कर्म का कोई भेदभाव नहीं रहता था। हजारों की तादाद में सारा का सारा गाँव उन्हें सुनने के लिए टूट पड़ता था।

उदयपुर में भी ख्याल-तमाशों का एक समय बड़ा जोर था। जसवंतसागर ने अपने उदयपुर-वर्णन में इनका बड़े विस्तार से उल्लेख किया है। उसने यहाँ तक लिख दिया:

> दसरावो दीपावली, गिण तीजो गणगौर
> चौथे नम्बर ख्याल मे, उदयापुर सिरमौर

इसी उदयपुर में एक कवि देवीलाल हुए जिन्होंने कई ख्यालों की सरस रचना की। इनका एक गुटका कुछ वर्ष पूर्व मेरे देखने में आया था जो लगभग सौ वर्ष पुराना था। इसमें छोटे-छोटे कोई आठ ख्याल लिखेहुए थे। सौ-डेढ़-सौ वर्ष पूर्व के देवीलाल की भांति आज भी उदयपुर में एक देवीलाल और हैं—श्री देवीलाल सामर जिन्होंने न केवल ख्याल-तमाशों की रचना ही की अपितु 'भारतीय लोककला मंडल' की स्थापना कर न केवल राजस्थान में, न केवल हिन्दुस्थान में बल्कि विदेशों तक में यहाँ की लोककला और लोकसंस्कृति का प्रचार-प्रसार कर भारतीय लोककलाओं को विश्व-मानचित्र में प्रतिष्ठित कर बेनजीर मिसाल कायम कर दी। 'कला मंडल' के लोककला-संग्रहालय में इन सारी लोकविधाओं का अलभ्य एवं अद्भुत संग्रह है जिसे देखने के लिए देश-विदेश के लोगों का तांता लगा ही रहता है। लोकनृत्यवाद्यों तथा कठपुतलियों के प्रदर्शन-प्रस्तुतीकरण में भी यहाँ के कला-दल ने विश्व में बड़ा नाम कमाया है। यहाँ के कला-विषयक कई प्रकाशन भी अपने क्षेत्र के अग्रणी सिद्ध हुए हैं। अब तो विश्वविद्यालयों के पठन-पाठन में भी इनका उपयोग होने लगा है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है चित्रकारी के क्षेत्र में जैनियों का जो योग रहा है वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सत्य-झूठ, सुकर्म-कुकर्म, सदाचार-दुराचार

से संबंधित सैकड़ों-हजारों प्रकार के शिक्षात्मक चित्रों द्वारा समाजको सदाचार तथा सुसंस्कृतिमय बनाने में निश्चय ही निराली भूमिका निर्मित हुई है और इससे मनुष्य सरल तथा संयमी जीवन जीने की ओर प्रवृत्त हुआ है फलतः अधिकाधिक सेवा तथा धर्माचरण की ओर उसका तन, मन तथा धन लगा। यही कारण है कि जितने भी धार्मिक कर्म-प्रतिष्ठान हमें देखने को मिलते हैं उनमें से अधिकांश जैनियों द्वारा निर्मित-प्रवर्तित हैं।

कुछ वर्ष पूर्व जैनियों द्वारा निर्मित मुझे चित्र-मय एक ऐसा साँपसीढ़ी खेल प्राप्त हुआ जिसमें सभी ७२ खंडों के विविध नाम अंकित किये हुए हैं। इनमें सबसे ऊपर गज-लोक, शिवलोक, बैकूंठ तथा ब्रह्मलोक हैं। सीढ़ियो से प्राप्त होने वाले लोकों में चंद्रलोक, सूरजलोक, इन्द्रलोक, अमरापुर, तपलोक तथा दिगपाल-लोक प्रमुख हैं। ये सीढ़ियाँ भी गुरुदान, गया, गंगास्नान, हरिभक्ति, देवतपस्या पूजाव्रतधारी, मातपिता की भक्ति, दयाभाव, पर-मार्थ जैसे स्थान-खंडोंसे प्रारंभ होती हैं। सांपों के काटनेवाले खंडों में परनारी-मिथुन, विश्वास-घात, भूठ चुगली, गौ-हत्या, अधर्मी, मिथ्यावान, पशुहत्या, ब्रह्म-हत्या जैसे खंड हैं जिनसे स्पष्ट है कि यदि मानवमें उपर्युक्त दुर्गुण हैं तो उसकी दुर्गति स्वाभाविक है और यह पतन साँप के द्वारा उसे ठेठ तलातल, रसातल, अतरीपाक नरक, पलीत-योनी, कागनरक जैसे स्थानों पर पहुँचाता है जहाँ मनुष्य को भारी यातनाओं की चक्की में पिसना पड़ता है। सांप-सीढ़ी जैसे सैकड़ों चित्रों में मनुष्य को अच्छे-बुरे कर्मानुसार फल-चक्र मिलेंगे। पृथ्वी तथा अन्य ग्रहों के संबंध के भी अनेक चित्र मिलते हैं। तेरापंथी साधुओं की चित्रकारी तथा लिपिकारी तो देखते ही बनती है।

कहने का तात्पर्य यह कि लोककला, लोक-संस्कृति और लोकसाहित्य का कोई क्षेत्र और कोई विधा ऐसी नहीं जिसे जैनियों का संरक्षण नहीं प्राप्त हुआ हो। जैनलेखकों ने अपने-अपने समय की कथा-कहानियों एवं गीतों को धर्म का चोला देकर जो संरक्षण दिया उससे तत्कालीन समाज, सभ्यता एवं संस्कृति का भी भलीप्रकार अध्ययन-अनुसंधान किया जा सकता है। धर्म-स्थानों में धार्मिक लोक-साहित्य की आज भी इतनी विधाएँ मिलती हैं कि जिन्हें देख-सुनकर हमें चकित होना पड़ता है। इनमें से कुछ भजन, स्तवन, ढ़ालें, ब्यावले, पालणे, लेखे, ओरे, गणधर, विरहमान, सपने, बधावे, स्तुतियाँ, थीकड़े, झामोतिये, आख्यान, गरभ-चितारणी, चूंदड़ियाँ, कूकड़े, पटीदिये, बारहमासे, तिथिगीत, काछवियाराणादि प्रेमाख्यान, चौक, पोलिये, सरवण, झामटड़े, गरबे, लावणियां आदि का संग्रह मैंने स्वयं ने किया है। अब तक इस संग्रह की ओर हमारा ध्यान नहीं के बराबर गया है। इस ओर और संधान की आवश्यकता है।

जैनियों का कला-संस्कृति के क्षेत्र में ही नहीं अन्यान्य समाज, जाति तथा वर्ग विशेष के उन्नयन विकास में भी भारी योग रहा है। भीलों के सुप्रसिद्ध गवरीनाट्य में अन्य भारतगाथाओं के साथ वेला-वाणिया का भारत भी सुप्रसिद्ध है। इससेभी जैनियोंकी कलाभिरुचि और समाज-सेवा का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

—:o:—

राजस्थानी लोककथा में गंगावतरण

(डा० मनोहर शर्मा : बिसाऊ)

भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र है—'लोके वेदे च।' अर्थात् यहाँ जो शास्त्र में है लोक में भी है। परन्तु लौकिक वस्तु मे परिवर्तन की विशेष संभावना रहती है। यही कारण है कि लोक-साहित्य की एक ही वस्तु स्थान एवं काल के अनुसार अनेक रंग धारण कर लेती है। ऐसे रूप-परिवर्तन का अध्ययन निश्चय ही अत्यंत रोचक तथा उपयोगी है। इसी तथ्य को ध्यान मे रखते हुए यहाँ राजस्थान मे प्रचलित गंगावतरण की कथा सार-रूप मे प्रस्तुत की जाती है।

पुराण-वर्णित गंगावतरण की कथा अत्यंत प्रसिद्ध है। उसमें सूर्यवंशी महाराजा सगर का अश्वमेध-यज्ञ, उनके प्रति इन्द्र की ईर्ष्या, अश्वमेधीय अश्व की इन्द्र के द्वारा चोरी, कपिल मुनि के कोप से सगर-पुत्रों का भस्म होना और अंत में भगीरथ द्वारा पृथ्वी पर गंगाजी को लाकर उनकी मोक्ष करवाना आदि अनेक छोटे-बड़े प्रसंग हैं। भारतीय जनसाधारण में इस कथा को सुनना पुण्य का कार्य माना गया है, जो इसके महत्व का स्पष्ट प्रकाशन है।

भारतीय संस्कृति का मूलमंत्र है—'लोके वेदे च।' अर्थात् यहाँ जो शास्त्र में है लोक में भी है। परन्तु लौकिक वस्तु में परिवर्त्तन की विशेष संभावना रहती है। यही कारण है कि लोक साहित्य की एक ही वस्तु स्थान एवं काल के अनुसार अनेक रंग धारण कर लेती है। ऐसे रूप-परिवर्तन का अध्ययन निश्चय ही अत्यंत रोचक तथा उपयोगी है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए यहाँ राजस्थान में प्रचलित गंगावतरण की कथा सार रूप में प्रस्तुत की जाती है।

राजस्थान में जमीन खोदते समय यदि कहीं संयोग से कोई पुराना कुंआं प्राप्त होता है तो उसे 'सुगड़ कुवो' कहा जाता है। इसका अर्थ है—महाराजा सगर का कुंआँ। यह नाम उस कुंएं की प्राचीनता का द्योतक है। राजस्थानी जन-साधारण में 'सगर' को 'सुगड़' कहा जाता है। यहाँ ऐसी मान्यता है कि सूर्यवंशी राजा सगर के समय में अगणित कुंएं खोदे गये थे, जिन पर कालान्तर में धूलि फिर गई और वे धरती में लुप्त हो गए। परन्तु उन्हीं में से कोई कुंआँ जमीन खोदते समय संयोगवश प्रकट हो जाता है।

यह सब लोक-विश्वास का विषय। यहाँ महाराजा सगर और गंगावतरण विषय की राजस्थानी लोक कथा दी जाती है—

किसी वन में एक गीदड़ और उसकी स्त्री रहते थे। उनके कोई सन्तान न थी। एक दिन एक शिशु-बालिका उन्हें वन में अकेली पड़ी मिली। वे आनन्द के साथ अपनी घुरी में ले आये और चाव से उसका पालन करने लगे। बालिका समय पाकर बड़ी हुई। वह गीदड़ और उसकी स्त्री को ही अपने

पिता और माता मानती थी। एक दिन एक राजकुमार शिकार के लिये वन में आया और उसने उस लड़की को देखा। राजकुमार उसके रूप पर मुग्ध हो गया और उसके साथ विवाह करने का निश्चय किया। वह लड़की के पास गया तो वह दौड़ कर अपनी घुरी में चली गई। राजकुमार ने पता लगाया तो सारी स्थिति उसके सामने स्पष्ट हुई। वह गीदड़ मानवीय भाषा बोलता था। वह राजकुमार के साथ अपनी पुत्री का विवाह करने को तैयार हो गया। शुभ मुहूर्त्त में यथाविधि विवाह हुआ और गीदड़ ने कन्यादान में वह वन अपने जामाता को भेंट कर दिया। विधि सम्पन्न हुई। बेटी अपने घर गई।

गीदड़ ने अपनी स्त्री को समझाया कि वह वन कन्यादान में दिया जा चुका है। अतः उस वन का पानी तक पीना उसके लिये अधम है। परन्तु वन बड़ा विस्तीर्ण था। फलतः वे दोनों वहाँ से दौड़े कि प्यास लगने से पूर्व वन से पार हो जाए। दौड़ते दौड़ते उनके प्राण कंठ में आ गये परन्तु वन सीमा पार कर दी गई। वहाँ एक कच्चा जोहड़ था, जिसके मध्य में बहुत थोडा सा पानी बचा था। उस पानी से तो दोनों में से केवल एक के ही कंठ गीले हो सकते थे। गीदड़ ने जिद्द किया कि उसकी स्त्री पानी पी कर अपने प्राणों की रक्षा करे। तभी उसकी स्त्री ने अपने पति के लिये हठ किया। विवाद होता रहा और वह थोड़ा सा पानी भी सूख गया प्यासके मारे वहीं दोनोंके प्राण निकल गये।

थोड़ी देर बाद दो स्त्रियां उस मार्गसे निकलीं। जोहड़ में दो गीदड़ मृतक अवस्था में पड़े थे। उन्हें देख कर एक ने प्रश्न किया—

खड़्यो न दीखै पारदी, लग्यो न दीखैं बाण।
मैं तनैं पूछूँ हे सखी, किस बिध तज्या पिराण॥

इस पर दूसरी स्त्री ने उत्तर दिया—

जल थोड़ा नेहा घणां, लग्या प्रीत का बाण।
तूं पी तूं पी करत ही, दोनूं तज्या पिराण॥

अगले जन्म में इस पुण्य के अभाव से वह गीदड़ महाराजा सगर हुआ और उसकी स्त्री महारानी बनी।

राजा-रानी दोनों को पूर्व जन्म का वृत्तान्त स्मरण हो आया। उन्होंने विचार किया कि गीदड़ योनि में एक पुत्री का विवाह कर हमने इतना ऊँचा पद पाया है तो इस जन्म में भगवान की भक्ति करके एक सौ एक पुत्री प्राप्त करें और उनका विवाह करके इससे भी कई गुना पद अगले जन्म में पावें। इस निश्चय के अनुसार वे तपस्या में लीन हो गये। उनके कठोर तप को देख कर देवराज इन्द्र घबराया। वह भगवान विष्णु के सामने उपस्थित हुआ और अपनी मनोदशा प्रकट की। भगवान विष्णु ने कहा, "तुम सरस्वती की शरण में जाओ। वहां तुम्हारा काम बन सकता है।" इन्द्र ने सरस्वती को प्रसन्न किया। राजा-रानीका तप पूरा हुआ। भगवान प्रकट हुए। वर मांगने के लिए महाराजा से कहा गया तो सरस्वती के प्रभाव से उनके मुख से पुत्री के स्थान पर 'पुत्र' शब्द निकला। भगवान ने 'तथास्तु' कहा और फिर रानी से वर मांगने के लिए कहा गया तो उसने भी सरस्वती के प्रभाव से यही उत्तर दिया कि जो कुछ मेरे पतिदेव ने मांगा है, वही पूर्ण हो। भगवान ने 'तथास्तु' फिर कहा और वे अपने धाम को चले गये।

अब राजा और रानी को अपनी भूल विदित हुई। परन्तु जो होना था, सो हो चुका। समय

पाकर उनके एक सौ एक पुत्र पैदा हुए। वे बड़े हुए। जब पुत्रों को पीछे का वृत्तान्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने प्रण किया कि हम अपने पिता को नित नया कुँआं खोद कर जल पिलाएंगे।

इस प्रण के अनुसार महाराजा सगर के एक सौ एक पुत्र प्रत्येक रात्रि को एक नया कुँआं खोदते और उसके जल से अपने माता-पिता को दंतून करवाते। फल यह हुआ कि धरती में कुँएँ ही कुँएँ हो गए। इससे धरती माता को बड़ी पीड़ा होने लगी। उसकी छाती में इतने छेद! वह भगवान की शरणमें गई। भगवान् बोले, "जब सभी सगर पुत्र कुँएँ में घुसें, तूँ अपना पाट मिला लेना। सब भीतर रह जायेंगे। धरती ने ऐसा ही किया और एक रात महाराजा सगर के सभी पुत्र धरती में विलीन हो गए। कुँआं पट गया।

महाराजा सगर ने यह वृत्तान्त सुनकर बड़ा शोक किया। उनके सभी पुत्र एक ही रात में मृत्यु को प्राप्त हो गए। उन्होंने ऐसा कौन सा पाप किया था! पंडितों को बुलवाया गया और इस दुर्घटना का कारण पूछा गया। पंडितों ने ध्यान करके महाराजा के इस संकट का कारण इस प्रकार प्रकट किया—

किसी पूर्वभव में राजा सगर एक अन्य राजा के ही रूप में थे। एक साल वर्षा नहीं हुई। वन के सरोवर सूख गए। वहाँ हंस रहते थे। वे अपने बच्चों को लेकर राजा के पास आए और बोले, "हे राजा, हम सब यहाँ से मानसरोवर जा रहे हैं। परन्तु हमारे बच्चे इतनी लम्बी उड़ान के लिए असमर्थ हैं। अतः तुम इनकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले लो। हम अगले वर्ष यहाँ आकर इनको सम्भाल लेंगे।" राजा ने स्वीकार किया और हंस अपने समस्त बच्चे राजा के पास छोड़ कर उड़ गए। राजा ने बच्चों को अपने बाग के सरोवर में छुड़वा दिया।

एक दिन राजा भोजन करने के लिए बैठा। उसे उस दिन साग (सब्जी) स्वादिष्ट मालूम नहीं हुआ। राजा अपने रसोईये पर अप्रसन्न हुआ। दूसरे दिन रसोईये ने चुपके से सरोवर में से एक हंस का बच्चा पकड़ा और उसका साग बनाकर राजा को परोसा। आज का साग बड़ा स्वादिष्ट था। राजा परम प्रसन्न हुआ और रसोईये को इनाम मिली। अब रसोईया प्रतिदिन चुपचाप ऐसा ही करने लगा और राजा आनन्द से भोजन करके उसे नित नई इनाम देने लगा।

समय बीता। वर्षा हुई। हंस लौट कर राजा के पास आए और अपने बच्चे मांगे। राजा ने उनको उनकी धरोहर वापिस सम्भलाई तो एक सौ एक बच्चे कम थे। हंसों को क्रोध आया। राजा ने पूछताछ की। सारी स्थिति प्रकट हुई। अब क्या हो सकता था? हंसों ने शाप दिया, "तूने हमारा एक बच्चा प्रतिदिन खाकर कुल एक सौ एक बच्चे खाए हैं, अतः इतने ही तेरे बच्चे एक दिन में मरेंगे।" इतना कह कर हंस अपने अवशिष्ट बच्चों को लेकर उड़ चले।

महाराजा सगर ने अपने सन्ताप को पूर्वभव का कर्मफल समझ कर धीरज धारण किया। उनके एक बेटे की बहू गर्भवती थी। उसके पुत्र पैदा हुआ। महाराजा ने अपने पोते का नाम भगीरथ रखा और उसका पालन करने लगे। भगीरथ बाण विद्या सीखता था। एक दिन एक बाण आकर कुँएँ पर

किसी पनिहारी के घड़े के लगा। पनिहारी ने ताना मारा, "यहां हमारे घड़े फोड़ता है। पहले अपने पुरखों की गति तो करावे। वे तो बेचारे धरती के नीचे दवे पड़े हैं।" भगीरथ से अब तक तो सारी बात छिपाई गई थीं परन्तु इस ताने ने सारा भेद खोल दिया। उसने अपने पूर्वजों की मोक्ष के लिए पंडितों से पूछा। उन्होंने बतलाया कि यदि गंगाजी धरती पर आकर उनके ऊपर से फिरे तो उनकी मोक्ष हो सकती है। भगीरथ इसके लिए कृत-संकल्प हुआ कि वह धरती पर गंगाजी को लाकर ही मानेगा।

भगीरथने शिवजीकी तपस्या की। वे उस पर प्रसन्न हुए। भगीरथ ने अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया। शिवजी ने एक पात्र में बन्द करके गंगाजी उसे सौंपी। साथ ही शर्त थी कि मार्ग में कहीं भी गंगाजी को पुकारा न जाए। भगीरथ ने शर्त स्वीकार की और वह पात्र को अपने सिर पर रख कर चल पड़ा। चलते चलते मार्गमें जोहड़ आया। वहाँ ग्वाले अपनी गाएँ चरा रहे थे। उनमें से एक ने जोर से गंगा का नाम लेकर आवाज दी। उसी समय भगीरथ के सिर पर रखा हुआ बंद पात्र खुला और गंगाजी धारा के रूप में वहने लगी। भगीरथ ने ग्वालों को उपालम्भ दिया कि उन्होंने गंगा का नाम लेकर क्यों पुकारा? इस पर ग्वालों ने प्रकट किया कि उनकी एक गाय का नाम भी 'गंगा' ही है और उसीका नाम लेकर आवाज दी गई है। इस पर भगीरथ ने गंगाजी से विनय की। गंगाजी उस पर प्रसन्न हुई। भगीरथ आगे-आगे चला। गंगाजी उसके पीछे लहराती हुई आती रही। अंत में भगीरथ ने उस स्थान पर गंगाजी को पहुँचाया, जहाँ उसके पूर्वज धरती के नीचे दवे पड़े थे। गंगाजल के स्पर्श से उनकी मोक्ष हुई। भगीरथ का प्रण पूरा हुआ और गंगाजी का नाम भागीरथी पड़ा। महाराजा सगर को गंगावतरण से परम प्रसन्नता हुई और वे अपने पोते भगीरथ को राजगद्दी देकर वन में सपत्नीक चले गए।

ऊपर गंगावतरण विषयक राजस्थानी लोक-कथा का सारांश दिया गया है। इस कथा में लोग बड़ी रुचि लेते हैं क्योंकि यह अत्यंत रोचक होने के साथ ही पुण्यमयी भी है। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि इस कथा में पुराण-वर्णित कथा से जो विचित्र अंतर है, वह सकारण है। असल में यह अंतर पुराण-कथा के प्रति अश्रद्धा प्रकट करने वाला नहीं है परन्तु लोक-मानस का विश्लेषण करने का सुन्दर उदाहरण है। मूल कथा में जो भिन्नता प्रकट हुई है, उसका कारण देश और काल का प्रभाव है।

उपर्युक्त कथानक में स्पष्ट ही अनेक कथासूत्र जुड़े हुए हैं। गीदड़ का कन्यादान, सगर की तपस्या, सगर-पुत्रों का कूप-खनन, धरती माता की पीड़ा, हंस के बच्चे, भगीरथ की तपस्या और ग्वालों की गंगा नामक गाय आदि विविध सूत्रों ने मिल कर इस कथा को एक-सूत्रता प्रदान की है। कहना न होगा कि इन सभी कथा-प्रसंगों पर राजस्थान की प्रकृति और जीवन का स्पष्ट प्रभाव है। जन साधारण में ये प्रसंग स्वतंत्र रूप से भी सुने जाते हैं और राजस्थानी जीवन के अंग वन गए हैं। सगर-पुत्रों के द्वारा कुँआ खोदने और गंगा गाय की चर्चा तो लोक प्रचलित संतवाणी एवं भक्त-वाणी तक में मिलती है। नीचे दो पदों के अंश द्रष्टव्य हैं—

खेनदास मत करो अंदेशा
इण मारग संसार गया रे
सैंम पुतर राजा सुगड़ के होता
नुवे नीर हांतज करता
फिरी मनोदी म्हारै अलख धणी की
धरण मिली जह मांय रह्या रै

(२)

गंगा माता शिव की जटा मे सैं आई
ले कमंडळियो गंगा घाली
तो गहरी सी खाम लगाई जी
ले रै वाळा तेरो कमंडळियो
तो गलै में नां ;• वतळाई जी
गंगा ले भगीरथ चाल्यो
तो उतरयो है परवत प्हाड़ां जी
आगै गुवाळा गऊ ए चरावै
तो गंगा कह हेलो मारयो जी

साथ ही ध्यान रखना चाहिए कि इस कथा में आदि से अंत तक शील-धर्म की महिमा व्याप्त है, जो लोकमंगल की भावना से भरी-पूरी है। नीति और धर्म के समन्वित रूप के कारण ही राजस्थानी जनता ने इस कथा को नवीन उद्भावनासे गौरवान्वित करके अपने जीवन का अंग बनाया है। ●

मुक्तक

(आचार्य सर्वे : जयपुर)

भक्ति का वरद हस्त स्वच्छ मन पाता है
भक्ति का प्रकाश कण-कण उजलाता है
'राम' बन जाता है 'मरा' भी उलट करके—
भक्ति का प्रसाद—'महाकाव्य' कहलाता है

शंकर को नमन है, कि दहन किया काम को
विष्णु को प्रणाम पूर्णकाम छवि-धाम को
कृष्ण के चरण-कमल भ्रमर है मन मेरा—
रोम-रोम करता है 'राम-राम' राम को!

राम जो नित्य इस विश्व को रचाता है
और दे प्रकाश सत्य-मार्ग दिखलाता है
लोक को देता है नेह का शरीर भव्य
ज्ञान को श्रद्धा का मुकुट पहनाता है

बजी अमरता की पायलिया

(विमलेश : झुँझनूँ)

बजी अमरता की पायलिया, नश्वरता चिर नींद सो रही
आज शून्य भी आलोकित है
मिली अबल अंधों को आँखें
विस्मय विस्फारित हो तकता
क्योंकि मिली अजगर को पाँखें
टकराकर संकल्प-शिला से, व्याकुलता विच्छिन्न हो रही
लज्जित हो मर मिटी वासना
काला मुँह कामना कर चुकीं
तृषित जीव की सब इच्छाएँ
अभिलाषाएँ आज मर चुकीं
आज हूक भी कहाँ स्निग्ध प्राणों मे है काँटे चुभो रही ?
पुरुष-प्रकृति के अश्व रुक गये
भूत रो रहे फूट ; फूट कर
क्योंकि तिमिर में कही गिर गई
यज्ञ-चक्र की कील टूट कर
सत, रज, तम की भोली जननी, जिसे ढूँढने दीप जो रही
एक ओर सिकुड़े घायल से
श्वासों के सौ ढेर पड़े हैं
एक ओर हथकड़ियाँ बाँधे
जनन-मरण चुपचाप खड़े हैं
माया की लाखों सहेलियाँ, बिलख-बिलख कर जिन्हें रो रहीं
सब 'संचित', 'प्रारब्ध' और—
'क्रियमाण' आदि छटपटा रहे हैं
मुक्ति-माणवक पाप-पुण्य की—
रेखाएँ सब मिटा रहे हैं
भर-भर कलश सुधा-वालायें विष के घर में अमृत ढो रहीं

तिरबा रो अवसर आयो है

(त्रिलोक गोयल : अजमेर)

ओ पंचदेव रो मिन्दर है, झुंझनु मे गयो चिणायो है।
मन रा प्रपंच छोड़ो सगळा, तिरवा रो अवसर आयो है॥

(१)

रोताँ रोताँ ही जलम हुवै, रोताँ रोताँ ही वीतैलो।
सांसाँ री पूंजी ओछी है, ओ घड़ो घड़ी मे रीतैलो॥
तूँ मूठी वाँध्या आयो हो, अर हाथ पसारयाँ जावैलो।
जो वीज जमाराँ मे वोया, वै फळ आगोतर पावैलो॥
जिसड़ी करणी, उसड़ो भरणी, ओ सूधो सवक सिखायो है।

(२)

चाँदो रा महल चिण्या रहग्या, रहगी चंदा सी नार अठै।
पापाँ री पोटाँ सीस लियाँ, तूँ वोल वटाऊ चल्यो कठै?
आ दुनिया है नाटकशाला, अभिनेता इणमे हर प्राणी।
जस, अपजस में रह जासी तूँ, तूँ दूध कहवाले खै पाणी॥
संसार स्वार्थ रो साथी है, ओ साँचो भेद वतायो है।

(३)

व्रत, कथा, कीरतन करवा सूँ, ओ जीव मोक्ष पा जावैलो।
नीतर, पसु, पक्षी, कीट, पतंगो वण-वण गोता खावैलो॥
धन, पूत, हवेली चाकर तो, पापी कन्नै भी होवै है।
पण पुण्य प्रकट होवा सूँ ही भगति रा मोती पोवै है॥
पंचामृत पंचदेव रो ले, घर वैठ्यां इमरत पायो है।

धर्म : साम्प्रदायिक नहीं

(डॉ० नारायणकुमार : ग्वालियर)

जो मानव संसार की निस्सारता को समझकर और आत्मानुभूति को ही शांति का सच्चा मार्ग मानकर आत्मान्वेषण के लिये निकलता है, वही मानव 'सर्वभूतनिवासोऽस्मि' इस अविकल्प तथ्य को न जान सकने के कारण साम्प्रदायिकता का शिकार हो जाता है। क्योंकि आत्मा माने ही "अयमात्मा ब्रह्मसर्वनिभूतः" अर्थात् ब्रह्म उस पदार्थ की संज्ञा है जो प्रत्येक जीव के अन्दर विद्यमान हो।

आर्यावर्त—जिसे हम सभ्यता और संस्कृति के उदयाचल के रूप में जानते हैं, अनादि काल से ही विभिन्न मत एवं संप्रदायों का विलयस्थान रहा है। हम जानते हैं कि धर्म वह युक्तियुक्त संश्लेषण है, जो समाजरूपी प्रयोगशालामें, मानवीय प्रगति-आधार पर वैचारिक प्रगति करता है। इसी सिद्धान्त के अनुरूप हमारा सनातन आर्यधर्म, आज के अत्यन्त क्लिष्ट वातावरण में भी अपने स्वारस्य-पूर्णरूप में विद्यमान है।

निश्चित ही इस -स्वायत्तता के लिए हमारी वे धार्मिक उत्क्रान्तियाँ स्तुत्य हैं, जो समय-समय पर अपने संश्लेषण से इसके सांस्कृतिक संस्करणों में व्यक्तिगत मौलिकता, एवं स्वतंत्र-वृत्तियों के होते हुए भी, इन सबका लक्ष्य एक परतत्त्व में सम्मिलित कर सामाजिक एकता को प्राप्त किया है। इस भिन्नत्व के एकत्व को न जान सकने के कारण ही, आज का मानव साम्प्रदायिक विद्वेष से पीड़ित होकर, उस परतत्त्व से बहुत दूर हुआ जा रहा है।

कुछ सनातन वैदिक मत के अनुयायी निर्गुण ब्रह्म की उपासना में तल्लीन हैं, तो कोई सगुण ब्रह्म में निष्ठा रखते हैं। अब सगुणोपासकोंमें से कोई विष्णु को ही परब्रह्म समझते हैं, तो कोई शिव को ही विश्वशक्ति मानते हैं। कोई मातृशक्ति को ही परतत्त्व समझते हैं। इन सबसे अलग कोई निरीश्वरवादी हैं। विभिन्न कड़ियों से बनी इस लम्बी शृंखला का दिग्दर्शन निम्नोक्त श्रुति प्रमाण से होता है।

क्लेशकर्म विपाकशयैः रपरामृष्टा, निर्माणकार्य मधिष्टाय संप्रदाय प्रवर्तकों, नुग्राहकश्चेति पातंजलः, लोकवेद निलेपश्चेति महापशुपता शिव इति शंवाः, पुरुपो नाम इति वैष्णवाः, पितामह इति पौराणिकाः, वज्ञपुरुप इति याज्ञिकाः, निरावरण इति दिगंबराः उपास्यत्वेन देशित मीमांसकाः यावदूक्तोपपन्न इति नैयायिकाः, लोक व्यवहार सिद्ध इति चार्वाकाः, किं वहुना ?

इस प्रकार हिन्दू धर्म रूपी सूत्र में पिरोये गए इन विभिन्न धागों के, पारस्परिक प्रत्याशक्ति का

अनुमान हम तभी लगा सकते हैं, जबकि प्रत्येक का प्रत्यवेक्षणात्मक अध्ययन कर लिया गया हो।

इनकी पारस्परिक प्रत्याशक्ति का ज्ञान न होने के कारण, विभिन्न मतवादी सामाजिक आधिपत्य की आकांक्षा से, तर्क का आश्रय ग्रहण करते हैं। इससे वास्तविकता का प्रकटन तो हो नहीं पाता, अपितु इनके द्वारा प्रज्वालित सांप्रदायिक अग्नि समाज को पतंगे के समान झुलसा देती है। इस प्रकार जो अध्यात्म सामाजिक विभिन्नताओं को एक आत्मा रूपी विलीय बिन्दु के आधार पर संगठित रखता है, वही; समाज और सामाजिकता के मध्य स्थित परिशुष्क असाम्यता के कारण हमें उस विलीय बिन्दु से बहुत दूर, मानवता की सीमा से भी दूर वहां पहुंचा देता है जहाँ जाकर कोई शान्ति नहीं पा सकता, अर्थात साम्प्रदायिकता की अग्नि में पड़ा सड़ता ही रहता है।

जो मानव संसार की निस्सारता को समझकर और आत्मानुभूति को ही शांति का सच्चा मार्ग मानकर आत्मान्वेषण के लिये निकलता है, वही मानव 'सर्वभूतनिवासांस्मि' इस अविकल्प तथ्य को न जान सकने के कारण साम्प्रदायिकता का शिकार हो जाता है। क्योंकि आत्मा माने ही "अयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभूतः," अर्थात् ब्रह्म उस पदार्थ की संज्ञा है जो प्रत्येक जीव के अन्दर विद्यमान हो। इसी कारण वेदव्यास ऋषि ने अपने ब्रह्मसूत्र के आरम्भ में कहा था कि "अयातो ब्रह्म जिज्ञासा" लेकिन ब्रह्म की जिज्ञासा कैसे हो सकती है? उस ब्रह्म की सत्ता का आभास प्रत्येक को होने पर भी, किसी ने उसके रूप को तो नहीं देखा है। इसी कारण मुण्डकोपनिषद् ने परमात्मा की प्राप्ति के लिए उपाय बताते हुए कहा है :—"प्रणवोधनुः सरोह्यात्मा ब्रह्मत लक्ष्य मुच्यते, अप्रमत्तेनवेद्धव्यम् शरवत्तः स्मयेनशः अर्थात प्रणव ही धनुष है, जीव ही बाण है, और लक्ष्य ही परमात्मा है। लेकिन इस प्रणवाक्षर में उन तीनों की उपस्थिति का प्रमाण हमें प्राप्त होता है :—

"अकारो विष्णुरुद्दिष्ट, उकारस्तु महेश्वरः
मकारोणे व्यते ब्रह्मा, प्रणवेन त्रयोमताः"

उपरोक्त श्लोक सामान्य ग्राह्य है अतः सभी पाठक समझ ही गए होंगे। इसी प्रकार इन त्रिमूर्तियों की एकता का प्रतिपादन भी शास्त्रों ने ही किया है। प्रमाण के लिये :—

"शक्तयोयस्यदेवस्य ब्रह्म विष्णुशिवात्मिकाः,
ब्रह्म विष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधान ब्रह्मशक्तयः"

जब इन तीनों प्रमुख उपास्यदेवों की एकता का प्रतिपादन होता है, तो इनके अंश से उत्पन्न कोई भी अवतार उस ब्रह्म की एकता से कैसे परे हो सकता है?

हालांकि, हम विभिन्न महापुरुषों के उपदेशों में कुछ-कुछ भिन्नता देखते हैं, लेकिन यह बात तत्कालीन सामाजिक परिस्थितिपर निर्भर करती है। जिस प्रकार राष्ट्रनायक अपने मित्रराष्ट्रों के कार्य-कलाप व बर्ताव को ध्यान में रखकर ही पारस्परिक सम्बन्धों का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार धर्मस्थापक भी समाज की विषय-बाहुल्यता एवं निम्नता को ध्यान में रखकर धार्मिक नियमों का सृजन करते हैं। इसलिये धर्म, जिसका रूप निरूपण तात्कालिक महत्व के आधार पर है, सामाजिक प्रकल्पन के अनुरूप उसमें परिवर्तन का होना भी निश्चित है। जिस प्रकार भगवान विष्णु के ही राम और कृष्ण ये दो मुख्य अवतार माने जाते हैं पर दोनोंका लक्ष्य धर्म स्थापन होने पर भी काल, परिस्थिति के अनुसार दोनों की नीतियों में काफी अंतर था।

हिन्दू समाज में पूर्व से ही महात्माओं एवं तपियों की परंपरा कायम है। हिन्दू समाज की सीमा, धार्मिक हिन्दुत्व तक नहीं अपितु आर्य सभ्यता से है। इस रहस्य को हम न जान सकने के कारण ही हमारी सामाजिता देश और जाति तक ही सीमित रही है। ऐसा होने पर भी जगत पिता जगदीश्वर अपने हर पुत्र का कल्याण चाहने के कारण अपने एक अंश से देश काल परिस्थितियों के अनुरूप पाश्चात्य लोगों के मध्य जीसस रूप से बाइबिल का, अल्लाह रूप से कुरान का, और हिन्दुओं के लिए श्री कृष्ण रूप से भगवद् गीताका उपदेश करते रहते हैं। भारतवर्ष में ही स्थित विभिन्न सामाजिक दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर नानकदेव रूप से, महावीर रूप से बुद्ध रूप से राम कृष्ण के रूप से समय-समय पर आकर उसी धर्मका उपदेश देते हैं। लेकिन इनके द्वारा उपदिष्ट मतभिन्नों का मूल विशाल हृदय आर्य धर्म प्रत्येक के द्वारा अनुकरणीय है। क्योंकि जब जब संसार में हर एक के लिये सूर्य, चन्द्र-अग्नि-वायु-जल-आकाश-पृथ्वी एक है, शरीर एक है, अंतर इन्द्रियाँ एक हैं, पंचकर्मेन्द्रिय, पंचज्ञानेन्द्रिय, अंतःकरण चतुष्टय, जीव,आत्मा सब कुछ एक ही हैं, तो क्या सामाजिक आदर्श अर्थात् धर्म मात्र अलग-अलग है? ऐसा न होने पर भी कुछ असामाजिक व्यक्ति समाज में विषमताओं को फैलाने के लिये विविध तर्कों का आश्रय ग्रहण करते हैं, जिससे किभी किसी की, तो कभी किसी अन्य की विजय होती है। क्योंकिः "तर्काप्रविष्टानात्" अर्थात तर्क की प्रविष्ठा नहीं है।

जो महात्मागण समाज में स्थित अविद्या का नाश करने के लिए सामान्य मनुष्य से भी अधिक कष्टों को सहते हुए, हमें अपने अनुभवजन्य ज्ञान का उपदेश देते हैं, उन्हीं उपदेशों को लेकर हम लोग क्षुद्र साम्प्रदायिक बन्धनों के द्वारा समाज के आगे अध्यात्म की अवहेलना करते हैं। वास्तव में जब विद्वानों के अन्दर द्वैतबुद्धि अत्यंत बढ़ गई, एवं वे अपने से कम जाति के लोगोंको अति हीन दृष्टि से देखने लगे, तो उस समय शंकराचार्य के रूप में अंशावतार लेकर उसी ब्रह्म ने "एक मेवः द्वितीयम" एवं "सत्यं ब्रह्म जगत् मिथ्या" इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। लेकिन जब अद्वैत ज्ञान के सही अर्थ को न समझकर साधनहीन व्यक्ति भी "अहं ब्रह्मास्मि" और "को विधि को निषेधः" इस प्रकार मिथ्या ज्ञान को ही ज्ञान मानकर कर्तव्यच्युत होने लगे, तो, जगद्गुरु रामानुजाचार्य के रूप में मैं सध्य और साधक के बीच स्थित ज्ञानके भेद को और जीव और आत्मा के बीच स्थित प्रकृति के भेद को समझाया। बस यही सम्प्रादायिक परंपरा का सिद्धान्त है।

वास्तव में जीव एक भटका हुआ आत्मांश है, जिसमें सर्वशक्ति निहित होने पर भी उसके ऊपर अगाढ़ आवरण है। इन आवरणों की निवृत्ति के लिये ही साधु-महात्मा-गुरु या महापुरुष हमें विभिन्न-प्रत्यन्तर उपदेश देते हैं। अब मनुष्य का कर्तव्य है, कि परस्पर साम्प्रदायिक अग्नि में भस्म न होकर एक लक्ष्य में सम्मिलित होने के लिए विविध मार्ग रूपी साधनों में से जो अपने लिये सुगम है, उसके अनुकरण के द्वारा दुर्लभ मानव तनु को साधन कर सकें।

"लोका समस्ता सुखिनों भवन्तु"।

—o—

बाबा गंगाराम धणी

(नन्दलाल दया : उदयपुर)

बाबा गंगाराम धणी थे सूत्या भाग जगाज्यायो
खेतरपाळ थरपणा करकै जम का दूत भगाज्यायो

(१)

भारत री मिन्दर-टोळ्याँ में थारो मिन्दर भारी है
मोळा मिनखाँरी खोळ्याँ में, थारो चित्तर भारी है
प्रीत-पुजारण फिरै भटकती, कद थूँ बाबा ध्यान धरै
धरती-माता री झोळ्याँ में, थारो झोळो भारी है
उळझावट नैं देय उथाळो, डूबी नाव तिराज्यायो

(२)

भगतां रै सिंघासण माथै, थारी थरपण होरी है
तपसी रा तप आसण माथै, थारी थरपण होरी है
चातकड़ा इणगिणती बैठ्या, कद आकास्यै नूर झरै
बादल री उण रचणा माथै, थारी थरपण होरी है
दबियोड़ा नैं देय उछळो, हाथाँ धरम-थमाज्यायो

(३)

अणगिण भगताँ री निजर्याँ में, थारी मूरत हाँसै है
जाणी-अणजाणी टपर्याँ में थारी कुदरत हांसै है
प्राण तिसाया पड़्या शरण में, कद थूँ बाबा हाँ कर दे
माटी मेड़्याँ री खड़क्याँ में, थारी सूरत हाँसै है
बाबा गंगाराम धणी थे बेड़ो पार लगाज्यायो

— —

आदि धर्म और मन्दिर

(सत्येन जोशी : जोधपुर)

भारतवर्ष में सबसे पुराना धर्म वैदिक अथवा आर्य धर्म है जो कि बौद्ध एवं जैन धर्म से भी पूर्व में प्रचलित था। यही वैदिक अथवा आर्य धर्म आगे चलकर हिन्दू धर्म के नाम से पुकारा जाने लगा। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन, तीनों ही धर्म उसी आर्य धर्म की शाखाएं हैं।

धर्म की, हर किसी ने अपने ढंग से व्याख्या की है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में धर्म है, "ब्रह्म के सत्स्वरूप की व्यक्ति प्रवृत्ति, जिसकी असीमता का आभास अखिल विश्व स्थिति में मिलता है इस प्रवृत्ति, का साक्षात्कार परिवार और सामाज-ऐसे छोटे क्षेत्रों से लेकर समस्त भूमण्डल और अखिल विश्व तक के बीच किया जा सकता है।"

हिन्दू धर्म का विश्वास है कि ईश्वर अथवा अंतिम सत्य हमारे अन्तः करण में है और वह हमारे भीतर का चित्त है। उसे अनुभव करने अथवा उससे साक्षात्कार का एक विधान है। धर्म जीवन का वह मार्ग है जिसके माध्यम से उस अंतिम सत्य को जाना जा सकता है। अतः इस भीतर के सत्य को जानने के लिये बाहर के सत्य को भी जानना आवश्यक है। ब्रह्म सत्य का सम्बन्ध जहाँ भौतिक सृष्टि से है वहाँ भीतरी सत्य का सम्बन्ध आनन्द की अनुभूति से है। इस प्रकार हिन्दु धर्म बहिर्मुखी होने के साथ अन्तर्मुखी ज्यादा है। सृष्टि की उत्पति के विषय में मानव की स्वाभाविक जिज्ञासा, मानव सभ्यता का महत्वपूर्ण अंग रही है। इसके लिये उसने उपलब्ध साधनों का पूरा उपयोग किया। सृष्टि की उत्पति, संचालन, कारण और नाश की आशंकाओं में, या यों कहें कि उस आवश्यकता की खोज में आर्यों ने कुछ समय तक प्राकृतिक शक्तियों जैसे सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र व जल, अग्नि, वायु इत्यादि की पूजा की होगी। कई विद्वानों का मत है कि मोहनजोदड़ो की सभ्यता आर्यों से पूर्व की है। वे मातृ शक्ति के उपासक थे। वे योग द्वारा भी अपनी आत्मा में एकात्म स्थापित करते थे। वे शिव को पशुपतिके रूप में पूजते थे। भैंसे को यम का प्रतीक मानकर पूजते थे। यही भैंसा हिन्दू धर्म में यम का वाहन माना जाता है।

भौतिक व वैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो मानव की उत्पति के सम्बन्ध में प्रतिपादित सिद्धान्त हिन्दू धर्म की मान्यताओं से ज्यादा दूर नहीं है। डार्विन जहाँ मनुष्य को बन्दर की संतान मानता है वहाँ हिन्दु धर्म शास्त्र क्रमशः मत्स्य, कूर्म, वाराह नृसिंह एवं वामन अवतार को मानते हैं सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आँइन्स्टाइन द्वारा प्रतिपादित रिलेटिविटि का सिद्धान्त भी वेदान्त के अधिक निकट है। इस प्रकार आर्यों अथवा वेदों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त केवल धार्मिक विचार ही नहीं कहे जा सकते। डा० राधाकृष्णन के शब्दों में हिन्दु धर्म बहुत ही विशाल है। उसमें नव-अन्वेपणों के लिये पर्याप्त व्यवस्था है। इन अर्थों में वह रुढि-गत नहीं है, अतः सृष्टि एवं मानव के सत्य के

अन्वेषण में उसने नाना प्रकार के उपादानों का प्रयोग किया।

आर्यों ने मनुष्य के जीवन को चार आश्रमों में विभक्त किया। धर्म शास्त्र के अनुसार ये चार आश्रम है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इसी प्रकार जीवन के जो उद्देश्य निश्चित किये हैं वे हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "धर्म की रसात्मक अनुभूति का नाम भक्ति है।" भक्त के भीतर का 'चित्' जब बाहर 'सत्' का साक्षात्कार करता है तब 'आनन्द' का आविर्भाव होता है। दूसरे शब्दों में मनोभावों द्वारा ब्रह्म का ज्ञान और सौन्दर्य बोध, रसों की उत्पत्ति करते हैं। भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में नौ भावों की विवेचना की है। ये नौ भाव है—प्रेम, हास्य, रौद्र, उत्साह, दया, आश्चर्य, भय, घृणा और शान्ति। इनमें शान्ति का भाव ही सर्वोपरि है। सभी भाव इसी स्थिति से उत्पन्न होते हैं तथा इसी में समाविष्ट हो जाते हैं। जब किसी भाव को किसी कलाकार द्वारा स्थाई एवं आनन्द दायक रूप दिया जाता है तो वह रस का रूप धारण कर लेता है। रसानुभूति अथवा रसानन्द बुद्धि का सात्विक रुप माना गया है। यही ब्रह्मानन्द की अनुभूति भी है। इस प्रकार ब्रह्म की अनुभूति भावों की प्रफुल्लता में अथवा मनोभावों के तरल रुप धारण करने में है। इस प्रकार यह ब्रह्म के साथ एकात्म स्थापना का हेतू है।

वस्तुतः कला भी उसी सत् की साधना का स्वरूप है। काव्य अथवा नाटक के नायक के रूप में व्यक्ति स्वयं को प्रतिबिम्बित होते देखता है। इस प्रकार वह आत्म-साक्षात्कार की ओर प्रवृत होता है। न केवल साहित्य ही वरन् नृत्य, वास्तुकला, चित्रकारी एवं संगीत भी इन्हीं भावों के तरलीकरण एवं एकात्म-स्थापना के माध्यम हैं। नृत्य में अंग सचालन व थिरकन को ब्रह्माण्ड में तरंगित तरंगों के साथ जोड़ा गया है। हिन्दुओं द्वारा महत्त्वपूर्ण विधि नाद-ब्रह्म अथवा शब्द-ब्रह्म का विकास एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। शब्द के तीन प्रकार हैं—शब्दों के समूह की एकात्मकता, कारण के रूप में समष्टि की एकात्मकता और ध्वनि के साथ आनन्द-मय भावना का ध्वनित होना। इसी का नाम राग है। अतः संगीत को ईश्वर प्राप्ति की साधना का रूप माना जाता है। भारतवासियों ने जीवन की रसानुभूति का किस सूक्ष्मता से अध्ययन किया है, इसका प्रमाण है वात्सायन का कामसूत्र।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय धर्म में मनुष्य का हर कर्म व हर भाव धर्म से जुड़ा हुआ है। अतः मन्दिरों के निर्माण में निश्चय ही धर्म की भावना ही प्रधान थी। आर्यों के लिये मूर्तियाँ व उनकी पूजा की पद्धति 'चित्त' के एक प्रतीक के रूप में थी। वस्तुतः इन प्रतीकों के माध्यम से उस अंतिम सत्य की खोज के लिये प्रशस्त पांच विधियों में से यह एक विधि थी। तैतिरियोपनिषद् में सत्य की प्राप्तिके लिये पाँच विधियों का वर्णन है। ये हैं—(१) अधिलोकम् (स्वाभाविक भौतिक विधि), (२) अधिज्योतिहम् (देवी-देवताओं के माध्यम से), (३) अधिवधम (बलिदान द्वारा), (४) अधिप्रजम् (प्रजनन की सक्रिय प्रक्रिया से), (५) अध्यत्मम् (स्वयं की प्रक्रिया से—योग द्वारा)।

आर्यों ने देखा कि मनुष्य के अन्तः का प्रकाश और सूर्य का प्रकाश दोनों ही एक ही अंश से हैं अतः प्रकाश की पूजा सर्वोपरि, गंभीर एवं धर्म सम्मत मानी गई। इसी प्रकाश को वे सर्वव्याप्त

बिसाऊ-महल

(श्यामसिंहजी ने सं० १८६८ में गोपीनाथजी थरपे)
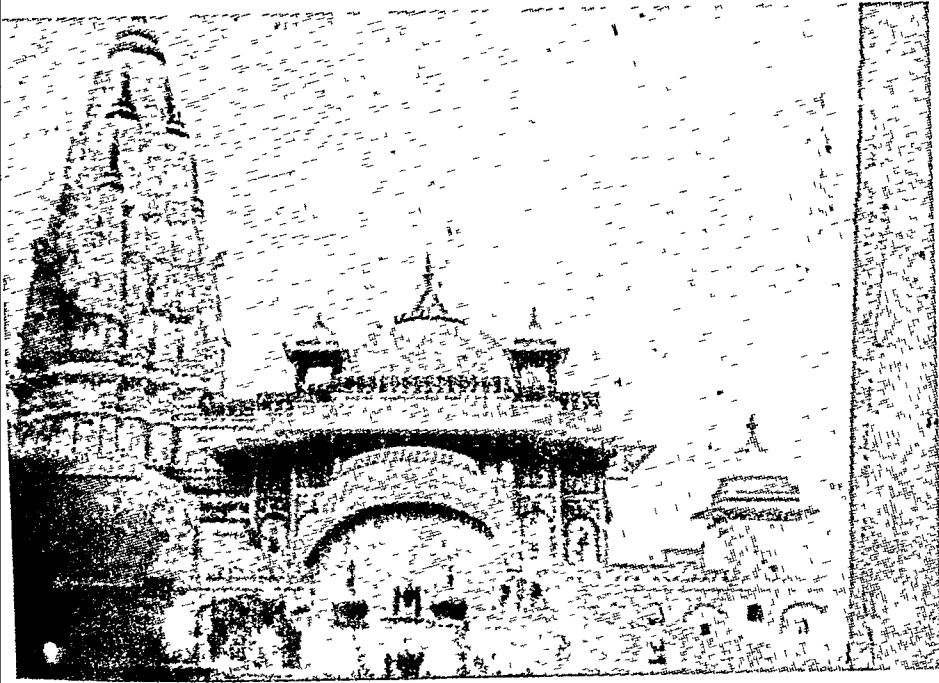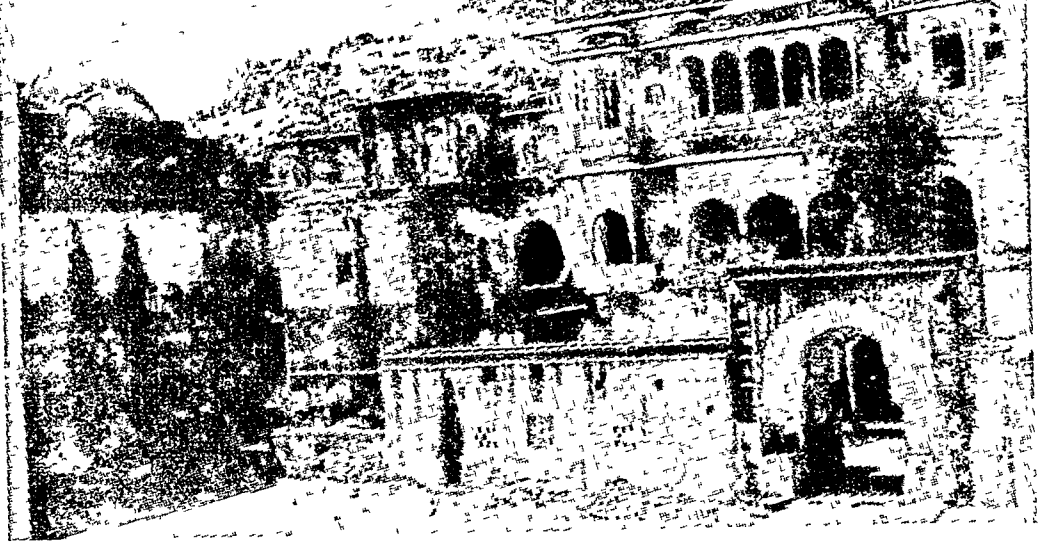
बिहारीजी का मन्दिर

(निर्माण : सं० १८३३)

गिरधारीलालजी तुलस्यान की बावड़ी

(निर्माण : सं० १८६० से १८८० तक)
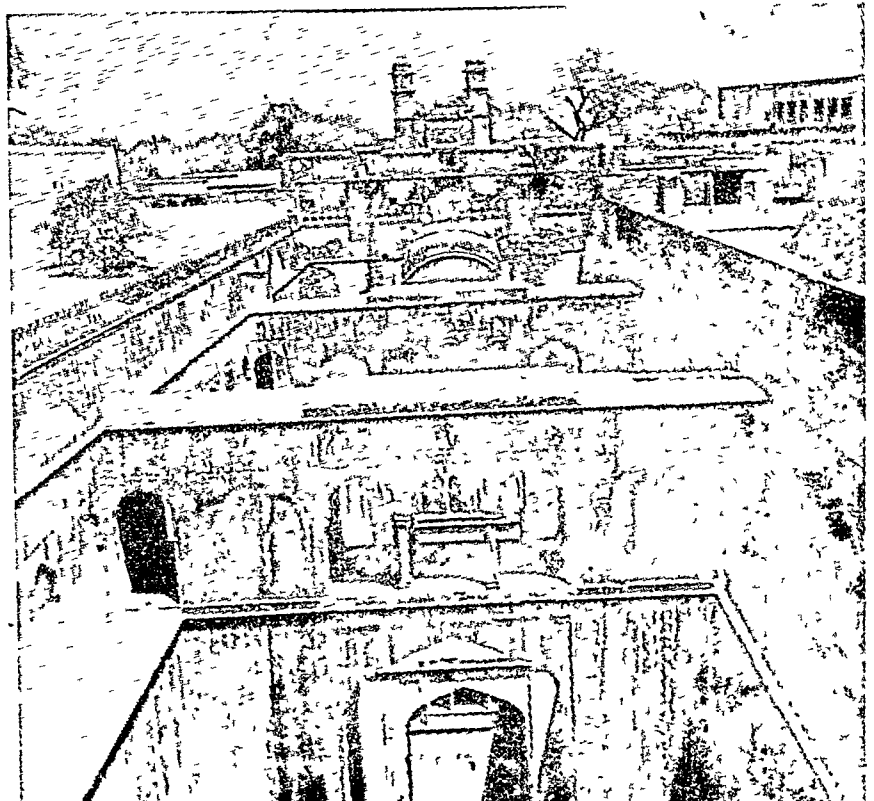
श्रीपंचदेव-मंदिरके उद्घाटनोत्सव १८ जून ७५ पर प्रकाशित

मुस्लिम दर्शनीय स्थल

बड़ी मस्जिद

(जिसका वर्त्तमान सुन्दर रूप हकीम दाऊदजी की देन है)
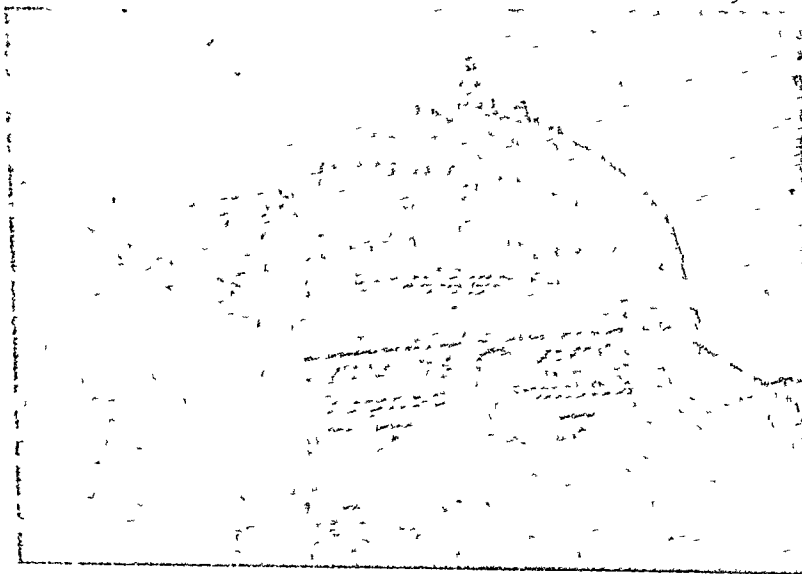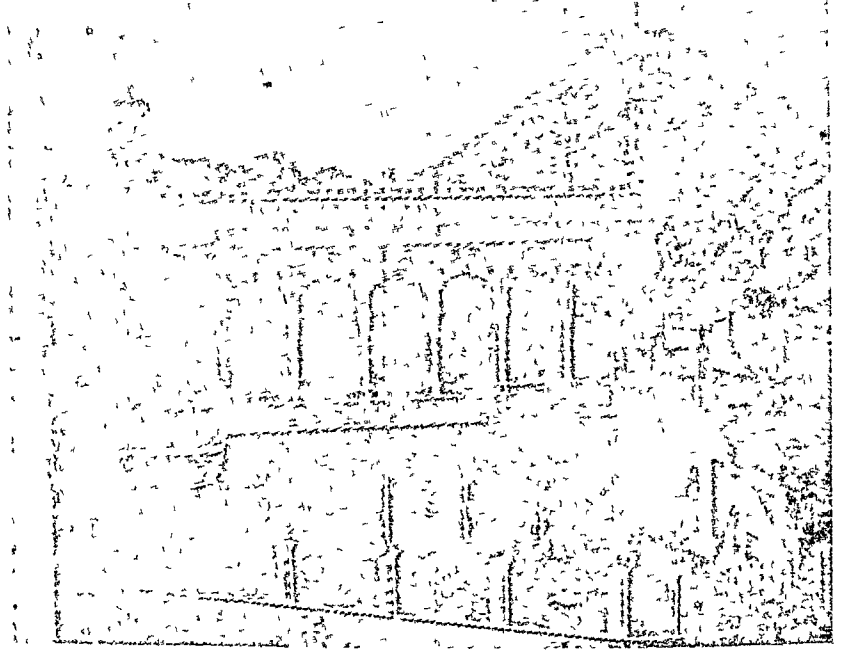
मक़बरा : नवाब सुबनखाँ

(निर्माण : सोलहवीं शताब्दी)

नवाब भीकनखाँ की दरगाह

श्री पञ्चदेव-मन्दिर के उद्घाटनोत्सव
१८ जून १९७५ पर प्रकाशित
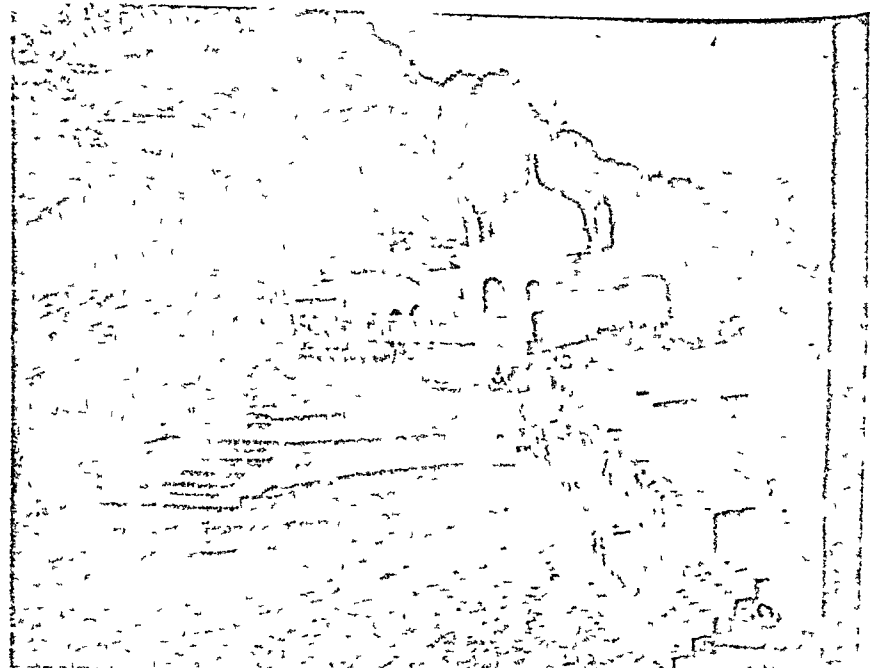
ानते थे। इस प्रकार बाहरी प्रतीकों के माध्यम अन्तर की पूजा प्रारम्भ की। अतः मन्दिरों की थापना और देवी-देवताओं व शक्तियों की पूजा हाँ एक प्रकार से प्रतीकात्मक थी वहाँ वह बाहर भीतर की ओर प्रवृत्त करने का एक माध्यम भी ी। मन्दिरों के निर्माण द्वारा आर्यों ने अपने ंपूर्ण ज्ञान और मान्यताओं को प्रतीकात्मक भिव्यक्ति दी। इस प्रकार मन्दिर धर्म-प्रचार के शक्त माध्यम बन गये।

मन्दिरों के निर्माण का एक निश्चित विधान है। विष्णुपुराण में इस पक्ष पर विस्तृत चर्चा की गई है। आर्यों की उल्लिखित मान्यताओं के संदर्भ में मन्दिरों के निर्माण और उसके औचित्य सबंधी सभी तर्कों या शंकाओं का निमूर्ल होना अवश्य म्भावी है। आर्यधर्म में प्रायश्चित का प्रावधान है जो कि न केवल हिन्दू-मन्दिरों वरन् ईसाइयों के गिरजाघरों व इस्लाम में मस्जिदों के औचित्य को भी प्रमाणित करता है।

अतः मन्दिर व्यक्त के माध्यम से अव्यक्त की साधना का उच्च स्वरूप है। उच्च आध्यात्मिक उद्देश्यों को समझे बिना मन्दिरों के औचित्य अथवा महत्त्व को नहीं समझा जा सकता। मन्दिरों में जहाँ छोटे-मोटे देवी-देवता बाह्य स्थानों में यहाँ वहाँ स्थापित देखेंगे वहाँ परम पावन एवं उस सर्व सत्ताका स्थान भीतर मिलेगा। निर्गुणपथ में भी आकाश अथवा शून्य को ही सर्वोपरि माना गया है। मन्दिर चाहे शिव का हो अथवा विष्णु का, यही सिद्धान्त सामान्यरूपसे लागू होता है। इस प्रकार मन्दिरों का अध्यात्म स्वरूप निखर कर सामने आता है, वैसे प्रारम्भ में आर्य-मन्दिरों अथवा मूर्तियों को आवश्यक नहीं मानते थे, लेकिन सामाजिक अनुशासन में मन्दिरों का बहुत बड़ा योग हो सकता था, अतः सामाजिक मनोविज्ञान भी मन्दिरों की स्थापना में सहायक हुआ।

इस प्रकार मन्दिरों के निर्माण में हमें निम्न उद्देश्य स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं—

प्रथम—बाह्य जगत अथवा प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक देवी-देवताओं एवं शक्तियों के माध्यम से सत्य की खोज।

द्वितीय—रसानुभूति के माध्यम से परमानन्द परब्रह्म से साक्षात्कार।

तृतीय—सामाजिक अनुशासन व लोक-व्यवहार की सहज शिक्षा।

मन्दिर वस्तुतः जीवन में आस्था के प्रतीक हैं चाहे वे किसी भी धर्म अथवा संप्रदाय के हों।

—:o:—

जीवन भर हृदय से भगवान का स्मरण करो :

जैसे कर्म किए जीवन भर जैसे मन में रखे विचार।
अन्तकाल का भाव मनुज का होगा उसके ही अनुसार॥
तदनुसार ही सद्गति, दुर्गति होगी उसे प्राप्त अनिवार।
अतः रखो प्रतिपल ही मधुमय भगवत्स्मृति में हृदय उदार॥

स्वाध्याय : आवश्यकता और प्रक्रिया

(डॉ० नरेन्द्र भानावत, जयपुर)

यह सब शुभ लक्षण है :

आज की वैज्ञानिक प्रगति ने मानव-जीवन को अधिक सुखी, सुरक्षित और सम्पन्न बना दिया है। जीवन-यापन के बाधक कारणों को दूर कर प्रकृति के रहस्यात्मक और प्रतिरोधक तत्वों को भी साधक तत्वों के रूप में परिणत कर दिया है। जीवन के अभाव अभियोग काफी हद तक कम हो गये हैं, ऐसा दूर से लगता है। ज्ञान का केनवास व्यापक और विस्तृत हो गया है। अन्ध-श्रद्धा और रूढ़िगत परम्परावों की नींव को विज्ञान के आलोक ने झकझोर दिया है। अज्ञान का अन्धकार सामान्यतः भाग खड़ा हुआ है। प्रकृति और हिंसक पशुओं की भयावनी आकृतियां धीरे-धीरे मानव के स्मृति-पटल से ओझल हो रही हैं। भाग्यवाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की जड़ें अधिक गहरी जम रही है। यह सब शुभ लक्षण है।

पर अन्तराल में सूक्ष्म कीटाणु :

लेकिन इन शुभ संकेतों के अन्तराल में मानवता की जड़ नष्ट कर देने वाले सूक्ष्म कीटाणु भी छिपे हैं। इस ओर आज के वैज्ञानिक मस्तिष्क का ध्यान बहुत कम जा रहा है। वह इतना अधिक जटिल, बोझिल और व्यस्त हो गया है कि अपने अन्तस्तल में उठने वाले स्वरों को वह सुन ही नहीं पाता है, पहिचानने की बात तो दूर रही। परिणामतः आज की वैज्ञानिक प्रगति ज्ञान तो दे पाई है पर विवेक नहीं, गति तो दे पाई है पर दिशा नहीं। यही कारण है कि आज का व्यक्ति अपने आपको चारों ओर से भय और आतंक मुक्त पाकर भी सब से अधिक भयभीत है। आज वह चोर, डाकू से उतना नहीं डरता जितना अपने आसपास रात-दिन रहने वाले लोगों से। आज वह जंगली पशुओं से उतना आतंकित नहीं होता जितना तथाकथित सभ्य कहलाने वाले लोगों से। आज एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र से और एक जाति को दूसरी जाति से इतना भय नहीं है जितना एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से। भय स्थूल से सूक्ष्म हो गया है। ज्यों ज्यों एकाकी ज्ञान-विज्ञान बढ़ता जायगा त्यों-त्यों यह आतंक भाव सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो जायगा।

सांस्कृतिक संकट :

इस सांस्कृतिक संकट को दूर करने का उपाय वैज्ञानिक मस्तिष्क के पास नहीं है। इसे दूर कर सकता है अध्यात्म प्रधान मस्तिष्क, आत्म-चिंतन और मनन। आज की तथाकथित शिक्षा में इस चिंतन और मनन के लिये कोई स्थान नहीं। आज विद्यार्थी इसलिए पढ़ता है कि उसे परीक्षा पास कर जीवन-यापन के साधनस्वरूप अच्छी नौकरी ढूँढनी है। अतः येन-केन प्रकारेण वह प्रमाण-पत्र चाहता है। उसके अध्ययन में स्वतः स्फूर्त रुचि नहीं, आन्तरिक ईमानदारी नहीं, हृदय की पवित्र भावना नहीं। वह अपने चातुर्य से दूसरों की आंख में धूल झोंककर अपना उल्लू सीधा करना चाहता है। अपने आचार और विचार में द्वैत स्थिति कायम कर दूसरों पर प्रभाव जमाना चाहता है। जो इस प्रक्रिया में जितना अधिक सफल उतरता है वह

उतना ही अधिक पढ़ा-लिखा माना जाता है। जब तक यह स्थिति रहेगी तब तक संकट बना रहेगा।

संतुलन-बिन्दु : स्वाध्याय :

आज शिक्षा और स्वाध्याय के बीच खाई पड़ गई है। यही कारण है कि आज का विद्यार्थी ज्ञान बढ़ा तो पाया है पर उसे आत्मसात नहीं कर सका। जब तक विचार आत्मसात नहीं होते वे आचार में परिणत नहीं हो सकते। आज के मानव का दिमाग तो तेज गति से दौड़ रहा है, पर उसके पांव एक जगह स्थिर हो गये हैं। परिणामतः वह सिर के बल गिर पड़ा है। अध्ययन के साथ स्वाध्याय का समुचित संतुलन ही उसे इस स्थिति से उबार सकता है। अध्ययन में केवल ज्ञान का आकलन या संग्रह होता है, स्वाध्याय में उसका पाचन। अध्ययन में केवल बहिर्दृष्टि प्रमुख होती है, स्वाध्याय में अन्तर्दृष्टि। अध्ययन सामान्यतः सृष्टि के इतर पदार्थों का किया जाता है, स्वाध्याय स्वयं अपने स्वरूप का। जब तक व्यक्ति अपने आपको नहीं पढ़ेगा, अपने स्वरूप को नहीं समझेगा। सृष्टि के इतर पदार्थों के परिप्रेक्ष्य में अपने अस्तित्व और दायित्व के विभिन्न आयामों का परीक्षण नहीं करेगा तब तक वह अपने आप में संतुलन नहीं रख सकेगा। यह धर्म और विज्ञान का, आत्मा और शरीर का, दृष्टि और सृष्टि का सम्यक सन्तुलन ही आज के युग की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस सन्तुलन को वही बनाये रख सकता है जिसमें स्वाध्याय की प्रकृति है।

चींटी, मकड़ी और मधुमक्खी की प्रक्रिया :

चींटी की तरह अध्येता को बड़ी ईमानदारी और लगन के साथ ज्ञानार्धन में जुटना चाहिए। चींटी की दृष्टि बड़ी व्यापक और प्रखर होती है। कहीं भी कोई चीज रखी हो, वह समस्त बाधाओं और संकटों को झेलती हुई अपनी रुचि के अनुकूल पदार्थ विशेष को ग्रहण कर आयेगी। अध्येता की अध्ययन के प्रति ऐसी निष्ठा होनी चाहिये। अध्ययन में उपस्थित समस्त बाधाओं का मुकाबला करता हुआ वह ज्ञान का आकलन करें।

पर ज्ञान के आकलन तक ही उसका कर्तव्य सीमित न हो आज ज्ञान का आकलन तो प्रथम सीढ़ी है। ज्ञान ग्रहण करने के बाद यदि उस पर चिन्तन नहीं किया गया तो वह फलदायक नहीं होगा इसीलिये अध्येता को दूसरे सोपान में जाकर चिन्तक बनना पड़ेगा। चिन्तक की स्थिति ठीक मकड़ी की तरह होती है। मकड़ी अपने ही तानों-बानों में उलझी-पुलझी रहती है। आज की शिक्षा में चिंतन की उपेक्षा है। स्वाध्याय चिन्तन की मूल नीति है।

चिन्तन के बाद की स्थिति है मनन। आकलन और चिन्तन के बाद अध्येता को मनन करना चाहिये। मनन के द्वारा ही वह संसार के सामने अपना विचारामृत रख सकेगा। इस प्रक्रिया से अद्भुत अमृत मानवता के लिए संजीवनी शक्ति का काम करेगा। मनन की प्रक्रिया ठीक मधु-मक्खी की प्रक्रिया है। मधु-मक्खी विविध रंगों के फूलों का रस लाती है पर अपनी प्रक्रिया से उनमें ऐसा संतुलन और सामंजस्य स्थापित करती है कि उन विविध रसों से जो मधु निर्मित होता है वह एक ही प्रकार का, एक ही रंग का, बड़ा सात्विक मधुर और मीठा। सबको आनन्द देने वाला, प्रफुल्लित करने वाला, स्वस्थ रखने वाला। सच्चे स्वाध्यायी की प्रक्रिया ठीक चींटी मकड़ी और मधुमक्खी की प्रक्रिया है।

मिन्दर बण्यो कमाल बाळू रा धोरां में !

(तारादत्त 'निर्विरोध' : जयपुर)

पाणी मिसरी माळ, बाळू रा धोरां में,
निपजै पन्ना-लाल, बाळू रा धोरां में,
मिनखो धरम रुखाळ, बाळू रा धोरां में,
मिन्दर बण्यो कमाल, बाळू रा धोरां में,

सेठ बसै किळकत्ता, मुँबई, डिबरूगढ आसाम,
चाकर ठीडै बैठ्या-बैठ्या, काटै उमर तमाम,
कुण सूं मुजरा करै हवेल्याँ, जद बन में हा राम,
बाटड़ली जोई आवण री, गोखै ऊबी बाम,

गाई धरम-धमाळ, बाळ रा धोरां में,
राख्यो घणो खयाल, बाळू रा धोरां में,
कुण जाणै हो हाल, बाळू रा धोरां में,
मिन्दर बण्यो कमाल, बाळू रा धोरां में

ऊँचै धोरै माथै मिन्दर, च्यारूँ कानी धाम
उतरायण में नाथ बसै, दिखणाधै हनुमद्धाम
अगुणै आप बिराजै दादी, खेमी-सती ललाम
आथूणै मुनिजी को बिड़लो, मझ में गंगाराम

इब सब हुया निहाल, बाळू रा धोरां में,
भगती बणी मशाल, बाळू रा धोरां में,
पाप गयो पाताळ, बाळू रा धोरां में,
मिण्दर बण्यो कमाल, बाळू रा धोरां में

मरुधर में आ बात बड़ी है कदै न झुकती पाग,
सिणगारी पनिहारण में ही जोबन सागै आग,
मर्यां पछै भी कायम रहणो सत में मिल्यो सुहाग,
पञ्चदेव रो मिन्दर बणियो, सौ-गुण जाग्या भाग,

गंगा करै उछाळ, बाळू रै धोरां में
कटी जूण-जञ्जाळ, बाळू रै धोरां में
सुरगाँ पीढो ढाळ, बाळू रै धोरां में
मिन्दर बण्यो कमाल, बाळू रै धोरां में

देवता के चरणों में

(चितचोर : कलकत्ता)

देव तुम्हारे चरणों में ही है सब कुछ आनन्द

(१)

तृषित नयन प्रतिपल लखते हैं
सिर्फ तुम्हारी राह
आओ छू लूं चरण तुम्हारे
पकड़ो मेरी बाँह
छलक उठे सुख स्नेह सिन्धु कण बनकर मनहर छन्द

(१)

बिना तुम्हारे सब कुछ फीका
फीकी दुनियाँ सारी
आशाओं की सूख रही है
हरी - भरी फुलवारी
सचमुच बिना तुम्हारे स्वामी मैं न मुक्त निर्द्वन्द्व

(३)

आओ नाथ दास की विनती
इतनी सुनो पुकार
सृष्टि तुम्हारी तुम्हें बुलाती
पावन पंख पसार
सुधि की सघन छाँह-छलना में रहो नहीं अब बन्द

राजस्थानी संतों की चिंतन-धारा

(दीनदयाल ओझा : बीकानेर)

राजस्थान की पावन धरती ने जहाँ अनेक रणशूरमाओं को जन्म देकर अपनी वीरोचित भावना को गौरवमयी बनाया वहां अनेक सन्तों और भक्तों को भी अपनी समुज्ज्वल क्रोड़ में पालन कर भक्ति-भावना को अन्तःसलिला की तरह प्रवहमान रखा। वीरों और भक्तों का एक साथ लालन-पालन करके राजस्थान की धरती ने जहां समर-भूमि में अपनी शूरवीरता का परिचय दिया वहां सामाजिक जीवन में भी पट्रिपुओं का संहार करते हुए भक्ति-भावना की पावन पुनीत धारा अक्षुण्ण रखी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि राजस्थान में जहाँ अनेक रण-वीर हुए वहां उल्लेखनीय संत, महात्मा और भक्त भी। परन्तु आज राजस्थान के विपुल संत साहित्य का अन्वेषण होना चाहिए वैसा नहीं हो पा रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि इस ओर समुचित ध्यान दिया जाय और भारतीय जन-मानस में सत्य, संयम, सदाचार, सहायता, तप और त्याग आदि-आदि भावनाओं की निरन्तर बढ़ानेवाली इस भाव-भरी संतवाणी और संत-चरितावली को प्रकाश में लाया जाय, क्योंकि मानव-जीवन को ऊँचा उठाने के लिये इसी वाणी और इसी भावना की आज भी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

मानव-समाज को ज्ञान, भक्ति और कर्म की त्रिवेणी में अवगाहन कराने वाली इस भावभरी संतवाणी का उत्स संत विनोबा मानवता के उद्गम के साथ मानते है और वेदों को संतों की वाणी ही कहते हैं। इसी तरह संत-साहित्य-सर्वज्ञ श्री परशुराम चतुर्वेदी भी संत-काव्य की परम्परा उस काल से विद्यमान मानते हैं जबकि भाषा के ऊपर किसी व्याकरण-शास्त्र का नियंत्रण न था और न उसके काव्य-रूप की व्यवस्था के लिए किन्हीं छंदादि नियमों की सृष्टि हो पाई थी। संभवतः आगे चलकर यही परम्परा शास्त्रीय नियमों से आवद्ध रही, वह साहित्य की श्रेणी में तथा जो स्वाभाविक रूप से लोक-मानस में ज्यों की त्यों बनी रही वह लोक-साहित्य के रूप में ग्राह्य हुई क्योंकि अधिकांश सन्तों का सम्बन्ध सीधा जन-मानस से रहा और उन्होंने लोक-मानस को अपनी भाव-भरी वाणी समझाने हेतु लोक-भाषा का ही प्रयोग किया। इसीलिये महापंडित श्री राहुल सांकृत्यायन ने भी यही कहा कि अधिकांश संत-कवि, लोक-कवि थे। लोक-कवि होने के नाते उन्होंने समस्त लोक प्रचलित कथाओं-मुहावरों और शब्दों का प्रयोग किया। यही नहीं लिखमा चानीनाथ, डूंगरपुरी, भावपुरी, रोयल आदि संतों ने अनेक भाव-भरे रूपक भी जीवन से संबंधित कार्यकलापों, नित्योपयोगी वस्तुओं और रात-दिन दिखाई देनेवाले पशु-पक्षियों पर प्रस्तुत किये जो सीधे जनमानस पर प्रभाव डालने वाले सिद्ध हुए।

कंचन-कामिनी और विविध सांसारिक सुखों का परित्याग करनेवाले इन संतों को कभी भी अलंकार अथवा धनार्जन का मोह नहीं रहा। यही कारण है कि प्रायः अधिकांश संतों ने अपनी वाणी में भाषा, शैली, छंद, शास्त्र, व्याकरण, अलंकार आदि-आदि की ओर कभी भी ध्यान नहीं दिया और न अपने विषय में कुछ कहा ही। अतः इन संतों की वाणी को साहित्य के कलापक्ष की तुला पर तोलना कभी भी युक्ति-संगत नहीं कहा जा सकता है, पर इनके भावपक्ष पर अवश्य गंभीरता से विचार किया जा सकता है। इसीलिये संत-साहित्य-साधक श्रीवियोगीहरि जी ने कहा है कि साहित्यालोचकों के ये कथन अर्थ-शून्य हैं क्योंकि इन संतों की अटपटी रचनाओं में न तो साहित्य सरसता है न संगीत की लय है और न कला की ऊँची अभिव्यञ्जना ही, और भाषा भी उनकी ऊबड़-खाबड़ सी है। जो भी हो, यह सुनिश्चित है कि इन सन्त-कवियों और कवयित्रियों ने समस्त भेद-भावों को भुला, रात-दिन अध्यात्म साधना में लीन रहकर अपनी वाणी में जो कुछ कहा, उसमें चाहे कला-पक्ष का निखार न हो परन्तु भाव-पक्ष की गहराइयाँ पग-पग पर अवश्य उपलब्ध होंगी। जीवन के महत्त्व को समझ कर, जिस रूप में इन संतों ने कथनी और करनी की समता का उपदेश दिया, उससे हजारों को सन्मार्ग मिला और अनेक भटकते मनुष्यों ने दुनियादारी के छल-प्रपंचों से अलग-विलग रहकर सत्य, संयम और सदाचारमय जीवन बिताया। इसके महत्त्व को स्वीकारते हुए श्री परशुराम चतुर्वेदी कहते हैं कि वास्तव में इस प्रकार के साहित्य का स्तर बहुत ऊँचा ठहराया जा सकता है, तथा इसने लोकमानस को संतुलित बनाये रखने एवं लोक जीवन के लिये उचित मार्ग प्रदर्शन में भी बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई है।

इन संतों ने गुरु के प्रति गोविन्द से भी अधिक श्रद्धा रखकर अलख को लखा, अप्राप्य को प्राप्त किया तथा अखिल विश्वका अन्तर्मन में साक्षात्कार करके सनातन सुखोपलब्धी का स्वरूप देखा और दर्शाया। मोह-माया लोभ लालच काम-क्रोध आदि अनेकानेक असाध्य रोगों से पीड़ित मानव-समाज को मुक्ति दिलाने हेतु इन संतों ने कड़वी भेषज की तरह ही अपनी वाणी की ओखद दी। जिन रोगियों ने उसे संयम कर ग्रहण किया वे वस्तुतः सांसारिक रोगों से एक दो दिन के लिये ही नहीं सदा के लिये मुक्त हो गये।

इन संतों का आराध्य रूपवाला नहीं, बिना रूप का नहीं, सरूप भी नहीं, कुरूप भी नहीं, है भी और नहीं भी है इस सबके बीच ही ये आराध्य को सदा मित्रवत् पाते हैं—

"रूप नहीं ज्यूँ अनुरूप नहीं है,
नहीं है सरूप कुरूप नहीं है
दोई भी है, नहीं है कोई है
वहीं है, मध्य मित्र हमारा"

इन संतों का देश हमारे देश से प्यारा है। वहां तो कोई हरिजन शूरा ही जाता है और जाकर पुनः लौट नहीं आता। वहां का मार्ग बड़ा ही विकट है अतः जो धैर्य धारण करते हैं, शीघ्रता नहीं करते, वे ही वहां पहुँच पाते हैं, अन्य नहीं।

संतों ने इस संसार को अज्ञान, दुर्गतिशील और क्षणभंगुर माना है। उनकी दृष्टि में समस्त संसारवासी सोये हैं, अज्ञान की निद्रा में। उनका ध्यान ईश्वरोन्मुख नहीं है वे संसार की माया में

लिन है। अतः ये संत जागृत रहने वालों को ही अपनी बात सुनाने का कहते है—

"जागृत मिलै तो वात सुणाऊँ,
अपने दिल का ख्याल वताऊ"।

इन संतों की चिंतन धारा 'चेतन' में ही लीन रहती है अतः जिन कारणों से जीव उदास रहता है चिंतित बनता है उन समस्त कारणों को उन्होंने भली भांति समझ लिया है अतः उन्हें—

काम क्रोध दागो नहीं लागै, मोह व्यापै नहीं माया
करम कलेश लेस नहीं उनके, चेतन में चित लाया

परन्तु इस प्रकार का ज्ञान अर्थात चेतन में चित लाने का, चतुर नर ही प्राप्त कर सकते है जो 'आपो मार आप में दरसे' जो अहम को मार कर भीतर देखते है। अर्थात जो बाह्य जगत से संबंध जोड़ अन्तर्मुख रहते है उसे ही ये संत 'असल चकोरा कहते है। संतों की दृष्टि में ऐसे ही साधक चतुर है, गुणी है, विज्ञ है।

इन संतों ने गुरु और साधु-महिमा संसार की नश्वरता नारी निंदा माया से मुक्ति, मूर्ति पूजा का विरोध दिखावे और पाखंड की निंदा और नाम की महिमा गाई है।

संसार की नश्वरता सिद्ध करने के लिये इन संतों ने हंसों, बंगलो, चादर, चरखो, कनेड़ी आदि रुपकों के माध्यम से अपनी भाव भरी वाणी को व्यक्त कि है इन संतों के उद्बोधन पद भी हृदय स्पर्शी एवं प्रेरणाप्रद है, संभवतः इसीलिये संत साहित्य मर्मज्ञों को इन संतों का एक एक शब्द गंगा की बूंद की तरह पवित्र और रत्नाकर की मणियों की तरह मूल्यवान है। वस्तुतः वर्षों की साधना के पश्चात इन संतों ने संसार की अनित्यता, सृष्टि में ईश्वर की सत्ता, सत्संग का महत्व, योग साधना, गुरु-भक्ति लोभ-लालच, कंचन-कामिनी आदि आदि विपयों पर जो गहन विचार प्रकट किए उन पर आज भी चिंतन मनन आवश्यक है। क्योंकि वर्तमान में व्याप्त संकटों से मुक्ति दिलाने वाला यह संत साहित्य ही है। आज के समय में इस संत साहित्य के चिंतन मनन और युग परिस्थितियों में गहन अध्ययन की अतीव आवश्यकता है। इसी के अध्ययन से मानव समाज पावन, पुनीत और पवित्र हो सकता है।

वहुळै सुक्ख न रींचिए, दुक्ख न मरिए रोय
अजै घणेरा दीहड़ा, क्या जाणै क्या होय
विद्या नै वर नार, सम्पत अनै सरीर-सुख
माँग्या मिलै न च्यार, पूरवदत्त प्रगासिया

जीवन और धर्म

(विक्रम सिंह : सोलंकी)

जीवन, जिन्दगी, जिन्दगानी और अँग्रेजी भाषा का यह 'लाइफ' शब्द एक ऐसा शब्द है कि करोड़ों-करोड़ों इस में फँस चुके हैं, करोड़ों फँसे हैं करोड़ों फँसे रहेंगे, लेकिन इस अनबूझ पहेली का कोई ओर-छोर मिलता ही नहीं, जीवन की परिभाषा कई लोगों ने कई तरह से दी, लेकिन उलझनों का कोई रास्ता नहीं मिला, शब्दों ने और भी उलझाया, परिभाषाओं ने और भी भटकाया, बेचारा मानव कभी उन शब्दों को निगलता गया और कभी शब्दों को अधपका बाहर फेंकता गया। क्रम चालू है, यह क्रम ऐसा लगता है निरन्तर रहेगा, खैर।

वैसे विषय तो यह ऐसा ही है कि इसका किनारा कहाँ होगा, लेकिन थोड़ा सा, तनिक रुका जाये, तनिक मनन किया जाये तो इस गुत्थी से निकला जा सकता है, इस चक्रव्यूह से बिना किसी नोच-खरोंच के निकला जा सकता है और कुछ पूर्णरूपेण 'सेफ' भी, हमें इस चक्र में, उदाहरण मिलते हैं, कई व्यक्तियों का जीवन यथार्थ में 'जीवन' शब्द की भूल भुलैया को लांघ चुका है—तो इस गहन समस्या से ओतप्रोत विषय को समझने के लिये पहले हम क्यों नहीं स्वयं को समझें ?

मनुष्य और उसका जीवन दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ मान कर हम चल सकते हैं, वैसे 'मनुष्य' भी एक विशाल प्रतिमान है उसके समस्त पहलुओं को ध्यान में न रखा जाये बल्कि इतना देखा जाये कि मनुष्य या मानव क्या चाहता है तो हमें अधिक मथा पच्ची या दूसरे शब्दों में मनन करने की अधिक आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि हमारे आसपास, गाँव में, समाज में, या शहर में जो भी 'मनुष्य' हम देखते हैं उनमें से ९९.९% प्रतिशत मात्र 'सुख' चाहता है और इस 'सुख' शब्द की गहनता को कोई भी पाठक अस्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि हर कोई अपने परोक्ष एवं अपरोक्ष कर्मों के द्वारा मात्र सुख चाहता है अब वह सुख अवश्य अलग अलग तो होगा ही, क्योंकि सुखों में, शारीरिक, भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सुख (जिसे आत्मिक भी कहा जा सकता है) होगा। आदमी कर्म करता है तो सुख के लिये आदमी पसीने से खून तक सुख के लिये बहाता है और कभी इस सुख को दुविधा में स्वयं को भी खो बैठता है क्योंकि आदमी या मनुष्य जो ठहरा। उपर्युक्त सुख की गहनता भी हमें देखनी पड़ेगी और कुछ पाठक यह कहना चाहेंगे कि हमें तो सुख-दुख नहीं चाहिये भाई-हमें तो नोट चाहिए नोट। यह 'नोट' भी श्रीमन्! सुख के जलते रास्ते में वह हरा आम का पेड़ है जिसके नीचे खाट बिछी है, ठंडा पानी भरा है और आप पीना चाहते हैं लेकिन यह भी बहुत मुश्किल है। क्योंकि पैसा या नोट प्राप्त करना भी आसान तरीकों से, बहुत ही मुश्किल है, सही अर्थ

में इसे भी कहा जा सकता है कि हम मात्र सुख के लिये पैसा चाहते हैं, भले ही उस पैसे की प्राप्ति के बाद सुख नामक सुन्दर खिलौना हमारे हाथ लगे अथवा नहीं, पर हमारा क्रम निरन्तर अपने उसी रास्ते पर जारी रहता है। (यहाँ इतना तक लिखते हुए ऐसा लगता है कि हम हमारे लक्ष्य से दूर जा रहे हैं जैसा कि उक्त शीर्षक है) इस मोड़ से अब हमें यह देखना है कि पैसा क्यों चाहिये, पैसों का क्या करेंगे, पैसे कमाने के साधन क्या हों तो हम शीर्षक-च्युत नहीं हो सकते। यह शत-प्रतिशत सत्य है कि पैसा जीवन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है अर्थात रोटी-रोजी का माध्यम है हमारे परिवार का सहायक है, हमारी गृहस्थी की समस्याओं का निराकरण है लेकिन 'पैसा' 'सुख' नहीं हो सकता, मात्र तनिक सा माध्यम हो सकता है एक विशाल उद्देश्य नहीं जिसके पीछे हम, सुख को, शान्ति को या नींद को बलि चढ़ा दें।

चलो हम इस बहाने, ऐसी भूलभुलैया, या ऐसे पशो-पेश में पड़ने के बजाय क्यों नहीं जीवन के असली महत्व को देखें? क्यों नहीं हम जीवन के मौलिक स्वरूप से साक्षात्कार करें।

थोड़ा सा गहरा उतरें, थोड़ासा विचारों का मंथन करें तो जीवन एक वह अनमोल वस्तु है, जो थोड़ी सी भूल से थोड़ी सी भी त्रुटि से कहीं भी ऐसे गहरे गड्ढे में गिर सकता है और निरन्तर गिरता रहा तो रसातल में चला जाता है इसके लिए मानव जीवन के उस रूप पर दृष्टिपात करना होगा जिसके अनुसरण से कई महान पुरुषों का जीवन 'जीवन' की असली संज्ञा प्राप्त कर चुका है। इसलिये निम्न पहलुओं को देखना अति आवश्यक है, साथ में यहाँ यह भी ठीक लगता है कि मात्र कुछ बातें पढ़ने या लिखने तक ही सब कुछ सीमित नहीं होता अपितु उसके लिए मानव का अपना मनन, जीवन में उनको उतारना, साथ में व्यक्ति का देश-काल, वातावरण और परिस्थितियाँ भी अपना योगदान प्रस्तुत करती हैं।

उन पहलुओं को शुरु करने के पहले या देखने के पहले यह भी देख लिया जाय कि "धर्म" क्या है, वैसे धर्म शब्द इतना विशाल है जिसको साधारणतः समझना बहुत ही कठिन है फिर भी साधारण अर्थ में इसे कर्त्तव्य कहा जाता है, लेकिन इसकी गहनता इस प्रकार भी है—

व्यक्ति का जिस कर्म से लौकिक उत्कर्ष हो, वही "धर्म" है, जैन सम्प्रदाय में देहातिरिक्त आत्मा को स्वीकार करते हैं, पुनर्जन्म और परलोक भी मानते हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अनुमान और अपने आगमों को भी स्वीकार करते हैं इन्होंने 'धर्म' का एक सूक्ष्म पदार्थ के रूप में अध्ययन किया है ये कहते हैं धर्म के परमाणु होते हैं, पुण्य-विशेष के अनुष्ठान से उनके निर्माण होते हैं जैन-सम्प्रदाय में उन्हें पुद्गल कहते हैं उनके द्वारा धर्मात्मा के शरीर की रचना होती है और वह सुख को प्राप्त होता है इसका अभिप्राय यह हुआ कि "पुण्य विशेष से निर्मित देहारम्भक पुद्गल नामक परमाणुओं को ही धर्म कहते हैं।"

दूसरी ओर बौद्धों के अनुसार 'धर्म' एक विस्तृत स्वरूप में प्रयुक्त हुआ है उनके अनुसार आत्मा, विज्ञान सब क्षणिक है और अन्ततः सबका उच्छेद-शून्यता ही "निर्वाण" है। पाँचों स्कन्धों को ही वे धर्म कहते हैं। साधारणतः यों कहा जा सकता है कि व्यवहार में अहिंसा और निर्वाण प्राप्ति के उपाय मात्र को 'धर्म' कहते हैं।

न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम के मत में धर्म आत्मा का एक विशेष गुण होता है वह विहित कर्म से अथवा शुभ प्रवृत्ति से उत्पन्न होता है।

महर्षि कणाद का मत है कि जिस कर्म से इस लोक में अभ्युदय और अंत में निःश्रेयस प्राप्त होता है उसका नाम धर्म है।

सांख्य-प्रणेता कपिल सत्कर्मजन्य अंतःकरण की विशेष वृत्ति को धर्म मानते हैं।

व्यासाचार्य ने लोकहित कारी कर्म को भी धर्म कहा है।

यं त्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति सुधर्म यं गर्हन्ते सोऽधर्म इति। यह परिभाषा हमारे प्राचीन महर्षियों की है।

हमारे नास्तिक दर्शनों में सर्वप्रथम चार्वाक दर्शन की ही गणना की जाती है जिसके अनुसार इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक कोई वस्तु नहीं है।

यह सबतो हुआ धर्मका आकार-प्रकार, उसका अर्थ, उसको समझना अपना विशेष महत्त्व रखता है, क्योंकि परिभाषाओं से जीवन में कुछ भी मिलता है व नाममात्र ही मिला करता है, पूर्णरूपेण तो व्यक्ति का अपना 'स्टाइल मेथड' या 'ढंग' होता है जिसके अनुरूप कर्म करने से ही विशेष प्रकार का स्वरूप यह जीवन ग्रहण करता है।

तो जिन पहलुओं का वर्णन मैं करने जा रहा हूँ वे पहलू आदमी के 'अपने' पहलू हैं अर्थात् हर कोई अपने जीवन को किस तरह ढाले और परिस्थितियों व वातावरण से किस प्रकार समायोजन करे।

अन्य धर्म और व्यक्ति—इस विषय में सर्वप्रथम मैं उस महान-युग पुरुष का नाम लेता हूँ जिसने युग दिया, युग-बोध दिया और हमको 'आजादी' नामक सुन्दर उपवन दिया, वह नाम है राष्ट्रपिता गाँधी। उनका जीवन भी कभी एक शून्य था, उनके जीवन में भी कमी थी और उस जीवन की कमी को उन्होंने 'प्रार्थना' से पूरा किया। क्योंकि व्यक्ति जब किसी अपने आराध्यदेव की प्रार्थना करता है तो उसके कर्मों का चित्रपट उसके चक्षुओं के सामने से गुजरता है वह कर्मों का लेखा-जोखा करता है तो उसको अपनी त्रुटियों का दर्शन होता है और उस विशेष समय में वह उन त्रुटियों को देखकर उनको पुनः न दोहराने का संकल्प करता है। यहाँ मेरा उद्देश्य प्रार्थना के दौरान उस तथ्य को भी दोहराता है जिसके अनुसार व्यक्ति को दूसरेधर्मों के बारे में भी सोचना पड़ता है गाँधी ने एक स्थान पर लिखा था कि मैं "पहले हिन्दू हूं बाद में व्यक्ति"। इस कथन में किसी को धर्म की कट्टरता प्रतीत हो सकती है लेकिन बात कुछ इतनी सरल और सूक्ष्म है कि आत्मा को आनंद मिलता है क्योंकि यदि आप हिन्दू हैं तभी तो अन्य धर्म का आदर कर सकते हैं, उसकी उपयोगिता पर दृष्टिपात कर सकते हैं उसकी अच्छाइयों को जीवन में ढाल सकते हैं। अमीर खुसरो ने इस संदर्भ में कितना बढ़िया लिखा है, जब हम अपने राष्ट्र को प्यार करते हैं तो अपने धर्म को और भी अधिक मानते हैं। कितना सुन्दर सामंजस्य बताया है क्योंकि जिस राष्ट्र में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख सभी रहते हों तो हमें राष्ट्र-धर्म का सुख कितना मिलता है हर कोई जानता है, तो हम अपने धर्म को खूब मानें, समझें और अन्य धर्मों को दिल में उतार लें।

देखा तो नहीं लेकिन सुना है कि एक में जहाँ

देश के हर कोने के निवासी कार्यरत हैं और एक ही स्थान पर, एक ही परकोटे में हिन्दुओं के लिये मंदिर मुसलमानों के लिये मस्जिद, ईसाइयों के लिये चर्च और सिक्खों के लिये गुरुद्वारा है, हमारे विशाल राष्ट्र की अनेकता में एकता के सुन्दर दर्शन होते हैं।

इस संदर्भ में और इस विषय में जीवन और धर्म दोनों तभी मिलते हैं जब हमारे मन में काफी स्थान हो, संकीर्णता नहीं हो, मैं तो इतना कह सकता हूँ कि किसी दंगे-फसाद, की सम्भावना प्रतीत नहीं होगी। जैसा कि ऊपर मैंने बताया था आदमी को पैसा चाहिए या सुख दोनों इसलिये चाहिये कि आदमी शान्ति चाहता है भले उसको कितनी मिलती है उसकी समझ के ऊपर ही निर्भर है लेकिन उक्त तथ्य में थोड़ा भी डूबा जाये तो शान्ति मिलती ही है जिसमें कोई भी संदेह नहीं क्योंकि "जीवन का धर्म है शांति प्राप्त करना है" जीवन स्वभावतः शान्ति चाहता है और शान्ति स्वयं के धर्म' के साथ अन्य धर्मों के साथ सह-अस्तित्व में प्राप्त होती ही है।

दूसरा पहलू जो ले रहा हूं वह है देशकाल अथवा वातावरण और उनके साथ कदम से कदम मिलाकर चलना। आज हमारे समाज में कितनी ही [illegible] राजनैतिक वातावरण भ्रष्टाचार धार्मिक जीवन में ढोंग इत्यादि हैं। आज हर ओर [illegible] बदल रहा है परिभाषायें बदल रही हैं [illegible] परिवर्तन ही परिवर्तन है, हम मात्र [illegible] पुरानों के आदेशों पर भी नहीं चल सकते और हम युग के साथ चलने में [illegible] नहीं [illegible]। [illegible] जितना हो सके हम [illegible] पर साथ में थोड़ा तो स्वयं को बदलना ही होगा। क्योंकि जीवन की आवश्यकतायें वैसी की वैसी ही हैं थोड़ा बहुत रहने-उठने का ढंग बदला है सम्पूर्ण जीवन नहीं और उसमें भी यह 'पेट' तो बदल ही नहीं सकता अतः हमें 'कर्म' शब्द का प्रयोग 'धर्म' शब्द से करना है, इस बात को यों कहें कि युग के अनुरूप कर्म करना है और कुछ स्वयं को बदलना है साथ में जितना भी हो सके भरसक प्रयत्नों के साथ युग भी बदला है। उदाहरण के रूप में हम 'सत्य' को ही ले सकते हैं जिसके अनुसार यानी पुरानी परिभाषाओं के अनुसार सत्य बोलना ही है, पर यदि सत्य शब्द से किसी के पेट पर लात पड़ती है किसी का जीवन दुरूह होता है या किसी की आत्मा या मन दुखी होता है तो वह सत्य किस काम का। युधिष्ठिर का उदाहरण सत्य के संदर्भ में सब जानते हैं, क्योंकि वह सत्य भी सत्य की आड़ में झूठ था जिसको हर बौद्धिक प्राणी स्वीकारता है। वैसे मैंने बंगाली कथाकार के० घोष की रचना "सत्यसंघ" पढ़ी थी उसमें सत्य शब्द का "आपरेशन" इतना सूक्ष्म वैचारिक औजारों से किया था कि एक डाक्टर, जो कथा का मुख्य पात्र था, सत्य को छोड़ना पड़ा, क्योंकि सत्य बोलते बोलते उसने एक युवती के जीवन को नरक में, एक माँ-बेटे को अनाथ अवस्था में बदल दिया था। इसलिये युग के अनुरूप ही चलना है क्योंकि आपके प्रत्येक सीधे-साधे कथन को, जो आपके अनुसार सत्य है, ठुकराया जाता है तो 'गोली मारो' अर्थात युग के अनुरूप आपको बनना ही पड़ेगा, लेकिन वह इतनी जल्दी नहीं परिस्थितियों से जूझो, लड़ो, सामना करो फिर समयानुसार निर्णय लो।

अगला पहलू भी एक विशेष पहलू है वह

व्यक्ति के चारों ओर बिखरा पड़ा है वह है दुख जिसको कोई वेदना कहता है तो कोई दर्द, लेकिन यह प्रत्येक के जीवन में आता है झकझोरता है, निचोड़ता है इसको नकारा नहीं जा सकता है।

इसके लिये तो सर्वप्रथम कदम जो हमें उठाना है वह है परिस्थिति का स्वागत। जो भी आती है जैसी भी आती है आने दो, घबराओ नहीं क्योंकि कहीं प्रकृति-प्रकोप, अकाल मृत्यु, बीमारी ये प्रत्येक जीवन में किसी न किसी क्रम से आती ही हैं, तो आयेगी ही लेकिन इनको रोका जा सकता है थोड़ा बहुत, वह कैसे मैं नीचे बताऊँगा।

जैसा कि उपर्युक्त परिच्छेद में मैंने बताया, इनको आने दो और स्वागत करो लेकिन इनको बुलाने का कारण मत बनो भूल कर भी। यदि इनको निमंत्रण दिया तो ये अवश्य ही आयेंगे, क्योंकि कई बार दुखों को स्वयं व्यक्ति ही आमंत्रित करता है इनको कभी भी अपने घर का रास्ता न बताया जावे यह तब ही सम्भव है जब हम इस को जानते हों समझते हों कम से कम उसको तो ठीक स्वरूप में जीवन में प्रयुक्त होने दें। उदाहरण के लिये जैसे हम जानते हैं कि दूसरों की भलाई करना चाहिये तो क्यों नहीं करें, दुख में मदद करनी चाहिये तो क्यों नहीं करें और दूसरों को दुःख नहीं पहुँचावें, ऐसी बात न करें जो किसी की आत्मा को या मन को दुखी करती हो तो ऐसे कर्मों से दूर ही रहें क्योंकि हिन्दू-दर्शन अथवा भारतीय दर्शन का कर्म-सिद्धान्त अपनी जगह शत-प्रतिशत सत्य है। "जैसा करोगे वैसा भरोगे" इस कथन में तनिक भी सन्देह नहीं।

इसी संदर्भ में आवश्यकता के चूल्हे को छोटा रखें नहीं तो यह मनों ईंधन खा जायेगा और गरीबी, असन्तोष, बीमारी को निमंत्रण देता रहेगा, दूसरे के यहाँ ऐसा कपड़ा, ऐसे बर्तन ऐसा ठाठ-बाट कुल मिलाकर प्यास बढ़ती जायेगी और उसकी चपेट में आ जायेगा यह जीवन जो इतने भार को उठाने में अक्षम हो जायेगा, साथ में जर्जर होकर क्षीणता को प्राप्त होगा अतः रजाई के अनुसार पाँव, अर्थ, दान और शरीर के सम्बन्ध में हमें सोच समझकर ही चलना होगा नहीं तो किसी न किसी प्रकार का दुःख हमारे घर में बिना इजाजत प्रवेश कर जायेगा।

इतना होने के बावजूद किसी ने अपना घर देख ही लिया, जो हमारे पूर्वजन्म के परोक्ष और अपरोक्ष का कारण हो सकता है तो हमें बड़े ही सही मानदंड में उसका आदर करना है, क्योंकि जब सब विज्ञान समाप्त हो जाते हैं तो दर्शन की शुरुआत होती है उसी प्रकार सम्हल-सम्हल कर चलते हुए या संयमी जीवन बिताते हुए कोई दुख का पहाड़ आता है तो सब उपाय समाप्त हो जायें या काम न आयें, जो हम कर रहे हैं ऐसी विषमता में हमारे पास एक महान आधार है, वह है सर्वशक्तिमान परमात्मा। यह मेरा ही नहीं अपितु हरएक का दृढ़ विश्वास है कि वह तो है ही लेकिन उसको भी हम आत्मविश्वास के साथ ग्रहण करें आत्मा से स्वीकारें तो आनन्द तब ही है अथवा शब्दों में या परिभाषाओं में नहीं। जब भी ऐसा आभास हो तो उसके नाम की रटन ही रामबाण औषधि है, वह आता है सहायता करता है, मैं एक लेखक की हैसियत से कह रहा हूँ। इतना कहा जा सकता है कि मैंने कई बार उस आधार की परीक्षा ली जो भी उससे माँगा उसने हँसकर दिया। मैंने भी उसको जबभी पुकारा आत्मा से ही पुकारा, जब भी माँगा, स्वयं के हित

में तो माँगा ही साथ में लोक-हित को नहीं विस्मृत किया।

मैंने जैसा गाँधीजी के उदाहरण में स्पष्ट किया कि पहले मैं हिन्दू हूँ उसी संदर्भ में हम जब किसी भी समाज में रहते हैं तो उसमें और भी धर्मों का अस्तित्व है ही इसको कोई नकार नहीं सकता। आज प्रत्येक शहर, प्रांत एवं राज्य स्तर के साथ राष्ट्रीत स्तर पर भगवान महावीर की जयन्ती मनाई जा रही है, इस धर्म में या इस सम्प्रादाय में जितनी विशेपतायें हैं उनमें कुछ ऐसी भी हैं जिनके क्रम में एक जैन-कथा याद आ रही है, कथा कुछ इस प्रकार है—

एक वधू अपने परिवार का समस्त कार्य करती है, उसी परिवार में प्रातः ही उसे पानी लाने के लिये प्रस्तुत होना पड़ता है। रास्ते में एक साधु के दर्शन होते हैं, बिना किसी दुराग्रह के वह उस साधु से प्रश्न करती है "सवेरे-सवेरे ही कैसे आगये?" उत्तर में एक ऐसा वाक्य जो गूढ़ार्थ रखता था "ज्ञात नहीं था"। संयोग से उस वधू का श्वसुर भी उनकी बातों को सुन रहा था। दोनों की वार्ता के दौरान साधु ने भी कुछ और प्रश्न किये "तुम्हारे श्वसुर की क्या उम्र है"—"वह पालने में भूलता है," "पति की उम्र?" "वह अभी चलने लगा है। तुम्हारे पुत्र की? "वह पाँच वर्प का है" और "तुम्हारे घर में आचार·········" उत्तर था—नहीं है। यह सब सुनकर श्वसुर को वहुत खीझ हुई। वह उस साधु को उसकी मंडली के मुख्य के पास ले गया। पूछ-ताछ हुई तो सम्पूर्ण वार्ता प्रतीक एवं धर्माचरण के विपय में थी। श्वसुर की पालने की स्थिति धर्म से बिल्कुल अनभिज्ञ, पति की चलने की उम्र अर्थात् धर्म में कुछ रुचि पुत्र की आयु से तात्पर्य माँ के साथ रहने से धर्माचरण का पालन, और आचार का अर्थ घर में कुछ भी धर्म-कर्म नहीं।

श्वसुर ने इन बातों को समझा तो उसे बड़ा विस्मय हुआ। खैर उपर्युक्त कहानी से यह ही तात्पर्य है कि एक परिवारके जीवनमें धर्मकी कितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। एक बहू भी श्वसुर एवं समस्त परिवार को दिशा प्रदान कर सकती है। क्योंकि धर्म के प्रति विश्वास रखने, समझने-बूझने और उसके प्रति जीवन को समझने की शक्ति जब हमें प्राप्त हो जाती है तो व्यक्ति-विशेष के साथ सम्पूर्ण परिवार भी उस खुशी में, आचरण में कर्त्तव्य-सात हो जाता है क्योंकि जब व्यक्ति को संतोष एवं ज्ञान प्राप्त होता है तो व्यक्ति और परिवार दोनों अभिन्न हैं। जब दोनों अभिन्न हैं तो प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता है।

हमारे आसपास कई ऐसे परिवार हैं जहाँ थोड़ाभी "राम-रहीम", भगवद्-भजन, प्रार्थनाका आयोजन होता है सत्य ही उस परिवार-विशेष में शांति व सतोष का साम्राज्य दृष्टिगोचर होता ही है। उसके साथ उनकी संतोष की प्रवृत्ति अत्मविश्वास में परिणत हो जाती है, जहाँ तेरा-मेरा' जैसे विशेपणोंसे मुक्ति मिल जाती है, धार्मिक वातावरण का प्रकाश उस घर में उन्नति तो प्रदान करता ही है साथ में स्वास्थ्य भी।

उक्त समस्त विचारों एवं धारणाओं से हमें यह ही लेना है कि समझें, अनुभव करें और निस्वार्थ आगे बढ़ें। यथार्थमें हमें उस सत्चितआनन्द एवं सर्वशक्तिमान से साक्षात्कार होगा ही, हाँ उसको हम देख सकते नहीं उस सत्ता को तो मात्र अनुभव किया जा सकता है क्योंकि सुख व संतोष तो अनु-भूति ही है।ꕥꕥꕥ

मुक्त विचार

(सत्येन जोशी : जोधपुर)

जीवन तो महँगा सौदा है मृत्यु किन्तु सरला है
सुख-वैभव पियूष-सरितसम, दुविधा पर गरला है
एकाकी जीवन अति सुखमय त्यागी सर्व-सुखी हैं
सामाजिक बन्धन पीड़क हैं गेही सर्व-दुखी है
काम-वासना लिप्त आदमी केवल संहारक है
यौवन नव-पल्लव लहरायित नव नित उत्पादक है
मधु मादकता की जननी है अल्हड़ता उन्मादी
पागलपन में लगन श्रेष्ठ है भावुक प्रणय-प्रमादी
कीड़ों से मानव पनपा है भौतिक तत्त्व गुणी है
जीवन का क्रम चला निरन्तर मुक्त प्रकृतिअ-गुणी है
व्याकुलता व्यापक है जग में, आकुलता अकुलानी
दृष्टि ज्ञान की मार्ग-प्रणेता मनन करे सो ज्ञानी
चिन्ता चिर दाहक प्रज्ज्वलिता सोम विवेक सुधा है
उत्कण्ठा अविलम्ब चपल है धैर्य अमर श्रद्धा है
सत्य ज्ञान की परिभाषा है कपट क्रूर कुण्ठा है
प्रति अलीक मति शूद्र बनी है द्वेष आत्म-हत्या है
व्यथा व्योम से कब उतरी है खुशी कूप कब निपजीं
शब्द-ज्ञानमय परिभाषाएँ मानव मन से उपजीं
सुख देता वह सुन्दरतम है दुख ही मोटा भय है
मन माने जो वही सत्य है मिटे नहीं वह शिव है

राजस्थानके परम-संत जांभोजीकी विष्णु-भावना

सूर्यशंकरपा : बीकानेर

भारतीय धर्म-साधना में भगवान विष्णु का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। वैदिक देवताओं में विष्णु प्रमुख देव हैं। ऋग्वेद में विष्णु देवता के रूप में ग्रहण किये गये हैं।[1] वहाँ यज्ञ-रूप विष्णु की पूजा होती थी।[2]

"विष्णु दिनङ्ग का बल धारण कर मेघ का आच्छादन हटाते हैं।"

"विष्णु मनुष्यों को अन्न देकर हर्षित करते हैं।"

"विष्णु ने अकेले ही धातुगण, पृथ्वी, द्युलोक और समस्त भवनों को धारण कर रखा है।"[3]

जैसा कि वैदिक आर्य प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करते थे, वह स्थूल प्राकृतिक रूप की पूजा न होकर उस की अधिष्ठात्री मूल चेतन-शक्ति की पूजा थी।[4]

ब्राह्मण-युग में विष्णु की एकता यज्ञ के साथ की गई है—"यज्ञोवै विष्णुः। ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु असुरों से पृथ्वी तथा सर्वशक्तिमत्ता छीननेवाले गौरवशाली देवता के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं।

पुराणों में विष्णु एवं विष्णु के नाना अवतारों की कथा दी गई है।

कालिदास ने अपने काव्य 'मेघदूत' में गोपधारी विष्णु का स्मरण किया है।[5] गोपधारी विष्णु भगवान श्री कृष्ण हैं। विष्णु ने ही कृष्ण-रूप से अवतीर्ण होकर कंस का वध किया था।

विष्णु का मूल 'विश्' धातु में भी कहा जाता है जिसका अर्थ, प्रवेश करना है। तैत्तिरीय उपनिषद् का कथन है कि "इस संसार को रचने के बाद वह (विष्णु) इस में प्रवेश कर गया"।[6] पद्म-पुराण के अनुसार भगवान् के रूप में विष्णु प्रकृति में प्रवेश कर गए—'स एव भगवान विष्णुः प्रकृत्याम् आविवेश'।

जांभोजी ने विष्णु के सर्वशक्ति-सम्पन्न निराकार निरालम्ब, रूप को ही स्वीकार किया है। उनके विष्णु कबीर के परमतत्त्व राम की भांति हैं। उन्होंने अपने प्रथम 'शब्द' में ईश्वर वाचक नामों में 'गुरु' शब्द का प्रयोग किया है। चौथे, पाँचवें और छठे 'शब्द' में क्रमशः 'निरंजन शंभू' 'निरालम्भ शंभू' 'अल्लाह अलेख अडाल अजोनी शंभू' नामों का प्रयोग हुआ है। सातवें 'शब्द' में 'हर' 'पारब्रह्म' 'परशुराम' तथा उसके साथ 'विष्णु' नाम का

(1) अष्टक १, अध्याय २, सूक्त २२।
(2) वही, २-२-१५६-४।
(3) वही, २-२-१५४-४।
(4) प० रामगोविन्द त्रिवेदी, हिन्दी ऋग्वेद की भूमिका।
(5) मेघदूत, १।१५।
(6) बलदेव उपाध्याय, भागवत 'सम्प्रदाय', पृ० ९३।

प्रयोग हुआ है। इन 'शब्दों' में विष्णु के अतिरिक्त ईश्वर के अन्य नामों को देख कर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि संभवतः जांभोजी ने सार्वजनीन सुलभता को दृष्टि में रखकर, अपने द्वारा संस्थापित 'विश्नोई पंथ'की विधिवत् स्थापना के पश्चात ही विष्ण के नाम, जप, तथा उसकी आराधना का महत्त्व प्रतिपादित किया एवं विष्णु नाम को 'मंत्र' रूप में स्वीकृत किया होगा। ऐसा करने में उनका लक्ष्य संभवतः यही था कि अपनी भाव-भूमि में 'निर्गुण-निरालम्ब' ईश्वर नाम सबके लिए सुबोध एवं ग्राह्य नहीं हो सकते थे। जांभोजी ने पंथ-स्थापना के इसी परिप्रेक्ष्य में विष्णु नाम की सर्वाधिक श्रेष्ठता स्वीकार की। 'विश्नोई पथ' के विविध मंत्रों में 'विष्णु' नाम की ही प्रमुखता है, इससे भी यही अनुमान पुष्ट होता है।

जांभोजी के कुल शब्दों में क्रमशः ५-१३-१४, १५, १७, २३, २७, ३०, ३१, ३३, ४, ३५, ३६, ३७, ३६, ५०, ५४, ६४, ६७, ६८, ६६, ७०, ७७, ६७, ६८, ६६, १००, १०१, १०२, १०३, १०६, ११०, ११६, और १२०वें शब्द में न्यूनाधिक रूप से विष्णु की आराधना करने का उल्लेख हुआ है। परन्तु विष्णु-आराधना तथा 'विष्णु मंत्र' के नाम-जप का प्रमुखता से उल्लेख 'शब्द' १३, ३१, ६७, १०२, ११६ और १२०वें में हुआ है। ३० की संख्या वाले शब्द का तो नाम ही 'विष्णु कुँची' है। इस शब्द सम्बन्ध में 'विश्नोई पंथ' की धारणा है कि जिस प्राणी को यह 'शब्द' अंत-काल के समय सुना ५ जाता है वह प्राणी, यम-दूतों के भय से मुक्त हो सुख को प्राप्त होता है।

जिन शब्दों में प्रमुखता से 'विष्णु' का उल्लेख हुआ है उन में भी कहीं-कहीं विष्णु के अर्थ में ह हरि, शार्ङ्गधर, कृष्ण आदि नाम प्रयुक्त हुए हैं। ऐसा होने में हम जांभोजी की समन्वय दृष्टि का ही दर्शन करते हैं।

जांभोजी ने अपने शब्दों में विष्णु की 'भलमूल' (विश्वमूल) सींचने के रूप में आराधना को २। है जिस की आराधना युधिष्ठिर, प्रह्लाद और राजा हरिश्चन्द्र ने की,[1] तथा जिसकी आराधना फलस्वरूप भक्त-प्रवर प्रह्लाद ने पांचकोटि प्राणियों को, सत्यवादी हरिश्चन्द्र ने सात कोटि प्राणियों को और सत्याचरण करने वाले युधिष्ठिर ने कोटि प्राणियों को मोक्ष का अधिकारी बनाया[3]। उन्होंने उस 'मूल' के सींचने (आराधने) का फल मीठा बतलाया है। वे स्थान-स्थान पर उस मूल— विश्वमूल विष्णु को सींचने एवं उसकी खोज करने का उपदेश तथा उसकी आराधना करने का आग्रह करते हैं[4]।

(1) जांभोजी की वाणी, शब्द ३१, ६६, ६६।

(2) जैसे वैष्णव सम्प्रदाय, मे पद्नाभ, त्रिविक्रम, कपिल, मधुसूदन आदि परम भक्त माने गये हैं वैसे ही 'विश्नोई पंथ' में प्रह्लादादि चार विष्णु भक्तों की गणना की गई है।

(3) जांभोजी की वाणी १।१६ १७।

(4) जब भक्ति का केन्द्र-बिन्दु (मूल अधार) भगवान विष्णु होते हैं तब वह विष्णु-भक्ति कहलाती है और उस का भक्त वैष्णव कहलाता है। इस के साथ अहिंसा और सदाचार का अनुबंध बहुत दृढ़ता के साथ रहता है।

जांभोजी कहते हैं कि करनी और कथनी के अन्तर को तिरोहित करो तथा संशय और निन्दा का सर्वथा त्याग कर एकाग्र मन से विष्णु का जाप करो विष्णु के सन्मुख अपने को समर्पण कर दो। विष्णु-भक्ति करने वालों को यह पक्का विश्वास दिलाते हैं कि यदि तुमने मेरी इस विष्णु-आराधना की आज्ञा का पालन किया तो तुम्हें निश्चय ही मोक्ष की उपलब्धि होगी[1]। यदि तुम कृष्ण की ओर उन्मुख होकर चले तो मानव-जीवन को सार्थक करते हुए संसार के दुःख-द्वन्द्वों से पार हो जाओगे[2]। जिस परमेश्वर-विष्णु की आराधना युधिष्ठिर ने की, उसाको आराधना तुम करो। बिना हरि की आराधना के प्राणो 'विष्णु-धाम' का अधिकारो नहीं बनता[3]। वे कहते हैं जिसको हरि में पूण अनुरक्ति है तथा जो अपनी आशाओं से निराश्रित हा चुका हैं उसे वह हरि', नारायण' अथवा 'नर' रूप म अवश्य मिलते है आर मोक्ष के द्वार प्रशस्त करते हैं[4] किन्तु विष्णु मे दृढ़ आस्था होना चाहिये[5]।

जाभाजो मूख आर भ्रमित प्राणी को सतत् सावधान करते हैं तथा आयु के प्रतिक्षण क्षोण हाने की ओर संकेत कर उसे पूछते हैं-तू हृदय की जड़ता को भंग कर क्यों नहीं सावधान हुआ तथा गुरु के निर्दिष्ट मार्ग पर क्यों नहीं चला ? ऐसा न कर निश्चय ही तू मूर्खता करता है और व्यर्थ का भार उठाता है। तू दुनियाँ के उपहास की बिना परवाह किये बार-बार 'विष्णु-मंत्र' का जप कर[6]। जिस प्रकार एक-एक पाई के जोड़ने से लाखों रुपये एकत्रित हो जाते हैं वैसे ही विष्णु-विष्णु करने से उसके नाम का संग्रह होता है और उस एकत्रित विष्णु-नाम के मूल्य में अमूल्य वैकुण्ठ-धाम की प्राप्ति होती है[7]। अतः अपने शरीर-रूपी खेत में विष्णु के नाम-रूपी बीज को बोना चाहिये। जांभोजी दृढ विश्वास के साथ कहते हैं कि तुम प्रमाण के लिये यह लिख रखो, यदि तुमने इस बीज को बोया तो वह तुम्हें अनंत गुणा अधिक लाभ देगा[8]। गुरुसे पूछकर जो विष्णुदेव के मार्ग पर अग्रसर होगा, वह सुखी होगा[9]। श्रेष्ठमूल, विष्णु की आराधना से उसके सुमरण से प्राणो आवागमन से मुक्त हो जाता है[10]। शाङ्गंधर अपूर्व धर्म को देनेवाला है[11]। विष्णु को जपने से धर्म होता है[12]। पापों से छुटकारा मिलता है[13]। विष्णु-विष्णु मंत्र का जाप करन से मन स्थिर होता है[14]। काम-क्रोधादि का शमन होता है[15]। प्राणी यमपाश से आबद्ध नहीं होता। उसके जपने में अनन्त लाभ हैं। अतः प्राणी को बार-बार विष्णु का नाम लेते रहना चाहिये[16]।

पहले मंत्र में जांभोजी ने विष्णु नाम को "जीमने" (भोजन करने) को कहा है। वहाँ कहा है कि आराधना के द्वारा जो विष्णु को स्पर्श करता है वह वस्तुतः अमृत का पान करता है। जो उसे जपता है वह भवसागर से पार हो जाता है[17]। जांभोजी

(1) जांभोजी को वा० १ यह २२।
(2) ,, ,, ,, ६६।
(3) ,, ,, ,, ७०।
(4) ,, ,, ,, १०२।
(5) ,, ,, ,, ३३।
(6) १२०।
(7) ११६।
(8) १०३,।
(9) ३०,।
(10) ३१,।
(11) ६८,।
(12) १०२,।
(13) १०२,।
(14) ९७,।
(15) १५,।
(16) ३१,।
(17) ९७। पाहल मंत्र।

कहते हैं यदि विष्णु का नाम लेने में जीभ थकती है तो ऐसी जीभ के बिना ही रहना चाहिए।

वह विष्णु सहस्रों नामों से, सहस्रों स्थलों में, सहस्रों गाँवों में, आकाश सदृश चौदह भवन, तीनों लोक, सप्त पाताल और जम्बू द्वीप में तत्त्व रूप से सर्वत्र समाहित है। ऐसा गुरु के कहने से तथा अन्य अनेक (शास्त्रादि) प्रमाणों से प्रमाणित है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण को ही लीजिये कि वह विष्णु यत्र-तत्र-सर्वत्र समस्त छोटी-बड़ी जीव-योनियों का उत्पादन एवं संचालन करता है।[1] और वह आवश्यकतानुसार समय-समय पर ऋतुओं में परिवर्त्तन करता रहता है।[2] वह तिल में तेल और पुष्प में गंध की भांति पंचतत्त्व में प्रकाशित है।

वह विष्णु जीवन का रक्षक है।[3] पृथ्वी का पालन करने वाला है।[4] विष्णु प्राणों का आधार है।[5] विष्णु ही जीवन का मूल है।[6] विष्णु ही उत्पत्ति, स्थिति तथा संहृति-व्यापार का उत्पादक है।[7] वह असम्भव को सम्भव बनाने में समर्थ है। जांभोजी कहते हैं—उसके महान् चरित्रों का कहाँ तक वर्णन किया जाय।

जांभोजी के पहले मंत्र में भी 'विष्णु' के स्वरूप का यही दिग्दर्शन होता है। यथा 'शुभकरतार' (शुभकर्मों की प्राप्ति कराने वाला अथवा वह शुभकर्ता है) 'निस्तीर' (उद्धार करने वाला है) 'भवतार' (भगसागर से पार लगाने वाला है) 'धर्म धार' (धर्म को धारण करने वाला है) 'पूर्व एक ओंकार' (वह सृष्टि पूर्व ओंकार ... था)

'बृहलवण' में भी विष्णु के इसी भाव के दर्शन होते हैं। वह तीनों भवनों को तारने वाला है। स्वर्ग और मोक्ष उसकी कृपा से प्राप्त होते हैं। ... को जपने से आवागमन मिट जाता है। विष्णु ... गुणों का अंत नहीं है।

विष्णु-सम्बन्धी जांभोजी की इस विचार-धारा में हमें 'विष्णु', विष्णु-जप, आराधना तथा ... द्वारा मिलने वाली सफलता का स्पष्ट संकेत मिलता है। जांभोजी ने विष्णु को, जीवन का मूल, अनंत-गुण-सम्पन्न एवं उसे मोक्ष को देने वाला माना है।

---

(1) ६७, ६८।
(2) कलश मंत्र।
(3) कलश मंत्र।
(4) साधुदीक्षा-मंत्र
(5) १५
(6) ६७, १०१।
(7) १०१
(8) १४

—:०:—

वंशी की तान

(यशोदा देवी : बीकानेर)

अन्तर के मधुवन में, वंशी की तान सुनें
अर्जुन से कान लेके, गीता का ज्ञान गुनें
करना है निर्मल जो, धरती का पौर पौर
अपना ही लाभ छोड़, जगती का लाभ चुनें
जीवन को जीने का, पाठ अब छूट गया
अपना मुख लखने का, दर्पन अब रूठ गया
बिखराई लड़ियाँ हैं, मोती की ठौर-ठौर
लगता है नेह-भरा, सूत्र आज टूट गया
बोलों को छोड़ हम कामों से खेत बोवें
गँदलाये भावों को गंगा से आज धोवें
करने को पूर्णतम भावनाएँ देश की
जनहित की मणिकाएँ श्वासों में आज पोवें
अंधियारे कण-कण को सूरज से बीन लें
दुखदाई गर्जन को मेघों से छीन लें
मंगलमय वर्षा की हरियाली वेला में
धरती में मेहनत बो फसलें नवीन लें
मेड़ों सी गतियों को अभिनव हम मोड़ दें
विकृत सी मतियों को पग-पग हम छोड़ दें
लख लें नवीन हम सूरज अब भोर का
अंधियारी रातों से नाता हम तोड़ दें

—:०:—

धुन अर प्रभु-भक्ति

(नानूराम संस्कर्ता : कालू)

धुन ; केई भणनै री राखै, केई गुणनै री ; केई कमाणखाणै री धुन में नामाजादिक गिणीजै। सूमड़ा मिनख आपरी धुन में रैवै अर धुन रा धणी बाजै। गाणै री धुन, बजाणै री धुन ; नसै-पत्तै तथा प्रेम री धुन, आप-आपरी जगां चालै। केयां मिनखां री इसी धुन हुवै, आपरी धुन में बगै। धुन बंधै, धुन सँधै अर फूठरी सुहावै। रामधुन मिनख जमारै री सैंसूँ सखरी-बत्ती मोटी धुन हुवै। या दैवत धुन है ; इण रै जाप सूं जीव नाँवरो कल्याण हुवै। पण धणी री दिव्यारी जाणै जकोही अणभै धुन रा अन्दरूणी आणंद लूंटै। बाकी रा अजाण डोफा 'मूँ है राम बगलमें छुरी' वाळी सूकी रामदुहाई देवता फिरै।

धुन रा भजन आपरी भावना-भरोसै-जोग सँग लोग करै। भावां सूँ भजन अर तल्लीनता सं भक्ति अूपजै। भक्ति केई भांत सूँ सजै। केई कीर्तन करै, कई नर रास रचावै, कई मिनख धुन में रमै केई नाँवो जपै। केई नाचै, ओळमौं देवै अर पूजा-पाठ करै। पण भक्ति रा अै: सगळा प्रकार नवधा भक्ति कैहावै। नुगरा माणस ही ओलै-छानै मालिक नै चितारै। गोबिन्दो गोखै रामजी रटै अर नारायण रो नाँवो भीसमाथै राखै। नास्तिक बंदा विपत्यां रै धंधां में फँसर प्रभु रा प्यारा बणै। भक्ति में भीजै सेवा में रीझै अर बारम्बार विस्णु-विस्णु विलारै। जकै मालिक म्हांनै जलम दियो, रुखाळी राखी तथा भांत-भँतीला आराम बकस्या। जकै परमातमा री मनस्यां सूँ परबारो पेड़ रो अेक पानड़ो ही नीं हाल सकै ; जको प्रभु सरब बळगुण भरपूर दयालु अर न्यायवाळो है। कीड़ी नै कण अर मैंगळ नै मण पूरै ; सैसूं मोटो आखा देवां में टाळवों उमराव, मंगळ-उछावां रो देवाळ तथा धन-विद्या कुटुम्ब रो अेकलो धाकड़ धणी है, उवै आणंददायक भगवान नै जको मिनख चेतै ही नीं करै वो कोरो गाफल अर गुणगाळ जीव है। ईश्वर सगतीरी कोई सींव नहीं हुवै। इयै वास्तै जको आदमी आपरै अूजळा कामां रै जरियै रामगुलाम तथा चतरभुज चमचो बणै ; बो नर इण असांच संसार में सांच-सांच सुभागियो सुमाणस वाजै।

घणा मिनख गोमुखी में हाथ राखता हर वखत होठ हलावै, माळा फेरता फरेब दिखाळै। पण ईश्वर री हुकमअदूली करै उवैरी आग्या पाळणी तो आन्तरै रयी ; पण उणरी आग्यावांसूँ जाबक ऊपराकर ऊंधा आचरण उघाड़ै। अैड़ा अळिया आदम्यांनै रामधुन रो पूरो फळ कदीना मिल सकै। सांच-सरळता, दया-दान, तप-ग्यान, विनै-उद्यम, त्याग-राग अर अहिंसा जिसा अनेक गुण इसा है जकां नै अपणावण खातर आदमी-माथै ईश्वर रो साफ-सदीनो हुकम है। पण जको मिनख बावळियै रै बतायेड़ा इण गुणां सूँ उल्टो आचरण करै अर राम नाँव जपतो जावै, उवै नैं रामधुन रो लाभ हरगज नीं फळापै। म्हे सारा जीव-जिनावर ईश्वर री औलाद ; बेटा-बेटी हाँ ! बो ही म्हाँ

सगळां रो बावळियो है। बैंही आज तांणी म्हारी रख्या-पाळणा करी है। जे म्हे दूबळा-गरीबां तथा पतळा पाड़ौस्यां नें सूग-भींट री दीठ जोवां, अन्याव रा घाव घालां तथा निजू स्वारथ रै सुभीतै दूजां नै हाण पौंचावण री जुगत लड़ावां तो म्हां माथै मालिक री क्रिपा कैयां होवैली ? दुरबळ रो बळ-रास ! राम री बैठक गरीबां रै घरां जमै।

टहळ-चाकरी, दान-दया, न्याव-भाव अर सेवा जोग भलाई सूँ भगवान घणा-घणा राजी हुवै। जका स्याणा मानव साँवरै रा प्यारा सेवक बणना चावैं, वै इयां गुणां नै अवस धारै तथा भाव-भक्ति सूँ जगदीस्वर रो खरो जाप चितारै। भक्त मिनख रै जमारै में निमधां मिनखां री सेवा अर परोपकारी आण, पूरी तरां समा जावै-लीलाधारी में लगन ; श्रद्धा, भक्ति अर बिस्वास जमै जद सागै-सागै उवै नारायण री आग्यावां रो परतख पाळण हो ज्यावै ; या ही सांची रामधुन तथा गोपाळ धुन है।

दुनियां नै दीनबंधु रो पूरो भरोसो है के सांचे दिल सूँ लूँठी लगन रै साथ अनुनय-अरज की जावै तो वा जरूर जामी रै दरूजै सफळ हुवै। भरोसो उचित अर आछो है। पण जे कदास म्हारी अरज हाथूँहाथ सफळ नहीं हुवै तो निरास करै नीं होवणो चायै, या बात सांच है के मालिक सैंपर मेहरबान है। पण या भी तो ठीक है के ईस्वर इन्साफी है ; घणी बिरियाँ इसो हुवै के म्हे इयै जलम तथा लारलै किणी जलम रै खोटां खगधांळै करमां रै कारण फोड़ा झेलां-भुगतां। क्यूँ के करमां रो न्याव करणो ही तो नाथ रै हाथ हुवै। इसै औसर या नहीं सोचणी चायै के म्हारी ईस-भक्ति अथवा अन्तरजामी नै अरज फिजूल गई परी। उवै अरज रो फरज-फळ समै पर मिलण रो है जको मिलसी अर बिलकुल वखतसर अवस मिलर रैसी। उछाव रो वधापो, हिड़दै रो हरख अर काळजै री काठ जिसा फळ तो इसा है जका तुरंत मिलबो करैं। पण परमात्मा री प्रार्थना तो कांठळ री तरियां ऊँढै सूँ ओलरै जद सफळ हुवै। भक्त लोग संसार रै दुखां न दुख ही नीं मानै ; वै तो उवां नै परमात्मा रो प्रसाद-जाणर खुसी-खुसी सैवै अर सदीव अन्तरयामी रै प्रेम में आनंद-मगन रैवै।

रामधुन री भक्ति में लाज रो कांई काज ! ऊपरी दिखावै सूँ ही कोई बडो लाभ नीं हो सकै। अंतःकरण रै जरू आँटो दियां बिना धुन लागै नहीं। काळजै नै काठो बांध्यां ही काम चालै। मन रो फेर मिटै जद ही पाप कटै अर वो नर निरभै-नाँवो रटै। धुन अेक घुण है जको मिनख रै पापां नै चाट तो थको राम-रगड़ रै मरम में पौंच जावै। ❀

> घवळा ऊठो कन्ध धर बळ कर बाहुड़ियाहँ
> गाडी पड़ी उजाड़ में खँचै न टोगड़ियाहँ
> मन तन रा मेळाहँ कर लेणा कमलापती
> काले इण वेळाहँ कुण जाणै रहस्याँ कठे

साँचो इन्सान

(झूमरमल वर्मा : विराटनगर, नेपाल)

(१)

पीड़-पारध्याँ बाण'क घुरसळ कुरळावै
कँवळी कळी अजाण तावड़ाँ कुम्हळावै
पीव बसै बैं पार बडारण बड-भोळी
मारूड़ो भखमार रावटी झुकळावै

(२)

लाडल का सौ-रूप'क नखराळी बाळा
माया बणी स्वरूप केश काजळ-काळा
भूण चळ्यो नो-महलो बरो उरांसै पण
कुवा करै टणणाट छिपकल्यां छन्छाळा

(३)

आतम बण बीनणी खड़ी मुळकै पोळी
हींडै क्हुवै कहार चढ़ी मुळकै भोळी
पाळ सासरै री, पसवाड़ो कुण पकड़ै
पलक मीचणी खावै हिवड़ो डबडोळी

(४)

माय, सहेल्याँ, नाँण'क सगळी छठे मरी
धरम-धुजा की पाँण न लंका अठे जरी
एक अकेला हाँण, पाप या पुण्य कह्यो
करल्यो मिनख बखाण, ज्यान तो बेखबरी

—०—

उद्घाटनोत्सव : १८ जन १९७५

धार्मिक राजस्थान

वैद्य दिनेश मिश्र : गोंदिया, महाराष्ट्र

विश्व में हिन्दुस्तान का महत्व विशेष रूप से सदा ही रहा है उसी तरह भारत में राजस्थान का महत्व शरीर पर सिर की तरह सर्वोच्च है नेत्र कर्ण नासा, आदि प्रत्यङ्गों से शीश शोभित है उसी प्रकार विभिन्न जिलों से राजस्थान प्रान्त शोभायमान है इन जिलों के दानवीर, शूरवीर, ज्ञानी और सन्तजन कर्ण कुण्डल की भांति अपने अपने क्षेत्र की सुन्दर सुखद श्री वृद्धि के लिये अनुकरणीय प्रतिस्पर्धा मे रत हैं। राजस्थान का कोई भी जिला या नगर महत्वशून्य नहीं है यहां के छोटे से छोटे स्थान को भी "टॉड" ने थर्मोपली की उपमा दी है ऐसे गौरवशाली राजस्थान के छब्बीस जिलों में से एक जिला झूँझनूँ भी है जिला जयपुर हो या मथुरा, पटना हो या सूरत हो यह शासकीय सीमाएँ राज्यसंचालन हेतु हैं अन्यथा स्थान की विशेषता और धार्मिक मान्यता में हम सभी हिस्सेदार हैं महाराणा प्रताप हो या छत्रपति शिवाजी हो हर विवेकशील इनके प्रति श्रद्धायुत है इनकी प्रेरणा के अक्षय वट की एक शाखा जिला झूंझनू भी है यहाँ का क्षेत्र भी पौराणिक और ऐतिहासिक तथ्यों से शृंगारित है। निकटस्थ गौरवशाली खेतड़ी का अपना महत्व है तो पड़ोसी सीकर के निकटस्थ जीणमाता और हर्ष के भैरूं की शक्ति से भक्तगण भली प्रकार परिचित है उसी तरह झूँझनू जिले में सकराय और राणी सती माँ के असंख्य उपासक हैं जिनकी कामना मां की कृपा से पूर्ण होती है।

सीकर निकटस्थ जीणमाता जिला चूरू में धांधू ग्राम के निकट काचतळाई (वर्तमान-काचाणी) में स्नान हेतु आई हुई अप्सरा एवं राजा धंध की पुत्री बतलाते हैं हर्षनाथ भैरों भ्राता है इनकी गाथा से भक्त समुदाय परिचित है जीण माता-यह कन्या भाभी से त्रस्त होकर शक्ति उपासक बनी माँ दुर्गा में लीन हो शक्ति सम्पन्न पूज्य देवपद को प्राप्त हुई है, भाई हर्ष के आग्रह करने पर भी जीण घर वापस नहीं लौटी तब अपनी सहोदरा का अनुगामी बनकर भाई हर्ष भी सन्यास ले तपोनिष्ठ बन गया है, दैवी शक्ति की द्रष्टि से जीण माता का प्रभाव अधिक प्रतीत होता है किन्तु लौकिक दृष्टि से हर्ष का चरित्र मानव जाति के लिये मार्ग दर्शक है, हर्ष का गृहस्थ जीवन के भोग विलास पत्नी सुख सन्तान मोह आदि समस्त सुखों को अपनी बहन पर निछावर करने वाला हर्ष वास्तव में महान है माँ जाई बहन के लिये पत्नी को त्यागना हर्ष का उच्च आदर्श है। शिक्षा यह है कि कोई भाई अपनी बहन की उपेक्षा न करे कोई भौजाई नणद को अपमानित न करे कन्या देवी रूप आदरणीय है। धन्य है हर्ष का आदर्श। कन्याओं को भी चाहिये कि वे भी अपने देवांश को उन्नत उज्वल रखें तभी वे वन्दनीय होंगी और दोनों परिवार के लिये गौरवदायिनी बनेंगी।

नदी का उद्गम स्थल महत्व नहीं पाता है, किन्तु प्रवाहित नदी का महत्व अवश्य रहता है।

इसी तरह जीण माता की आराध्या देवी भौंरा की राणी के विषय में है, ऐसा मेरा विश्वास है, जीण मंदिर में रखी एक नौबत पर उत्कीर्ण लेख तथा लोकगीतों में गाई जाने वाली बिड़द से स्पष्ट होता है कि जीण की महिमा से उत्तेजित होकर मूर्तिभंजक औरंगजेब (अपभ्रंश-नौरंग बादश्या) ने जीण मन्दिर विध्वंस करने ससैन्य मन्दिर पर आक्रमण किया था। तब भौंरा की राणी के असंख्य भौंरो ने उस यवन सैन्य पर ऐसा आघात किया कि वह सैन्यदल बुरी तरह आहत हो त्राहि त्राहि कर जिसे जिधर मार्ग दिखा उधर भाग छुटा, तथा भौंरों द्वारा घिरा हुआ औरंगजेब अपनी प्राण रक्षा के लिये लोटता हुआ माँ के चरणों में पहुँच अति दीन भाव से क्षमा याचक बना। एवं नौबत अर्पित कर अपने राज्य द्वारा अखण्ड दीप का व्ययभार स्वीकारा। इस प्रकार की बातों का उल्लेख मुगल इतिहास में मिलना असम्भव है, किन्तु लोक गीतों से तथा लोक गाथा एव यश आदि से उपरोक्त तथ्य प्रगट होते हैं। अस्तु यह शक्ति पीठ बावन शक्ति पीठों से अलग है इस शक्ति पीठ का उल्लेख सप्तशती के ग्यारह वें अध्याय में माँ दुर्गा के शब्दों में इस प्रकार है—

यदाऽरूणाख्य स्त्रैलोक्ये महा बाधां करिष्यति।
तदाऽहं भ्रामरं रूपम् कृत्वा संख्येय षट पदम्॥

मातेश्वरी का यह अवतार ही जीणमाता की आराध्या भौंरा की राणी भ्रामरी है इस में शंका नहीं होनी चाहिये। विद्वज्जन इसे रुद्राणी कहते हैं। यह स्थान सीकर जिले में अवश्य है किन्तु यह स्थिति शासन व्यवस्था की दृष्टि से एक सीमा का रूप रखती है, अन्यथा धार्मिक सामाजिक मान्यता में ऐसी सीमाएँ अवरोधक कदापि नहीं है ऐसे स्थानों पर विभिन्न प्रान्तों के भी यात्री पहुँचते हैं। इसी तरह जिला झूंझनू भी शक्ति पीठ से आलोकित है यहां भी मातेश्वरी का स्थान सशक्त पीठ के रूप में विद्यमान है। सप्तशती के बारह वें अध्याय में जगद्धात्री कहती है—

शाकम्भरीति विख्यातिम् तदा यास्याम्यहं भुवि॥

यही शाकम्भरी देवी लोक भाषा में सकराय के नाम से विख्यात है। विद्वज्जन इन्हें ब्रह्माणी कहते हैं। आबू की अम्बा ही दुर्गा है इन्हें कमलाणी कहना अनुचित नहीं है।

झूंझनूँ नगर में लोक देवी राणी सती माता का स्थान इस जिले का गौरव है, इन के उपासकों की संख्या बहुत बड़ी है। इन के कथानक पर चलचित्र भी बना है, अपने उपासकों की कामना सती माँ की कृपा से पूर्ण होती हैं। यूं तो राजस्थान के हर जिले में छोटे छोटे गाँवों में भी सती हुई हैं सभी वन्दनीय हैं, परन्तु राणी सती माँ का स्थान विशेष है सती प्रथा को जन्म देनेवाला राजस्थान धन्य है कि जहां शासन द्वारा सशक्त विरोध के बाद वर्तमान समय में भी सती होती हैं, जिन्हें रोकने के प्रयास असफल हुए हैं। यह सती के सत्व की शक्ति का प्रत्यक्ष प्रामाणिक चमत्कार ही है, भले ही विदेशी सभ्यता के चाटुकार मोहताज इसे अन्ध विश्वास कह लें, किन्तु सत्य सत्य ही है। सत्य ही रहेगा। शासन भले ही मौन रहे या विरोध करे, हां जबरन सती कराना अवश्य घोर पाप-अपराध है, किन्तु स्वेच्छा से होनेवाली सती के पावन चरणों में राजस्थानी जनता अति श्रद्धा पूर्वक नत मस्तक है। युगान्त में भी रहेगी दि० ३।४।७३ को हुई कोटड़ी ग्राम की सती भी काफी प्रसिद्धि पा रही है।

आदिगौड बिंवल मिश्र के परिवार में भी सती हुई है जिनकी छत्री बबाई में छापोली मार्ग पर विद्यमान है इस मिश्र वंश की किसी समय बबाई में बाहुल्यता थी इसी कारण बबाई मिश्रों की कहलाती है। सुधाकर पंचांग के रचयिता गणितज्ञ पं० घासीराम मिश्र बबाई के ही थे राजस्थानी भाषा के प्रथम उपन्यासकार सम्भवतः यही हैं। इस लेख के लेखक बबाई निवासी हैं।

राजस्थान के प्रसिद्ध पर्वत आडावळा का एक उच्च शिखर बवाई में है बबाई में पर्वत के दूसरी ओर लगभग पाँच छह किलो मीटर दूर गहन वन मे हिंसक पशुओं से युक्त कुण्ड नामक जल श्रोत है जहां किसी समय तपस्वी रहा करते थे।

बबाई खेतड़ी मार्ग पर बाबा सुन्दरदास की ढाणी है। यहाँ एक विशाल चट्टान पर बाबा सुन्दरदास का देवालय है जहां भाद्र पद में जात्रा भरती है। इस स्थान पर सर्प दंशित व्यक्ति को लाने पर विष बाधा दूर होने के अनेक प्रमाण है।

बबाई में बिणजारा की बावड़ी पुरातत्व दृष्टि से देखने योग्य है किसी जमाने में सिर्फ इसी बावड़ी का जल पीने योग्य मधुर एवं स्वास्थ्यप्रद भी माना जाता था। यह बावड़ी पाच या सात मंजिल की है। जल तक पहुँचने के लिये पत्थर की बनी हुई पक्की चौडी पायरी है। जिन पर चार व्यक्ति एक साथ गमन कर सकते हैं प्रत्येक मंजिल पर पायरी से जल कूप तक जाने हेतु दाएँ बाएँ बारह दरी नुमा मार्ग बना है तल भाग से जल भरी दोगड़ या घड़ा लेकर लौटना अवश्य ही श्रमसाध्य रहा है तभी कहावत पड़ी है कि—

साँय खिनाई रंगी चंगी सास खिनाई पाणी नै।
काजळ टीकी बह गया बबाई थारा पाणी में॥

उक्त बावड़ी का निर्माता कोई बिणजारा है। इसी कारण बिणजारा की बावड़ी कहलाती है, जो अब खण्डहर हो रही है। शासकीय उपेक्षा के कारण चित्तोड़ किला, उदयपुर महल, आमेर किला आदि ऐतिहासिक विश्व प्रसिद्ध इमारतों की सोचनीय दुरवस्था हुई जा रही है तब इस लावारिस निरुपयोगी बावड़ी के अस्थिपंजर भी यदि अवशेष दृष्टिगोचर हों तो पर्याप्त है।

बबाई की गढ़ी का परकोटा मिट्टी का है। इसके चौतरफ खाई है यह भी अब भग्नावस्था में है।

खेतड़ी की ताम्बा खान बहुत पुरानी है, इसका प्राचीन नाम 'आका' हाली खान है। इसी पर्वत में चाँदी और कथील भी मिलता था। सोन नदी में सुवर्ण कण मिमते थे जो भारागार द्वारा काफी श्रम करने पर भी कम प्रमाण में हस्तगत होते थे। इसी क्षेत्र से मूल्यवान "सेता" नामको विशेष रेती का निर्यात होता था यह रेती काँच बनाने के लिये काँच कारखानों को भेजी जाती थी।

बागोर नामक स्थान भी ऐतिहासिक है बागोर किले का परकोट भी भरतपुर की तरह कच्चा याने मिट्टीला है जिसका क्षेत्र बारह कोस का है मुगल सैन्य बागोर पर चढ़ाई किया था किन्तु सफल नही हो सका है बागोर के शासक गोगा और बाघा दो भाई थे दोनों ही तपस्वी थे। वायु मण्डल स्वच्छ रहने पर बागोर किले पर से दिल्ली तथा आगरा देखा जा सकता है लेकिन टेलिस्कोप-दूरवीक्ष की सहायता से ही देखना सम्भव है।

खेतड़ी का बन्धा (बांध) अजीत सागर और नगर में बना पक्का तालाब देखने योग्य है, खेतड़ी का छोटा सा किला भूपाल गढ़ देखने योग्य है यह किला पर्वत के ऊपरी भाग पर धरातल से

काफी ऊँचाई पर बना है जहाँ पहुँचना सरल नहीं है। खेतड़ी राज्य बहुत बड़ा नहीं था किन्तु शौर्य में पीछे नहीं रहा है इसकी गौरव गाथा के अनेक दोहों में से तीन दोहे प्रस्तुत हैं—

खेतड़ी नरेश शार्दूलसिंह जी के सम्बन्ध में—

सादूलो जगमाल रो सिंधल बुरी बलाय।
राम दुहाई फिर गई लुकती फिरै खुदाय॥

जूझारसिंह जी के सम्बन्ध में—

डूंगर बांको है गुढ़ो रण बांको जूझार
एकज आगै असुरगण भांग्या पांच हजार॥

अभयसिंह जी के सम्बन्ध में—

खड़गां बांकी खेतड़ी भड़ बांको अभमाल
गढ़पत राख्यो गोद में नवकूंटी रो लाल॥

तथा खेतड़ी नरेश अजीत सिंह जी के पूर्ण सहयोग पर ही स्वामी विवेकानन्दजी शिकागो में हुए धर्म सम्मेलन में सम्मिलित हो सके थे जहां स्वामी जी की विलक्षण प्रतिभा ने भारतीय धर्म की विजय पताका फहराई है, अजीत सिंहजी के समय खेतड़ी में कई सुधार हुए। संस्कृत का अध्ययन अध्यापन प्रगती पर रहा श्रावणी के समय खुद राजा साहब पण्डितों की सभा में शास्त्रार्थ सुनते छात्रों से श्लोक सुनते प्रश्न करते तथा योग्यता के अनुसार पुरस्कार देते थे इस प्रवृत्ति के कारण खेतड़ी को छोटी काशी को ओपमा दी जाती थी इसी काल में पं० मोतीलालजी नेहरू के चाचा पं० जोहरीलालजी नेहरू खेतड़ी के दीवान पद पर विराजमान थे यह कट्टर सनातनी, कुशल शासक और मिलनसार थे इसी युग में अजीत सिंहजी ने शिकार के समय निर्जन वन में स्वच्छन्द विचरते सिंह शावकों की क्रीडा स्थली पर तेज पुँज तपोनिष्ठ महात्मा की शक्ति पर मुग्ध हो खेतड़ी ले आये यह तपस्वी बाबा मक्खनदास थे। इन के तपोबल से निकट क्षेत्र की जनता भली प्रकार परिचित है किसी ने इन्हें सिंह रूप में देखा है तो किसी ने तेजोमय रूप में देखा है। एक बालक के भाग्य में अन्धत्व था किन्तु उस पर दया कर के बाबा ने अपने नेत्र उसे दे दिये बालक को दिखाई देने लगा और बाबा स्वयं हमेशा के लिये सूरदास बन गए इन के नेत्र न रहने पर भी मेधा शक्ति प्रबल थी पहले कभी मिला हुआ कोई व्यक्ति चाहे बीस वर्ष बाद भी इनसे मिलता तो ये उसे पहचान लेते उसके परिवार के सदस्यों के नाम आदि इन्हें याद रहते थे ऐसी और भी बातें हैं लगभग एक सौ पचास वर्ष इनकी आयु रही है जो अब स्वर्गारोहण कर चुके हैं किन्तु यह क्षेत्र सन्त रहित नहीं हुआ है खेतड़ी नारनौल मार्ग पर खेतड़ी से लगभग आठ मील दूर टीबा बसई के निकट कृष्णा नदी के किनारे बाबा रामेश्वरानन्द विद्यमान हैं इनकी भी प्रसिद्धि बहुत दूर दूर तक है वाहन सुविधा के कारण बहुत दूर दूर से दर्शनार्थी पहुँचते हैं यहां का निर्माणाधीन भव्य मन्दिर भी दर्शनीय बनेगा।

पर्वतीय स्थल मालकेतु, मालदेव, ढोसी आदि में तपस्वियों का निवास है ऐसी जनश्रुति है १८४४ में छापोली से बबाई लौटते समय संध्या की वेला में निर्जन वन में शंखध्वनि और अनेक घड़ियाल बजने की आवाज कानों में पड़ी ऊँट पर मैं सवार था दूर दूर तक बस्ती या मन्दिर की छाया का भी आभास तक नहीं हो रहा था मेरे पिता भी साथ ही थे उनसे पूछने पर मालूम हुआ कि यह मंगल ध्वनि मालदेवजी में हो रही आरती से उत्पन्न है जहाँ तपस्वी रहते हैं। पौराणिक प्रसिद्ध तीर्थस्थल जहां पांडवोंकी बेड़ी गल गई थी वह पावन भूमि

लोहार्गल प्रसिद्ध लोहागरजी जिला भूंभनू में ही है।

भारत का प्रसिद्ध तीर्थ गंगा सागर का कपिल आश्रम जिस तरह एक नियत समय पर समुद्र से प्रगट होता है, पक्षी तीर्थ पर नियमानुसार पक्षी आते हैं अमरनाथ पर शिवलिंग का प्रादुर्भाव प्रति वर्ष होता है उसी तरह खेतड़ी सीमापर ढोसी नामक पर्वत शिखर पर सूर्य कुण्ड और चन्द्र कुई का चमत्कार भी देखने योग्य अद्भुत है, यहां च्यवन ऋषि की तपस्थली है धरातल से अत्यधिक ऊँचाई वाले इस स्थान पर पहुँचने हेतु पायरी बन गई हैं उपरोक्त कुण्ड अन्य समय प्रायः सूख जाते हैं किन्तु सोमवती पर्व के समय सूखे कुण्ड लबालब भर जाते हैं और जल प्रवाह होने लगता है सोमोती पर्व के दिन हजारों श्रद्धालुजन कुण्ड पर स्नान कर पुण्य संचित करने का सौभाग्य पाते हैं, एक निश्चित समय पर सूखे-कुण्ड से अविरल जल प्रवाह होना यह विधाता का चमत्कार नहीं है तो और क्या है।

भूंभनू जिले का क्षेत्र दान वीरता में भी पीछे नहीं है पिलाणी का बिड़ला ट्रस्ट विदेशों में भी प्रसिद्ध है भूँभनू, बगड़, चिड़ावा, इस्लामपुर, आदि के ट्रस्ट भी जन सेवा में रत हैं राजस्थान के मोहता, बांगड़, सिंहानिया, सेक्सरिया, बजाज, पोद्दार, जयपुरिया आदि और भी अनेक ट्रस्ट हैं, तपोबल, बाहुबल, ज्ञानबल और धनबल इन चारों का योग और सद उपयोग राजस्थान में निरन्तर होता रहा है।❀

समाज से अपील

श्री दिनेश मिश्र की आगामी पुस्तक "राजस्थानी देन" के लिये समाज से सहयोग की आशा है, तदर्थ प्रामाणिक विश्वस्त सूचनाएँ प्रदान करवाइये कि राजस्थानी समाज के ट्रष्ट या व्यक्ति द्वारा जहां भी जो भी कार्य हुआ हो उसका पूर्ण विवरण मन्दिर, कूए, बावड़ी घाट, धर्मशाला, सदाव्रत, धर्मार्थ औषधालय, छात्रावास, छात्रवृत्ति आदि विविध समस्त छोटे बड़े परोपकारी कार्यों का विस्तृत विवरण तथा विशेष विद्वान, इंजिनियर, वैज्ञानिक, उद्योगपति आदि का परिचय एवं स्वतंत्रता के आन्दोलन में किसी रूप से भाग लेने वाले कार्य कर्ताओं का परिचय एकत्र करके भिजवाइये ताकि पुस्तक रूप में प्रकाशित करने से दुनियां को राजस्थानी देन का कुछ बोध हो सके और हमारे समाज के प्रति औरों में सद्भाव वृद्धि हो सके। सामग्री इस पते पर भेजिये—

पता—वै० **दिनेश मिश्र,**

मु० पो० गोंदिया, जिला भण्डारा (महाराष्ट्र)

भुजणती लीकट्याँ

(रामस्वरूप परेश : बगड़)

लोट-पलेटा करता
ओळखाण-बिहूण
उदास रीतापण में
दिवाळगिरी रा
तिड़केड़ा गोळाँ-सो मन

मून रा मेळा में रुळीज्यो
दर्द री धूणी में घुटेड़ो
सौ-सौ गळ्यारी ओळखाण री
आलपिन री अणी पर
गूँगा हाथाँ सूं थरपेड़ो

देवरै अण चळ्या
सूरजमुखी रा अळसेड़ा
उदास फूलाँ रा
अँधेरी चूड़ी रा टुकड़ा-सा नैण
मतीराँ री गिरी-सा कूँळा
अधराँ पर ढ़बेड़ी बात

मुधरी पांडूलिपियाँ
आखी रात
नस-नस में—
बिजळी रा करैंट-सी वैवै

मैं विवसता रा घुबार्याँमें ढ़केड़ो
रूसेड़ी इकोलड़ा साँसाँ सूँ
थाकेड़ी उमर सूँ
दोलड़ा पीड़ जीवूँ

इण आसा सूँ—
कै कोई कोरपाण साँसाँ री
सिरै-नांव बिहूण पोथी पर
ओपतो सिरै-नांव मांडसी

दीवळ खायेड़ा
चोयो-मोयो हुयेड़ा पानाँ पर
मैंदी रो थापो लगासी

पण—
उगतै दिन
टी०बी०री माँदगीसूं पीळी किरणांरा
अण-मण परस सूँ
रीतीं हथेळी री
बांकी-तिरछी ऊंडी लीकट्यां
रोजीना
आंगळ-आंगळ
धुंधळी पड़ती जाय
भुजणती जाय।

झूँझणूँ का इतिहास

(हरनाथसिंह : डूण्डलोद)

झूंझनू के महत्त्व का मूलाधार इसकी अति प्राचीन काल से चली आती हुई आज तक की गौरवमयी परम्परा है। शेखावाटी, जिसका झूंझनूं एक कस्बा है, राजस्थान का वह भाग है जो अति प्राचीन काल से तप, तेज, त्यागमयी धरती का जनक रहा है। वैदिक काल में यह 'मत्स्य' देश के अन्तर्गत माना जाता था। मत्स्य-देश का विस्तार सरस्वती नदी तक था। इस सरस्वती के किनारे ऋषियों ने वेदगान के साथ आर्य-संस्कृति को विकसित किया था। मनु महाराज ने भी यहाँ के लम्बे व सुडौल योद्धाओं को सेना के लिए अधिक उपयुक्त माना है। रामायण के स्रष्टा आदि कवि वाल्मीकि ने इस प्रदेश को 'मरु कान्तार' के नाम से अभिहित किया है। पौराणिक और महाभारत काल में यह प्रदेश वीर यौधेय गणों के आधिपत्य में था। इन गणतंत्र के पोषक यौधेयों की शूरवीरता के अनेक प्रमाण मिलते हैं। जब यहाँ चौहान आए, उस समय इसे 'अनंत' नाम से पुकारा जाता था। इन्हीं चौहानों के समय में इसे 'वागड़' नाम से पुकारा जाने लगा। बाद में जब राव शेखाजी तथा उनके वंशजों ने इस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया तो इस प्रदेश को 'शेखाजी' के नाम पर 'शेखावाटी' कहा जाने लगा। यह नाम आज भी प्रचलित है। ऐसे इतिहास-प्रसिद्ध प्रदेश के प्रधान नगर के रूप में झूंझनू का संक्षिप्त परिचय अपने पाठकों की सेवा में उपस्थित किया जा रहा है।

इस कस्बे को कब और किसने बसाया इसका ब्यौरा अंधकार में है। अनुमान है कि झूंझनू पाँचवीं या छटी शताब्दी में गुर्जरों के काल में बसा। डीडवाना से मिला हुआ यह भूखण्ड गुर्जर देश का अंग रहा हो। यहाँ के कुछ कस्बों के नामों में गुजराती भाषा की षष्ठी विभक्ति के ना, नू का डीडवाना, सिंहाना, चिराना, लाडनूं और झूंझनू आदि नामों में प्रयुक्त होना इस अनुमान की पुष्टि करता है। डाक्टर दशरथ शर्मा ने १३वीं शताब्दी के कस्बों की एक सूची में झूंझनूं का नाम दिया है। आठवीं शताब्दी के चौहान-काल में भी यह कस्बा विद्यमान था।

हर्ष का शिलालेख बताता है कि ए०डी० ९७३ में वहां पर चौहानों का राज्य था। हर्षदेव के मंदिर का निर्माण भी उसी काल में कराया गया था। उस समय इस प्रान्त का नाम 'अनन्त' था। इस काल में भी झूंझनूं विद्यमान था।

प्रभसूरि का जन्म झूंझनूं के ताम्बी श्रीमाल के यहां सन् १२७५ में हुआ था। वे दिल्ली के बादशाह मुहम्मद बिन तुगलक से ई० सन १३२५ के आस-पास मिले थे। सूरिजी ने ई० सन् १३१८ में वागड़ देश के नवहा (नुँवा) झूंझनूं, नरभट (नरहड़) आदि ग्रामों में भ्रमण किया था। यह दंतकथा एक निर्मूल गाथा मात्र है कि कायमखानी नवाब मुहम्मद खां ने झूंझा जाट की ढाणी में झूंझनूं

श्रीपञ्चदेव-मन्दिर : झुञ्झनूं

बसाया। यह कहावत कि माघ बदी १४ शनिवार सन् १३८७ में झूंझनूं बसा—एक दम निर्मूल है।

इस प्रदेश में जोड़, जोहिया, सांखला, मोहिल पंवार, टाँक, निरवाण, तंवर, चन्देल, गौड, चहुवाण आदि वंशों के छोटे-मोटे राज्य यत्र-तत्र फैले हुए थे।

ददरेवा के अधिपति मोटेराय चहुवाण के पुत्र का नाम कर्मचन्द था। सुलतान फिरोज तुगलक (ई० सन् १३५१-८८) ने कर्मचन्द को मुसलमान बना कर उसका क्वामखाँ नाम (कायमखाँ) रख दिया था। इसी के वंशज कायमखानी कहलाए। कायमखाँ के पुत्र मुहम्मदखाँ ने झूंझनूं में अपना राज्य स्थापित किया था। अनुमान से वि० सं० की पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में कायमखानियों के राज्य का प्रारम्भ हुआ होगा।

ई० सन् १७३० में नवाब रुहेल्लाखां का, निस्सन्तान देहान्तहो जाने पर शेखावत शार्दूलसिंह जी का इस राज्य पर अधिकार हो गया। ई० सन् १७४२ में शार्दूलसिंहजी के देहावसान के पश्चात् इस राज्य को उनके पुत्रों—जोरावरसिंहजी, किसन सिंहजी, अखेसिंहजी, नवलसिंहजी, केसरीसिंहजी ने आपस में बाँट लिया। इसी, पाँच भागों में बंटे राज्य को पंचपाना कहा जाने लगा।

जोधपुर के शासक मालदेव ने जब बीकानेर पर अधिकार किया तो उन्होंने झूंझनूं अपने वीर सामन्त 'कूपा' को जागीर में दे दिया था। यहाँ ही शार्दूलसिंह जी की पुत्री गुमानकुँवरजी का विवाह इन्द्रगढ़ के हाडा छत्रसिहजी के साथ सन् १७३६ में हुआ था। इसी स्थान पर किसनसिंहजी की पुत्री जंतकुमारीजी का विवाह जोधपुर के महाराज विजयसिंहजी से होने से शेखावतों का जोधपुर घराने से प्रेम-सम्बन्ध बढ़ा। झूंझनूं में ही माघ सुदी विक्रमी सं० १८०६ में नवलसिंहजी की पुत्री, चन्दन कँवरी जी का विवाह बीकानेर के महाराज कुमार राजसिंहजी से हुआ। इससे शेखावतों का प्रभाव और भी बढ़ा। सन् १७७० में केसरीसिंहजी की पुत्री, उम्मेदकँवरजी का विवाह कोटा के महाराव उम्मेदसिंहजी के साथ हुआ। रणजीतसिंहजी डूण्डलोद की पुत्री, राजकँवरीजी का विवाह बीकानेर के महाराज, रतनसिंहजी के साथ सं० १८६३ में झूंझनूं में ही हुआ था। इन दिनों कोटा राज्य का भी अच्छा प्रभाव था। इसी प्रकार श्यामसिंह जी बिसाऊ की पुत्री गुलाबकंवरीजी के बूंदी के महाराव रामसिंहजी के साथ विवाह ने शेखावतों को बूंदी राज्य का सम्बन्धी बनाया।

आजकल इसी झूंझनूं नगर का तेजी से विस्तार हो रहा है। यह नगर शिक्षा, व्यापार, और कला-कौशल में आगे बढ़ने का यथाशक्ति प्रयत्न कर रहा है। आशा है कि इसकी ऐतिहासिक दृढ़ पृष्ठभूमि इसे सदा ही प्रेरणा देती रहेगी।

(१) नौ-महला :—

यहाँ के नवाबों द्वारा बनाई हुई इमारतों में से नौ-महला के कुछ भाग अब भी अवशिष्ट हैं। आज नौ-महला के खण्डहर हो चुके हैं।

(२) बादलगढ़ :—

इस किले का निर्माण नवाब फाजिलखाँ ने एक पहाड़ी के ऊपर करवा कर इसका नाम फाजिलगढ़ रख दिया था। बाद में इसके शेखावतों के अधिकार में आ जाने पर उन्होंने इसका नाम बदल कर बादलगढ़ रख दिया। बाद में यह डूंडलोद को मिला। हाल ही में ठिकाना डूंडलोद के श्री हरनाथ

सिंहजी बहादुर ने इसे स्व० जुगलकिशोरजी बिड़ला को सौंप दिया था। बिड़लाजी ने इस किले की पूरी मरम्मत करादी, वहाँ शार्दूलसिंहजी की मूर्ति लगवादी; और हनुमान-मंदिर आदि कुछ और स्थान भी बनवा दिए।

(३) समश-तालाब :—

इसका निर्माण नवाब समशखां ने कराया था। इस तालाब की पाळ पर श्री शार्दूल सिंहजी ने श्री जमवाय माता का मन्दिर बनवा दिया था। यहाँ पर एक शिव-मंदिर भी है।

(१) मकबरे—ठा० शार्दूलसिंहजी ने नवाब रुहेलाखाँ और उनकी बेगम की कब्रों पर मकबरे बनवाये। नवाब का मकबरा पीर-जादों के मुहल्ले में ई० सन् १७३० में निर्मित हुआ। कहते हैं कि इसके निर्माण में पचास हजार रुपये व्यय हुए थे। बेगम का मकबरा कुछ बाद का बना हुआ है। काल ज्ञात नहीं है।

(२) जोरावरसिंहजी का गढ़—इसका निर्माण जोरावरसिंहजी तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र बखतसिंहजी ने सन् १७४२ में करवाया। बाद में इस गढ़में जयपुर राज्य ने निजामत, तहसील, खजाना, जेल आदि स्थापित करदी। आज कल भी वहां कुछ आफिस चल रहे हैं।

(३) खेतड़ी महल—यह महल किसनसिंहजी के पुत्र भूपालसिंहजी ने बनवाया था। सन् १७७१ में भोपालसिंहजी के लुहारू के झगड़े में काम आ जाने के कारण, इसका निर्माण-कार्य पूरा नहीं हो सका। यह अभी ठीक अवस्था में है यहाँ खेतड़ी की वकालत वगैरह भी कायम थी। राजा श्री सरदार सिंह जी बहादुर खेतड़ी ने यह महल श्री शार्दूल एजूकेशन ट्रस्ट को प्रदान कर दिया है।

४—अखैगढ़—इस गढ़ का भीतरी चौबुर्जा, महल वगैरा अखैसिंह जी ने बनवाए थे। उनके निस्सन्तान देहान्त होने पर यह किला नवलसिंह जी को मिला। इसका शेष भाग फिर उन्होंने ही बनवाया। अब यह सब बिक गया है।

(५) शार्दूलसिंह जी की धर्म-पत्नी—माँजी मेड़तणी जी ने एक बावड़ी बनवाई थी। इसका निर्माण काल सन् १७८३ है। यह बावड़ी एक सुन्दर स्थान पर बनी हुई है। इसके निर्माण में एक लाख छिहत्तर हजार रुपये व्यय हुए थे।

(६) झूंझनूं में शेखावतों की बहुत बड़ी संख्या में छतरियाँ बनी हुई हैं। सन् १७३२ में बहादुर सिंहजी के साथ उनकी धर्मपत्नी सती हुई थी। इस छतरी पर पूजा होती है। सन् १७७१ में भोपाल सिंहजी के लुहारू में मारे जाने पर रानी चाँपावत जी सती हुई थी। इन सती की पूजा खेतड़ी-महल के एक मकान में हुआ करती थी।

(७ श्री गोपीनाथजी और श्री कल्याणजी ये दोनों ही मन्दिर प्रसिद्ध हैं। इनका निर्माण ठा० शार्दूलसिंहजी ने सन् १७३७ और सन् १७ ६ में करवाया था।

(८ ठा० श्यामसिंहजी ने बिसाऊ की हवेली और पहाड़ी पर एक किले का निर्माण करवाया था। मेजर फास्टर ने जब ठिकाने जात के गढ़ तुड़वाए तब इसे तुड़वा दिया था।

(९) सूरजगढ़ महल अब शनैः शनैः खण्डहरों में परिवर्तित होता चला जा रहा है। इसी महल में ठा० श्यामसिंहजी ने डूंडलोद के ठा० रणजीतसिंह को कत्ल कराया था और इसके निकट के एक महल में श्यामसिंहजी ने रणजीतसिंहजी के ज्येष्ठ पुत्र, प्रतापसिंह की हत्या की थी। यह घटना सन् १८०८ में हुई हुई थी।

खेतड़ी-महल
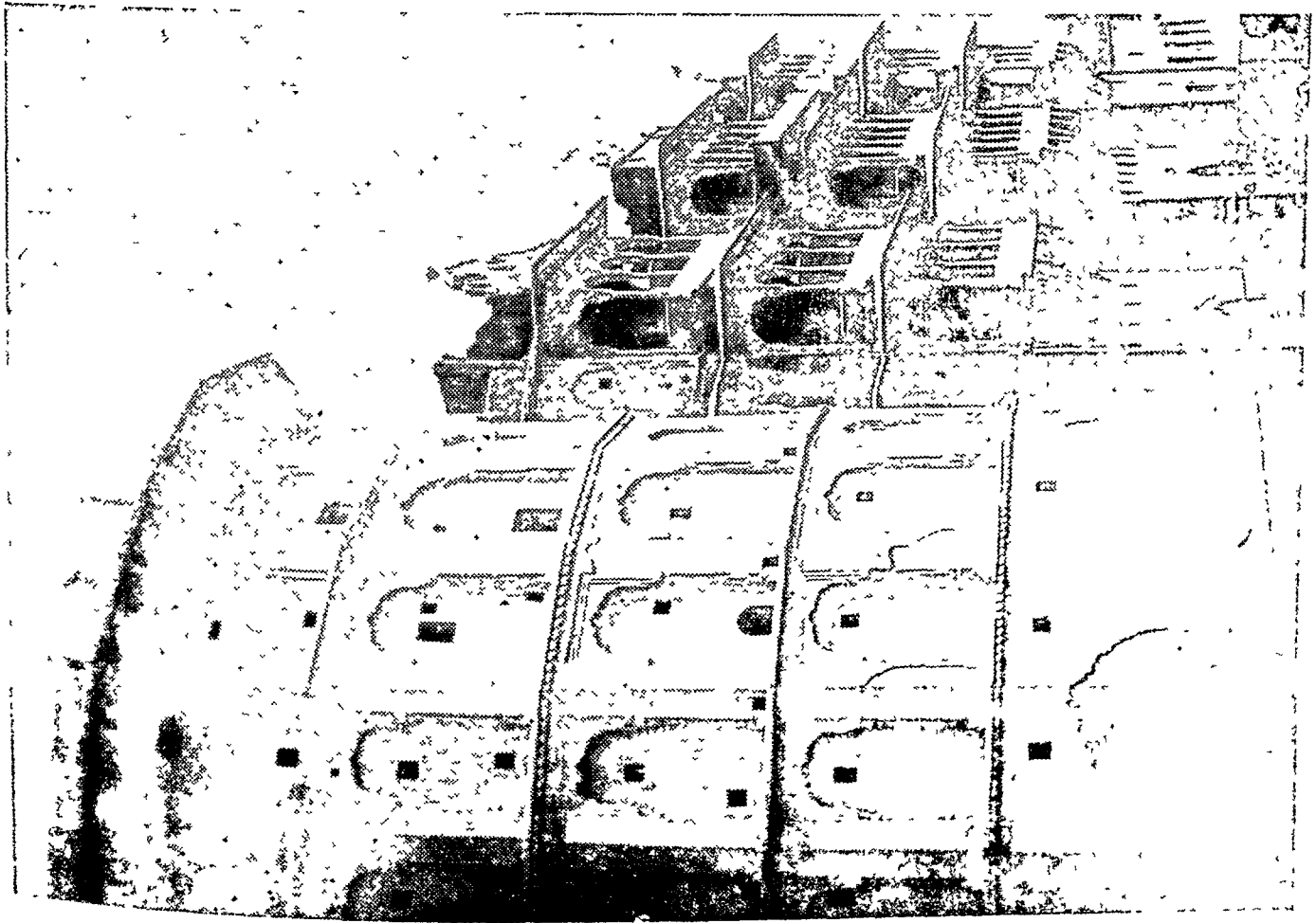
जिसका दूसरा नाम खेतड़ी महाराजा भूपालसिंघजी की पत्नी सती चाँपावतजी का मन्दिर भी है।

शम्स-तालाब
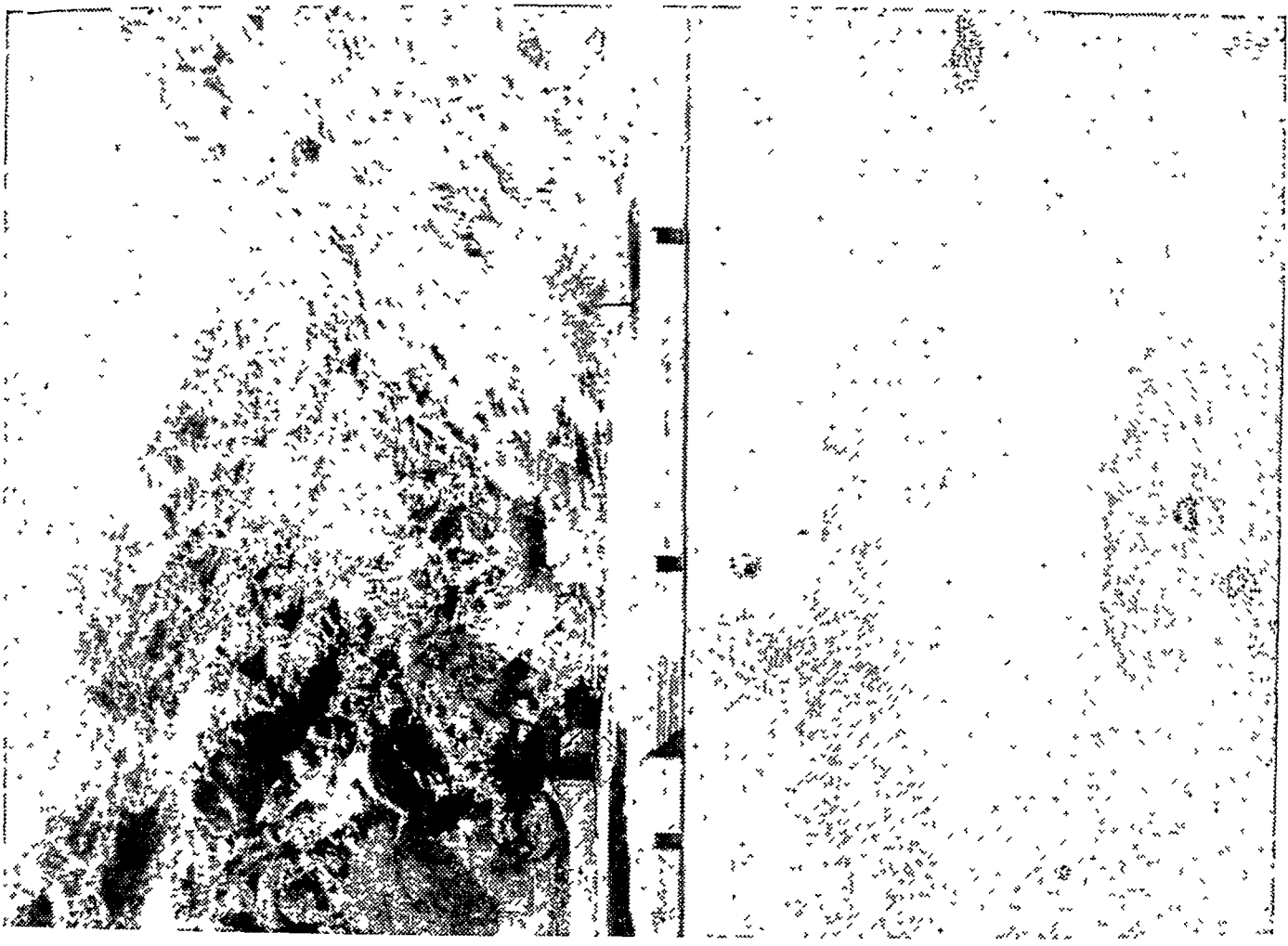
जहाँ बाबा शंकरदासजी के चरणों में बैठकर मानव 'मै और तूँ' के झन्झटों से बहुत दूर निकल जाता है—यूसुफ।

शार्दूल-छात्रावास—जहाँ राजपूत-विद्यार्थियों के लिए उत्तम निवास-व्यवस्था उपलब्ध है। यह ठिकाने-सरदारों की लोकोपकारक सामाजिक समितियों का प्रमुख कार्यालय-स्थल भी है।

[illegible] गढ़—निर्माण : सं० १७८६ में। जयपुर राज्यमें यहाँ निजामत, तहसील, खजानादि थे।

(१०) ठा० नवलसिंहजी के छोटे पुत्र नाहरसिंह ने एक हवेली बनवायी थी। अब यह भी खण्ड-हो चुकी है।

(११) ठा० किशनसिंहजी के छोटे पुत्र पहाड़सिंह ने एक हवेली बनवाई थी, जो आज भी उनके जों के अधिकार में है।

(१२) श्री राणीसती—राणी सती के मन्दिर से पुस्तक निकली है, जिसमें उल्लेख है कि इनका -नाम नारायणी देवी था, और पिता का नाम ामल था तथा पति जालीराम के पुत्र तनधन थे। इनका जन्म-स्थान 'महम' (डोकवा) था। ीराम हिसार के नवाब के दीवान थे। तनधन के पास एक सुन्दर घोड़ी थी, जिसे नवाब का जादा लेना चाहता था। इसी विवाद में जादा तनधन के हाथ से मारा गया। इस ना के बाद जालीराम सकुटुम्ब झूंझनूं आ। बाद में तनधनदास गोना करने ससुराल और नारायणी देवी को लेकर लौटा। मार्ग वाब के सेवकों ने उस पर हमला कर दिया, में तनधनदास मारा गया। नारायणी देवी सती हो गई। उनका सेवक उनकी भस्मी घोड़ी झूंझनूं ले आया। जालीराम ने उस भस्मी पर मंडप बनवा दिया। बाद में इस परिवार के ों ने मौजूदा विशाल मन्दिर का निर्माण या। ई० सन् १२९५ में राणीसती का सती ा माना जाता है।

(१३) झूंझनू में खेमीसती, बावोसती तथा हितों की सती के भी मण्डप हैं। यहां पर इन यों की पूजा होती है।

(१४) प्राचीन काल में झूंझनूं में एक अच्छा -मंदिर था। आक्रमणकारी मुसलमानों ने इसे तोड़ गिराया और बहुत से जैनों को तलवार के घाट उतार दिया। उसी मंदिर के भग्नावशेषों पर वर्तमान मंदिर का निर्माण किया गया था। यह मंदिर आज भी सुरक्षित दशा में है। इसमें कई एक रंगीन सुन्दर चित्र दृष्टव्य हैं।

(१५) इसी जैन-मंदिर के पासमें एक जैन-उपासरा है। बालचन्दजी जती प्रसिद्ध सिद्ध पुरुष माने जाते थे। इनका एक श्रीमाल परिवार से वैमनस्य हो गया था, इसलिये ये मनसादेवी पर आकर रहने लगे थे। जैन-मंदिर के समीप की खुदाई में महावीर स्वामी की एक मूर्ति निकली थी, जो बड़े महत्त्व की है। इस पर सम्वत् ११०५ माघ बदी शुक्रवार खुदा हुआ है।

(१६) मनसा-देवी के मंदिर के विषय में ऐसा प्रसिद्ध है कि प्राचीनकाल में एक ब्रह्मचारी ने यहाँ देवी की उपासना की थी और अपनी मनसा पूरी होने पर उसने देवी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिए पहाड़ी पर एक मंदिर बनवा कर उसका नाम मनसा देवी रख दिया था।

(१७) चंचल नाथ का टीबा—यह टीबा नाथ-सम्प्रदाय के किसी चंचल नाथ नामक योगी के नाम पर प्रसिद्ध है।

(१८) दरगाह इमामअली शाह—इमामअली एक फकीर थे। इनके चेलों ने सन् १८४१ में यह दरगाह बनवाई थी।

(१९) दरगाह कमरदी शाह—यह कायमखानी वंश के प्रसिद्ध दरवेश हुए हैं। ये ठा० हरिसिंह जी बिसाऊ के यहाँ मुलाजिम रहे थे। फकीर होने पर ये इस स्थान पर रहने लगे थे। दरगाह के मकानात वगैरा उनके उत्तराधिकारियों ने तथा ठिकाना बिसाऊ ने बनवाए।

(२०) लेफ्टीनण्ट कर्नल लौकेट को शेखावाटी में अराजकता एवं अशान्ति के कारणों की जांच के लिए भेजा गया था। उन्होंने शेखावाटी का दौरा किया और उपद्रवों से सम्बन्धित कई एक किलों और गढ़ों को तुड़वा दिया। इन्हीं की रिपोर्ट पर सन् १८३४ में मेजर हेनरी फौरेस्टर को इस प्रदेश में शान्ति व व्यवस्था स्थापित करने के लिए झूंझनूं में नियुक्त करके भेजा गया था। इन्होंने 'शेखावाटी ब्रिगेड' की भरती की, जो बाद में '१३वीं राजपूत' के नाम से मशहूर हुई। इस ब्रिगेड का खर्चा ठिकाने जात से फौज-खर्च के नाम से वसूल किया गया था। फारेस्टर सन् १८४२ तक शेखावाटी में रहा। उसने झूंझनूं में फौरेस्टरगंज, एक मस्जिद, एक मंदिर, अपनी बीबी रजिया पर कब्र, उसके एक (बालक) लड़के पर सन् १८४१ में चबूतरा, गिराई का बंगला, और परेड ग्राउंड बनवाए।

(२१) सन् १९४१ को ३० मार्च रविवार को स्व० महाराजा सवाई मानसिंहजी बहादुर ने मान-नगर की नींव रखी थी, जो आजकल कालोनी कहलाती है। यहां झूंझनूं जिले के प्रमुख कार्यालय, कलेक्टरी, निजामत, सेशन सिविल कोर्ट, खजाना, पुलिस का दफ्तर और बेरक्स, आफिसरों के बंगले, रेस्ट हाउस वगैरा इमारतें निर्माण की गई हैं। झूंझनूं रेल और सड़कों से दूसरे कस्बों से जुड़ा हुआ है। हवाई जहाज के लिए एक छोटा मैदान भी है। अस्पताल, स्कूल, सिनमा भी बनवाए गए हैं। नगर-विकास के लिए आवश्यक भूमि तत्कालीन पंचपाना ठिकाना की ओर से प्रदान की गई थी।

(२२) पंचपाना-सरदारों ने सन् १९२४ में पंच-पाना एसोसियेशन और पंचपाना एक्जीक्यूटिव कमेटी स्थापित की थी। इसके अध्यक्ष अमरसिंहजी राजा साहब खेतड़ी थे और ठा० गोपालसिंहजी चौकड़ी, ठा० रूपसिंहजी नवलगढ़, ठा० जयसिंह जी मण्डावा, ठा० हरनाथसिंहजी डूंडलोद तथा मिस्टर कैरोल सुपरिंटैण्डेण्ट खेतड़ी सदस्य थे। इसी पंच-पाना एसोसियेशन ने एक ट्रस्ट भी कायम किया जो 'श्री शार्दूल एजूकेशन ट्रस्ट' के नाम से प्रसिद्ध है। इस ट्रस्ट के वर्तमान ट्रस्टीज में रावल हरनाथ सिंहजी बहादुर, डूण्डलोद (अध्यक्ष), रावल मदन सिंहजी, नवलगढ़ (मैनेजिंग ट्रस्टी), कुं देवीसिंहजो मण्डावा (सदस्य), कर्नल हरनाथसिंहजी डाबड़ी (सदस्य, ठा० लक्ष्मणसिंहजो, अडूका (सदस्य), ठा० हरिसिंहजी चनाना, (सदस्य), ठा० संग्राम सिंहजी पचेरी (सदस्य) और ठा० बाघसिंहजो काली पहाड़ी (शिक्षा सलाहकार) सम्मिलित हैं। पंचपाना सरदारों ने ही झूंझनूं में श्री शार्दूल छात्रावास बनवाया है। उक्त ट्रस्ट इसका प्रबन्ध कर रहा है। इस छात्रावास का शिलान्यास २० मार्च सन् १९४६ में जयपुर राज्य के तत्कालीन प्रधान मंत्री सर वी० टी० कृष्णामाचारी के कर-कमलों द्वारा किया गया था।

(२३) प्रथम और द्वितीय विश्व-युद्ध में शेखा-वाटी के जो वीर सैनिक काम आए थे, उनकी स्मृति में बनाए जाने वाले स्मारक का शिलान्यास स्व० महाराजा सवाई मानसिंहजी बहादुर ने सन् १९४१में किया, यह स्मारक अभी तैयार नहीं हुआ है। यह वर्तमान कलक्टरी आदि की इमारतों के सामने है।

(२४) झूंझनूं के परेड-ग्राउण्ड की भूमि में मलसीसर निवासी श्री मोतीलाल ने 'मोतीलाल कॉलेज' नामक एक सुन्दर कालेज बनवाया है। यह कॉलेज इस क्षेत्र में शिक्षा के विस्तार में बड़ा उत्तम काम कर रहा है।

इसी परेड ग्राउण्ड में एक स्टेडियम भी बना हुआ है।❀❀❀

लिछमीजी नैं ओळमो

(राधेश्याम कौशल : नवलगढ़, (राजस्थान)

माता ! देऊँ ओळमो, बुरो न लीजै मान
धरती का सै मिनखड़ा, है तेरी सन्तान
है तेरी सन्तान, भेद नूं मोटो राखै
कठे न खोलै आँख, कठे अणतोल्यो नाखै
कह कौशल कविराय, बावळी कैंया होरी
भर-भर मुट्ठी फींक, तरसर्या छोरा-छोरी
देरी खुल्ला हाथ सैं, पड़्यो जठै है ढ़ेर
पक्षपात चौड़ै करै, ईं में हेर न फेर
ईं में हेर न फेर, धनिक ही प्यारा लागै
आँख्यां दोनू मींच, बठीनै सीधी भागै
कह कौशल कविराय, बदळदे तेरी नीती
देख झूंपड़्याँ, छान, पड़ी है सारी रीती
ऊँची-ऊँची हेलियाँ, महल-माळिया त्याग
देखै बाट गरीबड़ा, आँकै कानी भाग
आँकै कानी भाग, मान ये पूरो करसी
उजळा चावळ रांध, सामनै तेरै धरसी
कह कौशल कविराय, छोड़ पकवान मिठाई
माता ! बेगी आव, उडीकै दरसण तांई
माता तो सन्तान की, करै माँग मंजूर
पण तूं भाजै बावळी, आं बेटां सैं दूर
आं बेटां सैं दूर, जका धरती पर बोळा
तुज्झ सरीखी माय, पायकर डोलै रोळा
कह कौशल कविराय, हाथ तूं सिर पर धरदे
जांकी टूटी छान, धान, धन, अन सैं भरदे

—o—

"परात्परं पुरुषमुपैमि दिव्यम्"

हम दिवङ्गत दिव्य पुरुषों की पूजा क्यों करते हैं?

(पं० रमेशचन्द्र शास्त्री : 'सप्ततीर्थ')

विश्व में सर्व प्रथम संविधान "मनुस्मृति" के उपदेष्टा भगवान मनु ने "अक्रोध नाः सुप्रसादा··· ···न्यस्त शस्त्रा—महात्मानः पितरः पूर्व देवताः।" इत्यादि श्लोकों द्वारा पितरों की पूजा को देव-पूजा से भी प्राथमिकता एवं तदपेक्षया महत्त्वपूर्ण बताया है, वस्तुतः पूज्य से निकटतम सम्बन्ध के बिना, पूजक में पूज्य के प्रति वैसा भाव ही कैसे उदित होगा जिससे अनुप्राणित होकर वह आराध्यकी आराधना में दत्तचित्त हो सकेगा। इसीलिए शास्त्र-कारों ने देवताओं की भी पूज्यता के समर्थन में पूज्य को समस्त विश्व का पूर्व पुरुष एवं परम्परया पूजक का भी उन्हीं की सन्तान श्रेणी में होना बताकर (नाता सिद्ध करके) पूजक के मन में पूज्य के प्रति अपने पन का भाव उद्भूत करने का प्रयत्न किया है। जैसे भगवान् विष्णु को "सर्वस्य प्रपि-तामहम्" कहा गया है। इसी प्रकार नारायणोप-निषद् में "रारायणाद् ब्राह्मण जायते" इत्यादि उपक्रम पूर्वक—"सर्वदेवाः सर्वे ऋषयः सर्वाणि च भूतानि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते" अर्थात् सभी नारायण से ही उत्पन्न होते हैं, उन्हीं में तुम भी हो। तुम्हारे भी परम्परया उत्पादक पालक वही हैं अत तुम्हें सबके और अपने उन नारायण भगवान की भक्ति एवं पूजा करनी ही चाहिए। इसी बात को फिर दूसरे शब्दों में कहा गया "यतः प्रवृत्ति भूतानां······स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।" ऐसा सिद्धिका उपाय बताया गया है।

सांसारिक व्यवहार में भी देखा जाता है कि यदि विनीत पौत्र अपने माता-पिता का आदर करता हो तो पितामह (दादा) उस पर प्रसन्न होता है। उद्धत एवं अनादर करने वाले पर रुष्ट होता है। इसी प्रकार भगवान् भी अपने से बड़े लोगों की पूजा (आदर) करने वालों पर प्रसन्न होते हैं। यही भावना पूर्व-पुरुषों, दिव्य-पुरुषों की पूजा का मूल कारण है। अब विचारणीय विषय यह है कि ये दिव्य पुरुष कौन हैं? कैसे कर्मों से कोई दिव्य हो सकता है? इन विषयों में शास्त्रों का अभिमत है कि व्यक्ति का अपना ज्ञान, एवं कर्म इस लोकमें एवं परलोक गत होने पर उसके वंशजों द्वारा उसके निमित्त किए गये सत्कर्म व्यक्ति विशेष को उत्तमोत्तम लोकों की प्राप्ति में सहायक होते हैं। "पुरायेन पुरायं लोकं जयति पापेन पापमुभाभ्यामेव—मनुष्य लोकं।" और इसीलिए लड़के को पुत्र कहा जाता है। पुत्र शब्द की व्याख्या है "पुत्" मा।ने नरक"। त्र "का अर्थ है त्राण (रक्षा) यानी नरक में जाते पितर को भी जो बचा ले, नरकमें न जाने दे तथा उत्तम लोक में भेजने लायक उपाय करे—उसे पुत्र कहते हैं। अतः यह बात लोक एवं शास्त्र दोनों से प्रमाणित है कि

सभी पितर पूज्य हैं, उनमें भी जो विशिष्ट पितर उत्तमोत्तम लोकों में लब्धप्रतिष्ठ हो गये हैं। संकेतों से यह प्रमाणित होने पर उनकी साधारण पितरों की अपेक्षा विशिष्ट पूजा सर्वथा वाञ्छनीय है। "अज्ञो भवति वै बालः पिताभवतिमन्त्रदः" इत्यादि प्रसङ्ग में ज्ञान-प्रधान होने के कारण, पितरों को देवताओं से श्रेष्ठ बताया गया है, पितर ज्ञानी होते हैं उनमें अपनापन रहता है अतः उनकी पूजा में लोगों का स्वाभाविक झुकाव होता है। यह उचित भी है अतः भगवान विष्णु के लिए भी महाभारतान्तर्गत विष्णु सहस्त्रनाम में "स पिता प्रपितामहः"" कहा गया है।

जब भगवान विष्णु की सर्वाराध्यता के लिए "पिता पितामह" कहा गया तो परम्परया पिता, पितामह की अपेक्षा साक्षात् पिता, पितामह की पूज्यता अपने आप प्रमाणित होती है। अतः सभी समझदार व्यक्तियों को पितरों की पूजा में तत्पर रहना ही चाहिए।

ब्राह्मणों को दूसरी जाति अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के श्राद्ध एवं पूजन में सम्मिलित होने से दोष क्यों नहीं लगता ? इसका कारण यही है कि जाति का सम्बन्ध केवल इस शरीर तक ही रहता है पूर्व एवं आगामी जन्म में जीवों के जात्यन्तर में जन्म के अनेकानेक प्रमाण हैं जैसे जड़भरत का ३ जन्म में ३ तीन जाति में जन्म होना बतलाता है कि यह जाति का सम्बन्ध केवल इसी शरीर तक रहता है आत्मा नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है उसका कोई जाति-वर्ण प्रभृति का सम्बन्ध स्थायी नहीं होता। ब्राह्मरायां ब्राह्मणाज्जातः ब्राह्मणः स्यान्न संशयः इत्यादि शास्त्र-वचन इसके प्रमाण हैं। यदि मृत्यु के बाद भी जाति की अनुवृत्ति चलती रहती तब श्राद्ध में भोजन करने वाले ब्राह्मण पतित हो जाते और कोई भी ब्राह्मण श्राद्ध में कभी सम्मिलित न होता शास्त्र भी ऐसे कार्य की अनुमति कतई नहीं देता लेकिन शास्त्र की आज्ञा है कि यदि श्राद्ध में दूसरा ब्राह्मण न मिले तब एकादशी व्रत करने वाला ब्राह्मण अपना व्रत छोड़ कर भी श्राद्ध में अन्न भोजन करें ब्राह्मण के अभाव में श्राद्ध न होने पर ब्राह्मण को दोष लगता है शास्त्र कभी भी अनुचित कार्य के लिए प्रेरित नहीं कर सकता अतः ब्राह्मणो को क्षत्रिय, वैश्य, प्रभृति के श्राद्ध में भोजन करने में एवं उनके पितरों की पूजा में बिना हिचक भाग लेना चाहिए चाहे सपात्रक हो या अपात्रक उसमें उच्छिष्ट भोजन इत्यादि की भावना ठीक नहीं यही शास्त्र कहते हैं ऐसा ही आचार भी है। इसमें भावान्तर का प्रचार शास्त्र-विरुद्ध होगा निमन्त्रण के दिन पितर उस मनुष्य में आ जाते हैं, निमन्त्रिताध्निपितर उपतिष्ठन्ति मानवम् "पितर स्तावदश्नन्ति पावन्नोक्ता हविर्गुणाः इत्यादि मन्त्र इसके प्रमाण हैं। इसमें गूढ़तम रहस्य यह है कि जितने देवता हैं (पितर भी देवता ही हैं) सभी वेदज्ञ ब्राह्मण में रहते हैं "यावतीर्वैदेवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति तस्माद्धिवेदिवे ब्राह्मणाय नमस्कुर्यात्" तैत्रीरीयारण्यक, इसलिए लोगों के पितर जो वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव स्वरूप हैं उनकी पूजा ब्राह्मणों को भोजन करानेसे ब्राह्मणों की पूजा से सम्पन्न होती हैं एवं ब्राह्मणों को भी उस अन्न के भोजन से या उन पितरों की पूजा करने से वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव की पूजा का सुफल प्राप्त होता है, इसीलिए पितृमन्दिरों में चाहे किसी वर्ण के पितर का मन्दिर हो ब्राह्मण ही पुजारी रहते हैं भास कवि के 'प्रतिमा' नाटक में

पितृमन्दिर के ब्राह्मण पुजारी का स्पष्ट उल्लेख है। इस प्रकार के मन्दिर के निर्माण, मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा एवं पुजारी कौन हो ऐसा विवाद उठाने वाले व्यक्ति निश्चित-रूप से शास्त्र ज्ञान विरहित धर्म मर्म विवेक विहीन अन्तर्मुख वृत्ति शून्य वहिर्मुख वृत्ति परायण ही हो सकते हैं, वसु, रुद्र, आदित्य विश्वेदेव की पूजा प्रतिष्ठा कभी भी त्याज्य नहीं हो सकती हैं।

यथा प्रदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्त्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथा ऽक्षरात्पुरुषात्सोम्य भावाः प्रवर्तन्ते तत्र चैवापियन्ति

जैसे प्रदीप्त अग्नि से बहुत सी चिनगारियां निकलती है उसी प्रकार एकोऽहं बहुस्यां इस भावना के कारण परब्रह्म से असंख्य जीव प्रकट होते हैं एवं अपना कार्य क्रम पूरा करके फिर उन्हीं में मिल जाते हैं, यह क्रम साधारण एवं असाधारण उभय विध जीवों के आविर्भाव एवं तिरोभाव में एक जैसा ही है विशिष्ट जीव अवतार के आविर्भाव तिरोभावादि में पार्थक्य यही है कि वे किसी विशेष कार्य क्रम को सम्पन्न करने के लिए असाधारण वल पराक्रम शौर्य त्याग तपस्या से युक्त होकर किसी देश काल जाति में स्वेच्छया आविर्भूत होते हैं एवं एक अद्भुत आदर्श स्थापित करके निर्लिप्त भाव से इस स्थान एवं परिवेश का त्याग कर अपने दिव्य लोक में चले जाते हैं।

जैसे जेलर स्वेच्छासे जेल के भीतर आता जाता है कैदियों के समान विवश होकर नहीं इसी प्रकार भगवदंश भूत दिव्य प्राणी के आविर्भाव तिरोभाव में कोई वाध्यता नहीं होती और यही कारण है कि वैसे दिव्य लोग मृत्युञ्जयी कहे जाते हैं इसीलिए ऐसे व्यक्ति इस लोक को एवं शरीर को छोड़कर दिव्य लोकों में पहुँच कर भी अपने द्वारा स्थापित आदर्श को मानने वाले भक्तों पर विशेष कृपालु रहते हैं यदि सर्वसाधारण व्यक्तियों जैसी मृत्यु और विवशता होती तो इस लोक का त्याग करके जाने वाले भगवान श्री राम, श्री कृष्ण, श्यामजी सतियां, प्रभृति अपने इस शरीर के त्याग के बाद राम, कृष्ण प्रभृति के उपासकों का कल्याण नहीं कर सकते लेकिन यह बात शास्त्र प्रत्यक्ष, अनुमानादि से सिद्ध है कि इनकी उपासना से लाभ अवश्य होता है। शास्त्रों में मृत्यु के लिए बताया कि "मृत्युरत्यन्त विस्मृतिः" एक दम भूल जाना ही मृत्यु है, यदि ऐसे विशिष्ट व्यक्ति भी मृत्यु के बाद एक दम भूल जांय तब रूपान्तर में लोकान्तरगत उपास्य राम, कृष्ण, सतियों का नाम लेने भजन करने पर उपासकों पर उनकी अनुकम्पा जो प्रत्यक्ष दृष्ट होती है इसका कोई आधार नहीं मिल सकेगा।

इसीलिए कहा गया है धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम् और यही कारण है कि वैसे लोग भी जिन की शास्त्रों में जन्मान्तर में एवं शरीर से भिन्न आत्मा के अस्तित्व में कतई विश्वास नहीं बल्कि यदि दूसरा कोई इन तत्त्वों की चर्चा करे तो लड़ने के लिए उतारू हो जाते हैं वैसे भी नास्तिक व्यक्ति, उनके मत के किसी महान व्यक्ति की मृत्यु पर उन्हें अमर-शहीद कहते हैं जिन्दाबाद कहते हैं। शास्त्रों में तो आत्मा के अजर, अमर, जन्मान्तर ग्रहण क्रमशः उत्तमोत्तम लोक गमनादि के अनेकानेक प्रमाण भरे पड़े हैं।

ऐसे ही आदर्श दिव्य व्यक्ति जो जन्म से देह त्याग तक पापरहित परोपकार परायण एवं शिव-शक्ति के उपासक होते हैं वे पुराने वस्त्र के समान निर्मम भाव से इस शरीर का त्याग कर दिव्य शरीर

प्राप्त कर दिव्य लोकों में जाते हैं। क्रमशः उच्च उच्चतर उच्चतम लोकों में प्रतिष्ठित होते हैं। इसीलिये हमारे शास्त्रों में पिता को वसु स्वरूप पितामह को रुद्र स्वरूप एवं प्रपितामह को आदित्य स्वरूप बताया गया है। श्राद्ध, तर्पण प्रभृत्ति में व्यवहार्य वैदिक मन्त्र "आयन्तु नः पितरः सोम्यासो अग्निष्वात्ताः पथिभिःर्दैवयानै अस्मिन् यज्ञ स्वधया मदन्तोऽधि-ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्पान्" एवं देवान् देवपजो यान्ति पितृन्यान्ति पितृ व्रताः भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्‌यानिनोऽपिमार इत्यादि जीतोक्त भगवत् वाव्ध भी परलोक गत पितरों के दिव्ययानो द्वारा लोकान्तरो में गमनागमन एवं अपने भक्तों के संरक्षण सामर्थ्य के अकाट्य प्रमाण हैं और इसीलिए सभी आस्तिक हिन्दू पितरों की पूजा में तत्पर रहते हैं बल्कि देव-पूजा से भी इसको अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। वैसे ही दिव्य पुरुषों की परम्परा में भगवान राम, श्रीकृष्ण, पितामह भीष्म श्री शङ्कराचार्यजी सतियां श्रीराम कृष्ण ह प्रभृति असाधारण व्यक्तित्व के लोग आते हैं दैवी शक्तियों का चरम उत्कर्ष लोगों ने अ किया। हमारे बाबा गंगारामजी भी उसी में भक्तों द्वारा परिलक्षित हुए अनेकानेक भक्तों अभीष्ट सिद्धि के कारण दिनानुदिन बढ़ती हुई भ परम्परा एवं चमत्कार जिसका अनुभव ले को भी हुआ जगज्जननी दुर्गा जी के द्वारा सूक्त में प्रोक्त इस बात को हठात् स्मृति पथ में देते हैं।

यं कामये तं तमुग्रङ्कणोमि तं ब्राह्मणं तमृषि सुमेधां। अर्थात् भगवती की कृपा जिस को चाहे ब्रह्मा, ऋषि एवं सुमेधा बना सकती और ठीक अपने जीवन में शिव शक्ति के बाबू श्री गंगारामजी भक्तों की अभीष्ट सिद्धि हुए उच्चतम लोको में प्रतिष्ठि हो रहे हैं।

—o—

पाप से बचकर धर्म-सेवन करो

मनुष्य को अपने जीवन में पापों से सदा बचना चाहिए। पाप तीन साधनों से होते हैं—मन से, वचन से, शरीर से। तीनों साधनों को सदा पाप से बचाकर पुण्य कर्म मे धर्म-सेवन में ही लगाए रक्खो। पाप तीन तरह से होते हैं—'कृत' (स्वयं करे), 'कारित', (दूसरों के द्वारा करवाए) और 'अनुमोदित' (कोई दूसरा पाप करता हो तो उसका समर्थन करे) इन तीनों तरह से पाप-कर्म न करके स्वयं धर्म का सेवन करे; दूसरों को सदा धर्म का सेवन करने के लिए प्रेरणा, उत्साह तथा सहायता देता रहे और किसी के द्वारा भी होने वाले पाप का समर्थन तो कभी करे ही नहीं, उसका यथोचित विरोध करे तथा दूसरों के धर्म-कार्यों का सदा समर्थन कर उन्हें उत्साहित करता रहे।

रामनाम-झङ्कार

(प्रीतिपाल : बीकानेर)

मन की हार अगर हो तो तूं राम-नाम झङ्कार

दौड़ रही दुनियाँ चौ-फ़ेरी

मची हुई हद तेरी-मेरी

यूँ ही बीती रैन घनेरी

अब तो किरण निहार

प्रातःकाल हुआ है प्यारे राम-नाम झङ्कार

उसे देख कर एक न लौटा

जगदीश्वर कर जगत-मुखौटा

राम-नाम-जल भर ले लोटा

अन्तः बाह्य-पखार

मन्दिर है मन्दाकिनियाँ जय गंगाराम उचार

यह बेचैनी नई-नई है

दुई समूची गई-गई है

इस रण के योद्धा न कई हैं

अद्भुत तेग सँभार

ब्रह्म-साक्ष्य ही विजय-राग है राम-नाम झङ्कार

भटक लिया जब चौरासी में

मन न लगा मथुरा-काशी में

आय थमा अब अविनाशी में

अस्ति-भाव विस्मार

शान्त हुए सब राग बजी तब राम-नाम झङ्कार

गंगापुत्र गांगेय

(नृसिंह राजपुरोहित : खाण्डप)

इधर तो वशिष्ठ मुनि ने प्रातः स्नानार्थ आश्रम से नदी की ओर प्रस्थान किया और उधर निकट-वर्ती पर्वत शिखर पर आठ वसु (देवता) अपनी देवांगनाओं सहित आकाश-मार्ग से धरती पर उतरे। वे तपोवन की प्राकृतिक शोभा देखकर स्तब्ध रह गए। पर्वत की उपत्यका में वशिष्ठ मुनि की गाय नन्दिनी चर रही थी। उसे देखकर एक देवांगना अपने पति प्रभास से कहने लगी—इस सुन्दर गाय को तो ले चलो। प्रभास बोला—पगली हुई हो क्या ? हम स्वर्ग लोक के वासी, हमें क्या करना है इस गायका ? पर देवांगना ने हठ झलली और प्रभास को त्रिया-हठ के सामने झुकना पड़ा।

नन्दिनी, मुनि की प्रिय गाय थी। उसे खोकर वे बड़े व्यथित हुए। उन्होंने अततः अपने ज्ञान-चक्षुओं से देखा तो सब कुछ ज्ञात हो गया। वे बड़े क्रोधित हुए। उन्होंने शाप दिया कि आठों वसुओं को मानव-शरीर धारण कर धरती पर जन्म लेना पड़ेगा। अब तो वसु घबराये। मुनि के सम्मुख उपस्थित हो क्षमा-याचना करने लगे। मुनि बोले—शाप के अनुसार जन्म तो सबको लेना ही पड़ेगा, परन्तु प्रभास प्रमुख दोषी है अतः उसे तो पूरी आयु भोगनी ही होगी, शेष सातों को जन्मते ही मृत्यु पुनः उठा लेगी।

वे वहां से खिन्न मन से रवाना हो गंगा के पास पहुँचे। अपनी व्यथा-कथा सुनाई और आग्रह किया कि वह मातृपद स्वीकार कर उन्हें जन्म [illegible] करे। गंगा ने दया कर उनकी बात स्वीकार कर ली। गंगा की स्वीकृति पर वसुओं के मन को शांति प्राप्त हुई।

गंगा सुन्दर रमणी का रूप धारण कर नदी के किनारे घूमने लगी। इतने में सुन्दर अश्व पर सवार महाराजा शान्तनु उधर से निकले। वे उसकी सुन्दरता पर मोहित हो गये। वे उसके समीप जाकर बोले—भद्रे ! तुम कौन हो ? तुम्हारे अपूर्व सौन्दर्य का दर्शन कर मेरा जन्म धन्य हुआ। मेरी समस्त संपदा, शक्ति और सामर्थ्य तुम्हारे सम्मुख निस्तेज है। तुम जैसा नारी-रत्न यदि मेरे प्रासाद की शोभा बढ़ावे तो मेरा मानव-जन्म सफल हो जाय।

— पर ऐसा सम्भव नहीं हो सकता।
गंगा ने मुस्कराते हुए कहा।

— पर आखिर क्यों ? राजा बोला

— मेरी प्रकृति विचित्र और शर्तें कड़ी हैं।

— मुझे सब कुछ मंजूर है।

— आप निभा नहीं सकेंगे।

— मैं बचन देता हूँ कि सब कुछ निभा लूँगा।

— तो सुनिये, प्रथम तो यह कि मुझे मेरे कुल और जन्म-स्थान के विषय में कोई कुछ नहीं पूछ सकेगा। दूसरी बात मैं प्रत्येक कार्य मेरी इच्छानुसार करूंगी। मुझे कोई रोक न

सकूंगा और जिस दिन मुझे रोका जायगा, मैं उसी दिन रवाना हो जाऊंगी।

— देवी मुझे तुम्हारी सब शर्तें मंजूर हैं। राजा ने उत्साह से कहा और गंगा ने शान्तनु के प्रासाद में प्रवेश कर लिया।

राजा की एक-एक घड़ी प्यार में बीतने लगी। दिन पंख लगाकर उड़ने लगे। उसने रनिवास में ही स्थायी निवास बना लिया और राज काज को बिल्कुल बिसरा दिया। बातें करते अनेक वर्ष बीत गए। गंगा ने एक-एक कर सात पुत्रों को जन्म दिया। परन्तु आश्चर्य की बात यह कि बालक के जन्म लेते ही गंगा उसे लेकर रवाना होती और नदी के प्रवाह में बहा देती। इस प्रकार एक-एक कर सातों बालकों को नदी में बहा दिया।

राजा देखता ही रह गया। कहाँ तो यह देव-तुल्य अपूर्व सौन्दर्य और कहाँ यह अमानुषिक कृत्य? उसे कुछ समझ में नहीं आया।

कुछ मास व्यतीत होने के पश्चात् आठवें बालक ने जन्म लिया। गंगा सदा की भांति बालक को लेकर नदी की ओर रवाना हुई। अबकी बार राजा से रहा नहीं गया। वह क्रोधित होकर बोला—जो बात सात बार हृदय पर पत्थर रख कर स्वीकार कर ली अब सहन नहीं की जा सकती। तू माँ है या राक्षसी? अपनी संतान को अपने ही हाथों नष्ट करते तुझे जरा भी करुणा है? पत्थर हृदय! तुझे जरा भी माया-ममता नहीं? खबरदार जो एक कदम भी आगे दिया। यदि अपनी खैर चाहती है तो पुनः चुपचाप महल में लौट आ।

राजा की बात सुन कर गंगा मन में अत्यन्त हर्षित हुई परन्तु दिखावटी क्रोध प्रदर्शित करती हुई कहने लगी—

महाराज! अपना वचन स्मरण करिये। आप मुझे रोकने के अधिकारी नहीं हैं। खैर, आपको अपने पुत्र से मतलब है और मुझसे कोई मतलब नहीं तो मुझे भी आप से कोई सरोकार नहीं। दिये गये वचनों के अनुसार मैं भी अपनी राह पकड़ती हूँ। मुझे कोई नहीं रोक सकता। राजा शान्तनु स्तब्ध रह गये।

गंगा ठहर कर कहने लगी—लेकिन प्रस्थान करने से पूर्व मैं बिना पूछे अपना परिचय भी देती जा रही हूं। ध्यान देकर सुन लेना। मैं गंगा हूँ—वही गंगा जो भगवान विष्णु के चरणों से प्रवाहित हुई और शंकर की जटाओं में रमी। जिसकी कृपा-हेतु मानव तो क्या देवता भी तरसते हैं। मैंने जिन आठ बालकों को जन्म दिया वे आठों वसु (देवता) हैं। इन्हें वशिष्ठ मुनि के श्राप से धरती पर जन्म लेना पड़ा और मुझे इनकी खातिर यह सारा स्वांग भरना पड़ा। मुझे इस बात का गर्व है कि वसुओं को आप जैसा प्रतापी राजा पिता के रूप में प्राप्त हुआ और आप को भी इस बात का गर्व होना चाहिए कि वसुओं ने आपके घर में जन्म लिया। इस आठवें बालक को मैं आपकी इच्छानुसार नहीं मारूंगी। मैं इसे पाल पोस कर बड़ा करूंगी और बड़ा होने पर आप को सौंप दूंगी। यह बालक महान प्रतापी और बलशाली होगा। अपने पराक्रम से नाम अमर करेगा और अपने जीवन में भीष्म (पितामह) के नाम से विख्यात होगा। ❀

—०—

सच्चाई की वेशभूषा

(सं० रामगोपाल अग्रवाल : कलकत्ता)

बात तबकी है, जब सृष्टि नई जन्मी थी। यहाँ पर बसे सभी लोग नंगे फिरा करते थे और सच्चाई भी उन्हीं के साथ नंगी फिरा करती थी। सभी एक जैसे थे—नंगे, कहीं कोई अन्तर महसूस नहीं करता था।

फिर एक दिन ऐसा हुआ कि खुदा ने सब नंगों को वस्त्र बांटे। लेकिन सच्चाई उस समय कहीं गई हुई थी। उनके वापिस लौटने तक, खुदा लिबास बाँट कर जा चुके थे। सच्चाई नंगी ही रह गई। अब लोग उससे कतराने लगे, घृणा करने लगे। बेचारी सच्चाई अपने को सबसे अलग-थलग, हीन और अकेला महसूस करने लगी। फिर वह अपने अकेलेपन से ऊब गई। वह उदास और व्याकुल रहने लगी और जीवन से मुक्ति चाहने लगी। मगर यह सम्भव नहीं था। क्योंकि वह अजर-अमर थी और इस बात को वह जानती भी थी।

एक अन्धेरी और बरसाती रात को··· ···वह अपनी गुफा से बाहर निकली। रात काली और भयानक थी। मगर उसे कोई चिन्ता नहीं थी। चलते हुए बहुत दूर निकल गई। उसे कोई साथी चाहिये था। काफी दूर पर उसे टिमटिमाती-सी एक रौशनी दिखाई दी—यह रौशनी आबादी से परे एक जंगल से आ रही थी।

सचाई उसी तरफ बढ़ने लगी।

रौशनी एक कुटिया से निकल रही थी। सच्चाई दबे पाँव कुटिया में प्रविष्ट हुई। कुटिया में एक संन्यासी बैठा किसी सोच में डूबा हुआ था। उसके चेहरे पर एक अनोखी दीप्ति फैली हुई थी—जैसे अनुराग और विद्रोह आपस में मिल-जुल गए हों।

संन्यासी को देखकर सच्चाई ओट में हो गई। मगर तब तक संन्यासी को आहट मिल चुकी थी। उसने सिर उठा कर चारों तरफ देखा और मधुर आवाज में बोला, कौन ?······कौन हो तुम ? मेरे सामने आओ।

सच्चाई उस मधुर आवाज को सुनकर चुप न रह सकी। वैसे ही छिपे-छिपे बोली, "मैं सच्चाई हूं।" उसकी आवाज रुआंसी थी "लोग मुझसे घृणा करते हैं क्योंकि मैं नंगी हूँ।"

फिर सच्चाई बोली मैं तुम्हारे सामने नहीं आऊंगी क्योंकि जानती हूँ, मुझे देखकर तुम भी नफरत करने लगोगे।

नहीं संन्यासी बोला, मैं तुम्हें जानता हूँ। जानता ही नहीं, प्यार भी करता हूँ। मैं तुमसे मिलना चाहता था मगर तुम्हारा घर काफी कोशिश के बाद भी न पा सका।

फिर संन्यासी बोला, प्रिय सचाई, मेरे सामने आओ। मैं तुम्हें रंग-बिरंगे सुन्दर लिबास दूंगा··· कहानियों के लिबास।

तुम यह लिबास पहनकर जिसके भी सामने जाओगी, वही तुमसे प्यार करने लगेगा।

सच्चाई खुशी-खुशी सामने आ गई, संन्यासी उसे तरह-तरह के लिबास देने लगा। कहानियों के ये लिबास पहन कर जब सच्चाई लोगों के पास गई तो किसी ने भी उसे दुत्कारा नहीं। अपनी सिर-आंखों पर बिठाया। ❀

योग्य वर की तलाश

(राजीव एन० भानावत : जयपुर)

बहुत समय पहले किसी जंगल में एक आचार्य का आश्रम था। उसी आश्रम में वे रहते हुए अध्ययन-अध्यापन का कार्य करते थे। उनके कई शिष्य थे जो उसी आश्रम में रहते हुए अध्ययन करते थे।

आचार्य के एक कन्या थी जो विवाह के योग्य हो गयी थी, अतः आचार्य को उसके विवाह की चिन्ता हुई। आचार्य चाहते थे कि उनके शिष्यों में से ही किसी के साथ कन्या का विवाह कर दिया जाय, लेकिन आचार्य के सामने यह समस्या थी कि वह किसे दामाद बनावें ? उनके प्रत्येक शिष्य में विभिन्न गुण थे। कोई मन का धनी था तो कोई तन का। आचार्य चाहते थे कि जो सबसे अधिक सुशील व सदाचारी हो उसी को अपनी कन्या सौंपें।

शिष्यों की परीक्षा लेने के लिये उन्होंने एक योजना बनायी। सभी शिष्यों को बुलाकर कहा- मेरी कन्या युवती हो गयी है, अतः मैं उसका विवाह करना चाहता हूँ। मेरे पास कन्या को देने के लिये कपड़े व गहने नहीं हैं, अतः तुम सभी अपने घर से, कोई भी नहीं देख रहा हो तब गहने व कपड़े चुरा कर लाया करो।

सभी शिष्य आचार्य का कहना मान कर रोजाना अपने घर से गहने व कपड़े चुरा कर लाने लगे। लेकिन एक शिष्य जब कई दिनों तक कुछ भी नहीं लाया तब आचार्य ने बनावटी क्रोध दिखाते हुए कहा—अभी तक तुम एक भी कपड़ा अथवा गहना क्यों नहीं लाये ? शिष्य ने कहा आचार्य अभी तक मुझे कोई भी ऐसा मौका नहीं मिला जबकि मैं गहने अथवा कपड़े चुराऊँ। जब भी मैं घर जाता हूं तब कोई न कोई अवश्य मुझे गहने, कपड़े चुराते अवश्य देखता रहता है। आचार्य ने कहा यह असम्भव है। घरपर कोई नहीं हो तब ले आया करो। शिष्य ने कहा—जब भी मैं चोरी करने घर जाता हूँ उस समय दूसरा चाहे न देख रहा हो पर मेरी आत्मा तो देख ही रही होती है। मैं अपना पाप अपने से कैसे छिपाऊँ। अतः मैं घर से गहने अथवा कपड़े नहीं ला सकता।

यह सुनकर आचार्य प्रसन्न मुद्रा में बोले मैं तो तुम्हारी परीक्षा ले रहा था। मेरी बेटी के लिए तुम्हीं योग्य वर हो। तुम्हारे इस सदाचारमय व्यक्तित्व से मैं बहुत प्रभावित हूं।

जलम लेय रजथांन में, निज भाषा अणजाण
जीवित उणनैं कुण कहै, मुर्दो पड़्यो मसाण

जीवन में धर्म का महत्त्व

धर्म बाजार में या पुस्तकों में मिलने वाली वस्तु नहीं है। धर्म कोई संचित धन नहीं है। धर्म तो मानवीय संवेदना का ही नाम है।

(दुर्गादत्त 'दुर्गेश' चूरु)
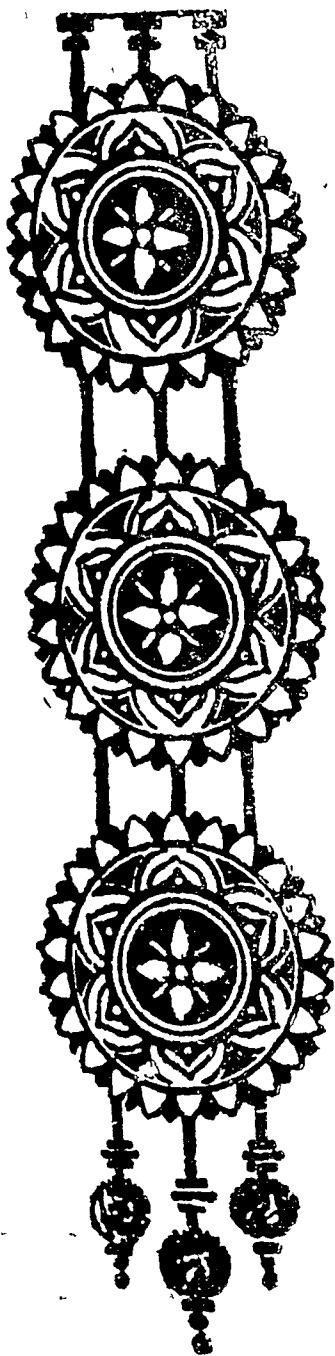
धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का भारतीय संस्कृति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन चारों को प्राप्त करना ही जीवन की सार्थकता बताई गयी है। वस्तुतः ये चारों पुरुषार्थ मनुष्य के लिए आवश्यक है। इसलिए चारों एक दूसरे के पूरक हैं। इतना होते हुए भी धर्म इनमें श्रेष्ठ है। अगर एक व्यक्ति के पास धन नहीं है, लेकिन वह धर्म पर अडिग रहता है, तो उसकी धन वाली दरिद्रता कोई नहीं देखेगा। कहने का तात्पर्य यही है कि धर्म सब गुणों में श्रेष्ठ है। धर्म पर ही समस्त संसार आधारित है। जिस दिन पृथ्वी पर से धर्म उठ जायेगा, उस दिन दुनिया के अन्य क्रिया कलाप भी बन्द हो जायेंगे। इसीलिये प्राचीन और अर्वाचीन मनीषियों ने धर्म की हानि को सब से बड़ी हानि कहा है।

अब प्रश्न उठता है कि धर्म क्या है ? बहुत से लोग धार्मिक पुस्तकें पढ़ने, व्रत रखने, कीर्त्तन करने और मन्दिरों में जाने को ही धर्म समझ लेते हैं। लेकिन उपर्युक्त गुण धर्म के वास्तविक गुण नहीं है। अगर एक व्यक्ति पाप की कमाई करके रोज मन्दिर जाता है और लोगों को मात्र दिखाने के लिए राम-राम रटता है तो उसे हम धार्मिक नहीं कह सकते। धर्म की वास्तविक व्याख्या है— "धारणात् धर्मः" अर्थात् जो सारे समाज को धारण करता है, वह धर्म है। अब प्रश्न यह उठता है कि धारण किसका ? किसी मनुष्य का, किसी समाज का, किसी जाति का वा किसी देश का। वस्तुतः चराचर सृष्टि का धारण ही धर्म है। यहाँ सृष्टि का मतलब समस्त मनुष्यों से

नहीं, बल्कि पशु-पक्षियों से भी है। अगर हम धर्म की विशुद्ध व्याख्या करें तो पायेंगे कि मानवेतर सृष्टि का विचार ही धर्म है।

बड़े दुःख की बात है कि आजकल अपने को प्रगतिशील और सभ्य मानने वाला समाज धर्म के नाम पर नाक भौं सिकोड़ता है। स्मरण रहे ढोंग छल, छद्मवेश, दिखावा और कर्मकाण्ड ही धर्म नहीं है। धर्म बाजार में या पुस्तकों में मिलने वाली वस्तु नहीं है। धर्म कोई संचित धन नहीं है। धर्म तो मानवीय संवेदना का ही नाम है। धर्म तो मानव के प्रति मानव का और जीव के प्रति जीव का विश्वास है—श्रद्धा है। धर्म एक ऐसी भावना है जो व्यक्ति की अनुभूति को संवेदनशील बनाकर उसे मानव मात्र या प्राणी मात्र से प्रेम करना सिखलाती है। अगर हम धर्म के दर्शन करना चाहें तो इन पंक्तियों में कर सकते हैं—

सर्वेऽ भवन्तु सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद् दुःख भाग भवेत ॥

इन पंक्तियों में व्यक्तिवाद से बहुत दूर हटकर समस्त जीवों या मनुष्यों की सुख-समृद्धि की हार्दिक कामना है और ये ही वास्तविक और सच्चे धर्म के लक्षण हैं। हमारा मंतव्य यही है कि परोपकार की भावना, त्याग, सहानुभूति, सत्य, अहिंसा और सेवा ही धर्म के प्रमुख अंग हैं। चोरी और डकैती के लिए भगवान से प्रार्थना करना धर्म नहीं है, अपितु दूसरे मनुष्यों की उन्नति और विकास देखकर प्रसन्न होना धर्म है। दूसरों को कष्ट पहुंचाकर स्वार्थ सिद्धि हेतु भगवान का प्रसाद चढ़ाना धर्म नहीं है, बल्कि मानव मात्र की भलाई की कामना ही धर्म है। कबीर, नानक, रैदास, दादू आदि सन्त पाखण्ड और ढोंग नहीं करते थे, इनका ध्येय तो जीव मात्र को सुख पहुँचाना था। इसीलिए वे आज धर्म के स्तम्भ बने हुए हैं। ये ऊँच-नीच, जाति-पांति और रंग-रूप में विश्वास नहीं करते थे, इसलिए हम इन्हें पूजनीय मानते हैं।

क्या धर्म मनुष्य के लिए आवश्यक है?

यह एक ऐसा विषय है, जिस पर सम्यक विचार करना चाहिए। आज बहुत से व्यक्ति यह कहते हैं, कि धर्म जैसी रूढ़िगत परम्पराओं में हमारा विश्वास नहीं है। यह उनका संकुचित दृष्टिकोण है। अगर हम निष्पक्ष दृष्टि से देखें तो पायेंगे कि धर्म मानव के लिए अनिवार्य है। हाँ, धर्म की व्याख्या विशद और व्यापक होना आवश्यक है। अगर हम "वसुधैव कुटुम्बकम" वाले सिद्धान्त को मानकर चलें तो यह एक धार्मिक भावना ही है। धर्म हमें अन्धानुकरण नहीं सिखलाता, वह तो जीवन में पवित्रता और प्रेम का ही पाठ पढ़ाता है। इसलिए मनुष्य के लिए धर्म का पालन अनिवार्य हो जाता है।

धर्म का क्षेत्र कितना होना चाहिए?

धर्म वस्तुतः एक भावना का नाम है, इसलिए उसका क्षेत्र निर्धारण करना कठिन या असंभव तो है ही, इसकी सीमा को मापना मूर्खता भी है। हाँ धर्म के बारे में ऐसी बातें अवश्य बतायी जा सकती हैं, जिनको ध्यान में रखकर प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म का पालन कर सकता है। यद्यपि विभिन्न धर्म सम्प्रदायों ने धर्म की भिन्न २ व्याख्याएं की हैं, तथापि गहराई से सोचने पर यह स्पष्ट हो जाता है, कि सभी धर्मों का मूल एक ही है और हमें इस मूल को ही पकड़ना है। मानव जाति का यह दुर्भाग्य

ही कहा जायेगा, कि सभी एक धर्म को मानते हुए, मात्र सिद्धान्तों के लिए अलग अलग सम्प्रदायों में बँट गये।

धर्म की भावना कोई नई नहीं है। धर्म चिरन्तन और सनातन है। धर्म का इतिहास मानव जाति के विकास के साथ ही शुरू होता है। हाँ, यह बात दूसरी है कि समय-समय पर अन्य अनेक महापुरुषों ने अपनी अपनी मान्यताओं के आधार पर अपने एक अलग ही धर्म की स्थापना की। परन्तु धर्म का यह स्वरुप संकुचित ही कहा जायेगा, व्यापक नहीं।

समाज को धर्म की आवश्यकता

देखा जाये तो समाज को धर्म की बहुत ही आवश्यकता है। अनेक असामाजिक कृत्य धर्म के डर से ही नहीं होते। व्यक्ति कोई पाप करते समय धर्म पर अवश्य सोचता है और वह उस काम को कदापि नहीं करेगा, जिसकी धर्म आज्ञा नहीं देगा। उसे पग-पग पर यह सोचना पड़ेगा इस काम में धर्म की स्वीकृति है, या नहीं। रिश्वत लेना पाप है, यह भावना धर्म के अन्तर्गत ही आती है और यही कारण है कि आधे से ज्यादा व्यक्ति रिश्वत लेने और देने में संकोच करते हैं। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि धर्म की मान्यताओं से समाज में, अनुशासन, स्थिरता, शांति और सहयोग की भावना दृढ़ होती है। असहायों की सहायता करना एक धार्मिक कृत्य माना गया है। इसी भावना से प्रभावित होकर लोग कष्ट में पड़े हुए व्यक्तियों की सहायता करते हैं। जहाँ कहीं भी अनावृष्टि वा अतिवृष्टि होती है, लोग सहायता के लिए अपने आप तत्पर हो जाते हैं और एक समाज अथवा मानव समुदाय भूख से मरने से बच जाता है। बहुत से सामाजिक अपराध धर्म के डर से ही दबे हुए है और वे उस समय तक दबे रहेंगे, जब तक मनुष्य में धर्म की भावना रहेगी। इस प्रकार हम देखते है कि समाज को धर्म की महती आवश्यकता है। इसीलिए प्रत्येक व्यक्ति के लिए धर्म का पालन करना अनिवार्य है।

हम देखते हैं कि विश्व के कोने-कोने में धर्म स्थल बने हुए हैं। आज भले ही इन धर्म स्थलों में उतना अनुशासन न रहा हो पर इनकी स्थापना के पीछे अवश्य ही कोई महान् उद्देश्य था। मनुष्य का स्वभाव है कि वह बल को पूजता है किसी भी काम के पीछे भय की भावना अवश्य होती है। प्राचीन काल में जब आज जैसी पुलिस व्यवस्था नहीं थी, तब धर्म ही लोगों की सहायता करता था। मनुष्य के लिए धर्म एक सिपाही था, जिसके डर से वह कोई अनुचित नहीं कार्य करता था। यह दूसरी बात है कि लोगों ने अपनी उदर पूर्ति के लिए बाद में धर्म को जटिल और कर्मकाण्डमय बना दिया। मन्दिरों की स्थापना का यही तात्पर्य था कि लोग प्रतिदिन यहाँ सामूहिक रूप से आकर अच्छे और बुरे पर विचार करें और होता भी यही था। लोग मन्दिर इसीलिये जाते थे कि वे अपनी आत्मा को शुद्ध कर लें ताकि भविष्य में अन्य अनुचित काम नहीं हो सके। लेकिन बाद में लोगों ने पैरों से चलकर मन्दिर तक आने को ही धर्म समझ लिया और यहीं से धर्म में विकृति शुरू होती है।

अस्तु, ऊपर यही दर्शाया गया है कि धर्म जीवन का एक आवश्यक अंग है, मनुष्य और समाज को धर्म की आवश्यकता है। हाँ, धर्म की परिभाषा बिल्कुल स्पष्ट, व्यापक और निष्पक्ष होनी चाहिए। आज जमाना दूसरा है। हाथ को हाथ खा रहा है। धर्म को घुन निगल रहे हैं। व्यक्ति एक दूसरे को धोखा देने के प्रयत्न में रहते हैं। लोगों की

भावना दिन पर दिन कुत्सित होती जा रही है। सर्वत्र झूठ, अन्याय, शोषण, असमानता, अनाचार और अधर्म का राज्य है। मानवीय गुण और मूल्यों में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहा है। लोगों में सार्वजनिक सेवा की भावना बिल्कुल ही नष्ट हो रही है। अर्थ के लिए सभी व्याकुल है और उसको प्राप्त करने के लिए अनुचित से अनुचित कदम उठाये जा रहे हैं। लोग अनास्थावादी और सांसारिक हो गये है। सर्वत्र एक अजीब वातावरण है। ऐसे में यह आवश्यक है कि हम पूर्णरूपेण अपने धर्म का पालन करें।

संकुचित दृष्टिकोण से धर्म का पालन न करना ही अच्छा है। धर्म जैसी पवित्र चीज ऊँच नीच अमीर-गरीब और गोरा-काला नहीं देखती। धर्म विशेष के लिए लड़ना, एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करना अपराध है—पाप है। शुद्ध धर्म तो मानव मात्र के प्रति कल्याण सोचना ही है।

आज समय बहुत खराब है। सब जगह व्यक्तिवाद का बोलबाला है। धर्म पर से लोगों का विश्वास उठ रहा है। सभी पैसा जोड़ने और विषय वासना में लिप्त हैं। धर्म-कर्म के नाम पर कुछ नहीं हो रहा है। लोग एक निर्जीव मशीन की तरह बन गये है। उनके पास मस्तिष्क तो है, लेकिन हृदय नहीं है और हृदयहीन शरीर में मस्तिष्क का कोई महत्त्व नहीं है। सेवा, सहानुभूति सम्मान की भावना नष्ट हो रही है। समाज रसातल को ओर जा रहा है। यत्र-तत्र सर्वत्र छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष और प्रमाद का साम्राज्य है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की गरिमा मिट रही है। सभी एक कृत्रिम जीवन जी रहे हैं। एक भागदौड़ मची हुई है। प्राणियों के प्रति सद्भावना नष्ट हो रही है। ऐसे में हमारा कर्त्तव्य है कि हम भारतीय सभ्यता और संस्कृति को पुनर्जीवित करें। इसके लिए हमें तन मन-धन से तैयार होना पड़ेगा। बड़े से बड़ा त्याग करने का संकल्प लेना होगा। धर्म-कर्म के प्रति लोगों में आस्था का संचार करना पड़ेगा।

हमें क्या करना है।

अब विचारणीय प्रश्न है कि हम क्या करें। किस प्रकार भारतीय सभ्यता-संस्कृति को बचाने के लिए प्रयत्न करें आदि आदि। इसके लिये हमें यही करना पड़ेगा कि सर्वप्रथम हम अपने को पहचाने, निज का हृदय टटोले और खुद की कमियों को जान कर उनको दूर करें। दूसरों को समझाने से पूर्व स्वयं का सुधार करें। जीवन में स्वच्छता और सरलता लायें। किसी भी नेक कार्य में तन-मन धन से योग दें। सार्वजनिक दृष्टिकोण अपनाकर मानव मात्र को अपना भाई समझें, समस्त विश्व को ही अपना घर मानकर चलें। विपत्ति के समय दूसरों की सहायता करें। किसी भी जीव को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुंचायें। श्रम को महत्त्व दें। कर्त्तव्य के प्रति सदैव सजग रहें। किसी की उन्नति देखकर उससे ईर्ष्या नहीं करें, बल्कि उसे प्रोत्साहन दें। लोगों को गलत रास्ते पर चलने से रोकें। मांस-मदिरा का परित्याग करें। सेवा को महत्त्व दें। अपाहिजों, विकलांगों और मरीजों को यथा संभव सहायता दें। किसी की बुराई न करें। मन वचन और कर्म से किसी का अहित नहीं करें। लोगों का दुःख दूर करने का प्रयत्न करें।

संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि उपर्युक्त नियमों का पालन करना ही धर्म है और धर्म मनुष्य के लिये आवश्यक है। मनुष्यता का यही तकाजा है कि मनुष्य, मनुष्य को मनुष्य समझें। जीव, जीवको जीव समझे और अपने से अधिक दूसरों को मानें। अगर हम एक स्वस्थ और वास्तविक जीवन जीना चाहें तो हमें धर्म का पालन करना ही होगा, और वह धर्म है मानव धर्म—जीव धर्म। व्यक्ति का एक ही आदर्श वाक्य होना चाहिये—"धर्मम् शरणं गच्छामि"।

भारतीय संस्कृति के मूलतत्व

— अगरचन्द नाहटा

भारतीय धर्म एवं संस्कृति के महान् उन्नायकों में महर्षि व्यास का नाम सर्वत्र है। पुराण आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उन्हीं के बनाये हुए माने जाते हैं पर वास्तव में सभी ग्रन्थ किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा बनाये हुए नहीं माने जा सकते, क्योंकि उनमें पारस्परिक विरोध भी पाया जाता है। मालूम होता है कि व्यासों की एक परम्परा यह रही है जिन्होंने समय-समय पर ये ग्रन्थ बनाये हैं, पर उन्होंने अपना अलग-अलग नाम नहीं, अपने पूज्य एवं प्रतिष्ठित महर्षि व्यास के नाम से ही उन्हें प्रचारित करते गये। जो कुछ भी हो, व्यासजी के नाम से भारत को बहुत बड़ी ज्ञान की समृद्धि प्राप्त हुई है। १८ पुराणों के सार में कहा हुआ उनका यह श्लोक तो बहुत ही प्रसिद्ध और बहुत ही महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनं द्वयं।
परोपकार पुण्याय पापाय परपीड़नं॥

वास्तव में ही यह सारे भारतीय धर्म और संस्कृति का निचोड़ है कि परोपकार ही पुण्य है और परपीड़न ही पाप है। पाप की इतनी संक्षिप्त और सुगम परिभाषा अन्य कहीं नहीं मिलेगी। दो टूक

बात कह दी गई है कि पुण्य चाहते हो तो परोपकार करो और परपीड़न करोगे तो पाप का फल भोगने के लिये तैयार हो जाओ।

सभी व्यक्ति यही चाहते हैं कि उन्हें सुख मिले। धन, कुटुम्ब, नीरोग शरीर, दीर्घायु आदि पुण्य से प्राप्त होते हैं। पाप का परिणाम कष्टदायक है। इसीलिये पाप करने वाले व्यक्ति भी पापों के परिणाम से बचने का सोचते व प्रयास करते है पर यह मानी हुई बात है कि "जैसा करोगे, वैसा भरोगे" जैसा बीज बोया जाएगा, उसका फल भी वैसा ही मिलेगा। आक और धतूरेको बो कर कोई व्यक्ति आम और गुलाब के फूल प्राप्त करना चाहेगा तो उसे मिलने वाला नहीं। इसलिये महाभारत में कहा है कि यह बड़े आश्चर्य की बात है कि लोग पापों के परिणाम से बचना चाहते हैं, पर पाप वृत्तियों को छोड़ने के लिये तैयार नहीं होते। इसी तरह पाप के परिणाम स्वरूप-सुख को सभी चाहते हैं, पर परोपकार आदि पुण्य कार्यों में प्रवृत्त नहीं होते अर्थात् चाहते कुछ और हैं और प्रवृत्ति उसके विपरीत करते है। यही महान् आश्चर्य है।

परोपकार बाह्य दृष्टि से दूसरे के उपकार को कहा जाता है। पर वास्तव में तो उससे अपना ही अधिक उपकार होता है, क्योंकि परोपकार से पुण्य की प्राप्ति होती है और पुण्य से सभी प्रकार के सुख मिलते है। जिसका उपकार किया जाता है उसे तो थोड़ा और तात्कालिक लाभ होता है पर करने वाले को तो बहुत अधिक और लम्बे काल तक मिलता रहता है।

पाप क्या है और पुण्य क्या है? मनुष्य के अच्छे-बुरे किये हुए काम ही तो है। अच्छे का फल अच्छा और बुरे का फल बुरा मिलेगा ही, इसमें दो मत नही हो सकते। अब प्रश्न यही है कि कौन से काम अच्छे है और कौन से बुरे है. उसी की व्याख्या व्यास जी के उपर्युक्त श्लोक में कह दी है कि दूसरे को कष्ट पहुँचाना पाप है। कष्ट अनेक प्रकार से पहुँचाया जा सकता है। इसलिये जिन-जिन कार्यों द्वारा थोड़ा या अधिक कष्ट दूसरों को मिलता है, इस पर ध्यान देना होगा। जैन धर्म में मन, वचन, काया (शरीर) द्वारा करने, कराने और अनुमोदन करने, इस प्रकार नव-विधि की प्रवृत्तियों से पाप और पुण्य बँधा होता है, बतलाया गया है—

जैन धर्मों में १८ प्रकार के पाप स्थान बतलाये गये हैं:—(१) अहिंसा, (२) चोरी, (३) झूठ, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान (झूठा कलंक देना) (१४) पैशुन्य (चुगली करना), (१५) रति-अरति (अच्छे और बुरे भावना, प्रेम और घृणा), (१६) परपरिवाद (निन्दा), (१७) माया मृषावाद (कष्ट-पूर्वक झूठ बोलना—झूठ को छिपाने का प्रयत्न) और (१८) मिथ्यात्व दर्शन (वस्तु जिस रुप में है उससे अन्यथा समझना, मिथ्या मानना)। इन सब पापो में से हम कौन-सा पाप किस समय कर रहे है, इसका ध्यान रखना आवश्यक है। मन, वचन और शरीर द्वारा कोई भी पाप प्रवृत्ति हो रही है तो उसे रोकना चाहिये।

पुण्य किसी भी प्राणी को दुःख और कष्ट से बचाने और सुख-सुविधा का उपाय करने से होता

है। जिस व्यक्ति को जिस तरह की सहायता की आवश्यकता हो उसे अन्न, पानी, स्थान, औषध आदि देना, सद्शिक्षा, सद् परामर्श देकर उसे उन्नत बनाना ये सब पुण्य के काम हैं। जितनी भी शुभ प्रवृत्तियाँ हैं वे पुण्य है और अशुभ प्रवृतियाँ पाप हैं। हम शुभ में प्रवृत्त हों और अशुभ से बचें।

इस विश्व की व्यवस्था ठीक से चले इसके लिये भी परोपकारी वृत्तियों की भावना को बहुत आवश्यकता है। प्राणियों का जीवन एक-दूसरे के सहयोग पर ही आश्रित है। यदि माता अपने बच्चे का पालन न करे तो बच्चे की क्या स्थिति हो? हम जब दूसरों का उपकार या सहयोग पाते ही रहते हैं तो दूसरों का उपकार करना भी हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। वैसे प्रकृति और पशु-पक्षी आदि प्राणियों का भी हमारे ऊपर बहुत कुछ उपकार है। इसलिये कहा गया है कि इस शरीर का धारण अपने संरक्षण या पोषण तक सीमित न रखकर दूसरों के लिये भी यह कुछ काम में आये उसका लक्ष्य रहना चाहिये।

किसी कवि ने कहा है :—

निर्गुणस्य शरीरस्य, प्रतिक्षण विनाशिनः।
गुणोहस्ति सुमहानेक, परोपकरणामिघः॥

अर्थात् यह शरीर तो नाशवान है और जीवात्मा निकल जाने के बाद इस, शरीर को जला दिया जायेगा। अतः यह गुण रहित है। इससे जो कुछ भी भलाई हो जाय, वही अच्छा है। इस शरीर के द्वारा, परोपकार द्वारा महान् गुण प्राप्त कर लेना ही इस शरीर की सार्थकता है।

किसी हिन्दी कवि ने भी कहा है—

सरवर तरवर संतजन, चोथो बरसण मेह।
परमारथ के कारणे, चारों धारे देह॥

शरीर की तरह अपनी बुद्धि आदि का उपयोग भी दूसरों के सुख और उत्पादन में होना चाहिये। अपने लिये तो सभी जीते है, पर जो दूसरों के लिये जीता है उसी का जीना सार्थक है। कहा भी है—

आत्मार्थ जीव लोकेऽस्मिन, को न जीवति मानवः
परं परोपकारार्थ, यो जीवति स जीवति॥

सत् पुरुष वही है जो बिना किसी स्वार्थ के सदा परहित में लगे रहते हैं। एक संस्कृत श्लोक में कहा गया है कि सूर्य किसकी आज्ञा से विश्व का अन्धकार दूरकर रहा है, वृक्ष पथिकों को क्यों छाया दे रहा है, मेघको वर्षा करने की किसने प्रार्थना की? अर्थात् स्वभाव से ही इनके द्वारा परोपकार हो रहा है। इसी तरह सत् पुरुष भी आत्म-प्रेरणा या स्वभाव से ही दूसरों के हित में लगे हुए रहते हैं। यदि उनमे यह गुण न हो तो अन्य जनों से उनकी विशेषता ही क्या?

कस्यादेशात् क्षपयति तमः सप्तसरितः प्रजानां,
छाया हेतो! पथि विपटि नामजलि! केन बद्धः?
अभ्यर्थ्यन्ते नवजल मुचः केन वा वृष्टि हेतो—
जात्यवते परहितविधौ साधवो बद्ध कक्षाः॥

फिर भी कहा है, नदियाँ स्वयं पानी नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते, मेघ अन्ननहीं खाते, दूसरों के लिये ही इसका जीवन है। इसी तरह सत्-पुरुषों को सम्पति परोपकारके लिये ही होती है। यथा

पिवन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्बुः
स्वयंनखादन्ति फलानि वृक्षाः।
खादन्ति शस्यंखलु वारीवाहः
परोपकाराय संता विभूतयः
परोपकारस्य फलन्ति वृक्षाः परोपकाराय वहन्ति नद्यः
परोपकाराय दुहन्तिगायः, परोपकारार्थमिदं शरीरम्॥

'भागवत' में कहा है परोपकार रहित मनुष्यों का जीवन धिक्कार का पात्र है। क्योंकि पशु कहलाने वाले प्राणियों का चमड़ा मनुष्य का उपकार करता है—

परोपकार शून्यस्य धिङ मनुष्यस्य जीवितम्।
यावन्तः पशवस्तेषां चर्माण्युपकरिष्यन्ति॥

अर्थात् परोपकार रहित मनुष्यों का जीवन पशुओं से भी गया बीता है। 'भागवत' के पंचम स्कन्ध में ही अन्यत्र कहा गया है कि परोपकार से

जो पुण्य उत्पन्न होता है वह सैकड़ों यज्ञों से भी उत्पन्न नहीं होता इस लिये धन से व प्राणों से परोपकार किया जाना चाहिये।

परोपकारः कर्तव्यः, प्राणैरपि धनैरपि।
परोपकारणं पुण्य, न स्यात् क्रतुशतैपरि ॥

जिनके हृदय में परोपकार की भावना सदा जागृत रहती है, उनकी आपदाएँ नष्ट हो जाती है। और पग पग पर सम्पत्ति मिलती रहती है।

परोपकारणं येषां, जागर्ति हृदये सत्तम।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदेपदे ॥

क्षेमेन्द्र कवि ने तो यहाँ तक भी कहा, है कि सब गुणों से परोपकार ही महान् गुण है। उसके जैसा पुण्य का कोईभी कार्य दिखाई नहीं देता—

शीलं शीलयतं गुणं गणयतां धर्मे सद्भावमभ्यस्यतां,
व्याजं वर्जयतां गुणगणयतां धर्मे धियं हनताम्।
शान्ति चितयता तमः शमयतां तत्वश्रुति श्रु वताम्॥
संसारे न परोपकारसदृसं पश्यामि पुण्यं सताम् ॥

जैसा कि पहले कहा गया है कि वास्तव में परोपकार करके उपकार तो स्वयं का ही होता है। क्यों कि दुःख और सुख जैसा हम दूसरों को देते हैं वैसा ही हमें सुख-दुःख (उसी के परिणाम स्वरूप) प्राप्त होता है। 'दक्ष-स्मृति' में यही बात कही गयी है—

सुखं वा यदि वा दुखं यत्किंचित् क्रियते परे।
यत्कृतं च पुनः पश्चात्, सर्वमालनि तद्भवेत् ॥

तुलसी-रामायण में भी कहा गया है कि परहित के समान कोई धर्म नहीं है। परोपकार के सम्बन्ध में अन्य अनुभवी सत् पुरुषों के वचन नीचे उद्धृत किये जारहे हैं।

अगर तू किसी एक आदमी की भी तकलीफ दूर करे तो यह ज्यादा अच्छा काम है - बजाय इसके तू हज को जाय और रास्ते की हर मंजिल पर एक-एक हजार आयतें पढ़ता जाय।

— सादी

मैंने अमर जीवन और प्रेम को वास्तविक पाया और यह कि अगर मनुष्य निरन्तर सुखी बना रहना चाहता है तो उसे परोपकार के लिये ही जीवित रहना चाहिये। किसी बच्चे को खतरे से बचा लेने पर हमें कितना आनन्द आता है। परोपकार इसी अनिवर्चनीय आनन्द प्राप्ति के लिये किया जाता है। परोपकार करने की एक खुशी से सारी खुशियाँ छोटी हैं।

—हरबर्ट

परोपकारी लोग हमेशा प्रसन्नचित रहते है।

—फादर टेलर

वह वृथा नहीं जीता जो अपना धन, अपना मन, तन, अपना वचन दूसरों की भलाई में लगाता है।

—हिन्दू सिद्धान्त

सन्तलोग परोपकार करते हैं प्रत्युपकार की आशा नहीं रखते। परोपकारी अपने कष्ट को नहीं देखता, क्यों कि वह परदुःख-जनित करुणा से ओतप्रोत होता है।

—तुकाराम

अपने हित के लिये दूसरों का हित करना जरूरी है।

—श्री ब्रह्म चैतन्य

अगर आदमी परोपकारी नहीं है तो उसमें और दीवार पर खींचे हुये चित्र में क्या फर्क है।

—सादी

आज परोपकार की भावना लुप्त सी होती जा रही है। लोगों ने अपने स्वार्थ को ही इतनी प्रधानता दे दी है कि दूसरे के नुकसान की बात वह सोचते ही नहीं। यह स्थिति धर्म और अध्यात्म प्रधान भारत के लिये बहुत ही सोचनीय और लज्जाजनक है। इसलिये परोपकारी भावना को पुनर्जीवित व जागृत करना अत्यन्त आवश्यक है।

तत्वार्थसूत्र में कहा गया है 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' अर्थात परस्पर के सहयोग और मेल से ही जीवन आगे बढ़ता है। बालक से लेकर वृद्ध तक सभी दूसरों के उपकार से लाभान्वित होते हैं। तो हम सब का लेते ही हैं तो देते भी रहना चाहिए परोपकार के समान मानव के लिए कोई धर्म नहीं है दूसरों की सेवा के लिये सदा तैयार रहिये सेवा परम धर्म है।

…रहित सरिस
…र्म नहिं भाई

वास्तव में आज पाखण्ड का युग आ गया है। धर्म की ठेकेदारी पनपती जा रही है। सच्चा धर्म क्या है, यह हम भूलते जा रहे हैं। इसीलिये महाकवि तुलसी ने रामायण में स्पष्ट किया।

—विनोद सोमानी 'हंस'

संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित महाकवि माघ उदारवृति के मूर्ति थे।
एक बार उनकी जन्म भूमि में भयंकर अकाल पड़ा। चारों ओर त्राहि-
त्राहि मच गई। महाकवि अपना सब कुछ लोगों में बांट चुके थे। माघ
निर्धन हो गये। माघ अपनी पत्नी को लेकर वहां से चल पड़े। राजा
भोज के राज्य में पहुँचे। अपना महाकाव्य देकर उन्होंने अपनी पत्नी
को राज दरबार में भेजा। राजा अत्यधिक प्रभावित हुआ। उन्होंने
एक लाख स्वर्ण मुद्रा में पुरस्कार के रूप में दीं।

महाकवि की पत्नी जब राजप्रासाद छोड़कर बाहर निकली तो
देखा कि यहां भी अकाल की छाया मंडरा रही है। जनता भूख से
तड़प रही है। उसका हृदय भर आया। पति के महान आदर्श उसके
सामने तैरने लगे। उसने सोचा कि जब सारा जन-मानस ही त्रस्त है
तो वह इस बिना कमाये धन का क्या करेगी। ऐसे कुसमय में धन
संग्रह करना तो महा पाप है। और वह धन को बांटने लगी। जो भी
अभाव से पीड़ित मिला. उसे उसने खुलकर सहायता दी।

महाकवि की पत्नी गई थी महाकाव्य लेकर परन्तु लौटी खाली
हाथ। सारा वृतान्त सुना तो महाकवि गद्गद् हो गये और रोने लगे।

जो पुण्य उत्पन्न होता है वह सैकड़ों यज्ञों से भी उत्पन्न नहीं होता इस लिये धन से व प्राणों से परोपकार किया जाना चाहिये।

परोपकारः कर्तव्यः, प्राणैरपि धनैरपि।
परोपकारणं पुण्य, न स्यात् क्रतुशतैपरि॥

जिनके हृदय में परोपकार की भावना सदा जागृत रहती है, उनकी आपदाएँ नष्ट हो जाती है। और पग पग पर सम्पत्ति मिलती रहती है।

परोपकारणं येषां, जागर्ति हृदये सत्तम्।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदेपदे॥

क्षेमेन्द्र कवि ने तो यहाँ तक भी कहा, है कि सब गुणों से परोपकार ही महान् गुण है। उसके जैसा पुण्य का कोईभी कार्य दिखाई नहीं देता—

शीलं शीलयतं गुणं गणयतां धर्मे सद्भावमभ्यस्यतां,
व्याजं वर्जयतां गुणगणयतां धर्मे धियं हनताम्।
शान्ति चितयतां तमः शमयतां तत्वश्रुति श्रुवताम्॥
संसारे न परोपकारसदृसं पश्यामि पुण्यं सताम्॥

जैसा कि पहले कहा गया है कि वास्तव में परोपकार करके उपकार तो स्वयं का ही होता है। क्यों कि दुःख और सुख जैसा हम दूसरों को देते हैं वैसा ही हमें सुख-दुःख (उसी के परिणाम स्वरूप) प्राप्त होता है। 'दक्ष-स्मृति' में यही बात कही गयी है—

सुखं वा यदि वा दुखं यत्किंचित् क्रियते परे।
यत्कृतं च पुनः पश्चात्, सर्वमात्मनि तद्भवेत्॥

तुलसी-रामायण में भी कहा गया है कि परहित के समान कोई धर्म नहीं है। परोपकार के सम्बन्ध में अन्य अनुभवी सत् पुरुषों के वचन नीचे उद्धृत किये जारहे हैं।

अगर तू किसी एक आदमी की भी तकलीफ दूर करे तो यह ज्यादा अच्छा काम है - बजाय इसके तू हज्ज को जाय और रास्ते की हर मंजिल पर एक-एक हजार आयतें पढ़ता जाय।

— सादी

मैंने अमर जीवन और प्रेम को वास्तविक पाया और यह कि अगर मनुष्य निरन्तर सुखी बना रहना चाहता है तो उसे परोपकार के लिये ही जीवित रहना चाहिये। किसी बच्चे को खतरे से बचा लेने पर हमें कितना आनन्द आता है। परोपकार इसी अनिवर्चनीय आनन्द प्राप्ति के लिये किया जाता है। परोपकार करने की एक खुशी से सारी खुशियाँ छोटी हैं।

—हरबर्ट

परोपकारी लोग हमेशा प्रसन्नचित रहते हैं।

—फादर टेलर

वह वृथा नहीं जीता जो अपना धन, अपना मन, तन, अपना वचन दूसरों की भलाई में लगाता है। —हिन्दू सिद्धान्त

सन्तलोग परोपकार करते है प्रत्युपकार की आशा नहीं रखते। परोपकारी अपने कष्ट को नहीं देखता, क्यों कि वह परदुःख-जनित करुणा से ओतप्रोत होता है। —तुकाराम

अपने हित के लिये दूसरों का हित करना जरूरी है। —श्री ब्रह्म चैतन्य

अगर आदमी परोपकारी नहीं है तो उसमें और दीवार पर खींचे हुये चित्र में क्या फर्क है।

—सादी

आज परोपकार की भावना लुप्त सी होती जा रही है। लोगों ने अपने स्वार्थ को ही इतनी प्रधानता दे दी है कि दूसरे के नुकसान की बात वह सोचते ही नहीं। यह स्थिति धर्म और अध्यात्म प्रधान भारत के लिये बहुत ही सोचनीय और लज्जाजनक है। इसलिये परोपकारी भावना को पुनर्जीवित व जागृत करना अत्यन्त आवश्यक है।

तत्वार्थसूत्र में कहा गया है 'परस्परोग्रहो जीवानाम्' अर्थात परस्पर के सहयोग और मेल से ही जीवन आगे बढ़ता है। बालक से लेकर वृद्ध तक सभी दूसरों के उपकार से लाभान्वित होते हैं। तो हम सब का लेते ही हैं तो देते भी रहना चाहिए परोपकार के समान मानव के लिए कोई धर्म नही है दूसरों की सेवा के लिये सदा तैयार रहिये सेवा परम धर्म है।

● धार्मिक-विवेचन

परहित सरिस धर्म नहिं भाई

वास्तव में आज पाखण्ड का युग आ गया है। धर्म की ठेकेदारी पनपती जा रही है। सच्चा धर्म क्या है, यह हम भूलते जा रहे हैं। इसीलिये महाकवि तुलसी ने रामायण में स्पष्ट किया।

—विनोद सोमानी 'हंस'

संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित महाकवि माघ उदारवृत्ति के मूर्ति थे। एक बार उनकी जन्म भूमि में भयंकर अकाल पड़ा। चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गई। महाकवि अपना सब कुछ लोगों में बांट चुके थे। माघ निर्धन हो गये। माघ अपनी पत्नी को लेकर वहाँ से चल पड़े। राजा भोज के राज्य में पहुँचे। अपना महाकाव्य देकर उन्होंने अपनी पत्नी को राज दरबार में भेजा। राजा अत्यधिक प्रभावित हुआ। उन्होंने एक लाख स्वर्ण मुद्रा में पुरस्कार के रूप में दीं।

महाकवि की पत्नी जब राजप्रासाद छोड़कर बाहर निकलीं तो देखा कि यहां भी अकाल की छाया मंडरा रही है। जनता भूख से तड़प रही है। उसका हृदय भर आया। पति के महान आदर्श उसके सामने तैरने लगे। उसने सोचा कि जब सारा जन-मानस ही त्रस्त है तो वह इस बिना कमाये धन का क्या करेगी। ऐसे कुसमय में धन संग्रह करना तो महा पाप है। और वह धन को बांटने लगी। जो भी अभाव से पीड़ित मिला, उसे उसने खुलकर सहायता दी।

महाकवि की पत्नी गई थी महाकाव्य लेकर परन्तु लौटीं खाली हाथ। सारा वृतान्त सुना तो महाकवि गद्गद् हो गये और रोने लगे।

ऐसे अनेक महापुरुष इस धरा पर अवतरित होते रहे है और आज भी है। लोक-कल्याण के लिये उत्सर्ग करने वाले भारत के लिये अजाने नहीं हैं। धर्म क्या है? प्रकाण्ड पंडित होकर अपने पांडित्य की छाप छोड़ना और उससे धन अर्जन करना क्या धर्म है? स्वयं क्रिया-काण्ड में लगे रहना और अन्तर्मुखी होकर जीना क्या धर्म है? दिन भर रामायण पाठ करना, गीता के उपदेश सुनना, माला हाथ में लेकर फिराते रहना क्या धर्म है? यदि यह धर्म है तो फिर महाकवि माघ, राजा रंतिदेव, शिवि आदि लोगों का त्याग क्या धर्म नहीं था?

वास्तव में आज पाखण्ड का युग आ गया है। धर्म की ठेकेदारी पनपती जा रही है। सच्चा धर्म क्या है, यह हम भूलते जा रहे हैं। इसीलिये महाकवि तुलसी ने रामायण में स्पष्ट किया—

पर हित सरिस धर्म नहीं भाई!
पर पीड़ा सम नहि अधमाई॥

जो हृदय पराया दुःख देखकर नहीं पिघला वह हृदय क्या धर्म का ढोंग कर सकता है। ऐसा नहीं है। मानव धर्म को सदा ही हमारे सच्चे धर्माचार्यों ने श्रेष्ठ बताया है। दान, पुण्य और सहायता ये

इसी के प्रतीक है।

महाराजा गंगासिंहकी सवारी गंगानगर जा रही थी। मार्ग में वे विश्राम कर रहे थे। चारों ओर कड़ा पहरा था। कोई भी विश्राम में वाधा नहीं डाल सकता था। तभी एक व्यक्ति के रोने की आवाज आई। महाराजाने तत्काल उस व्यक्ति को हाजिर करने का हुक्म दिया।

वह एक गरीब चमार था। कोई दुष्ट उसकी पत्नी को छीन ले गया था और सरकारी अफसर सहायता नहीं कर रहे थे। महाराजा ने तत्काल खोजकर लाने का हुक्म दिया। एक ही घण्टे में अपराधी गिरफ्तार कर लिया गया और पत्नी को पुनः सौंप दिया गया। उस गरीब की प्रसन्नता का मापदण्ड क्या धर्म की कोटि में नहीं आता? आज भौतिक युग में हमने त्याग, तपस्या, वलिदान आदि तत्व छोड़ दिये केवल पाखंड का वरण कर लिया। मन्दिर जाना लम्बे तिलक लगाना और यह बताना कि हम धार्मिक हैं—आज फैशन बन गया है। परन्तु, ऐसे वातावरण में भी महान आत्मायें अपना कार्य करती हैं।

श्री चन्द्रशेखरजी श्रोत्रिय सन
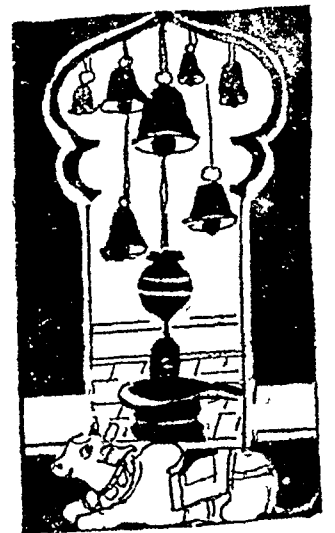
श्रीपंचदेव-मन्दिर : झुन्झुनूँ

१९५२-५३ में रायपुर (भीलवाड़ा) मे प्रधानाध्यापक थे। आपके प्रयत्नों से हाई-स्कूल बनाने के आदेश मिल गये। इसके पीछे आपके श्रमका लम्बा इतिहास है। भवन के लिये धन-संग्रह, निर्माण व अन्य कार्य तन, मन, धन, का समर्पण था। छात्र भी भारी संख्या में प्रविष्ठ हो गये। परन्तु, कुछ दिनो के बाद हाई स्कूल की स्वीकृति अस्वीकृति में बदल गई। छात्रों का भविष्य अन्धकार में पड़ गया। सारी व्यवस्था ठप्प हो गई। गरीब छात्र बड़े शहरों में जाकर पढ़ने में असमर्थ थे।

ऐसे विकट समय में श्री श्रोत्रियजी ने सारा बीड़ा स्वयं उठा लिया। सारे छात्रोंको आपने कहा कि मैं आपको दो वर्ष (कक्षा ९-१०) तक पढ़ाऊंगा और इसी भवन में आप हाई स्कूल उत्तीर्ण करेंगे। आपने प्रधानाध्यापक के गुरुत्तर भार के अतिरिक्त कक्षा ९ का दो वर्षों तक अनवरत् पढ़ाया। सारे विषयोंके धनी श्री श्रोत्रियजी ने सर्वस्य देकर इन सारे छात्रों को प्राइवेट हाई स्कूल की परीक्षा में बैठाया। रिजल्ट इतना शानदार रहा कि सारा क्षेत्र चकित रह गया।

इस महान त्याग के बदले उन्होंने क्या लिया। परन्तु, उन लोगों की दुआएं, श्रद्धा और सम्मान क्या कोई छीन सकता है। क्या यह मानव धर्म नहीं है?

जीवन में सही तथ्य यह है कि आप लोगों के लिये क्या कर सकते हैं? कभी आत्म-नीरिक्षण करें कि हमने किसका बिना स्वार्थ
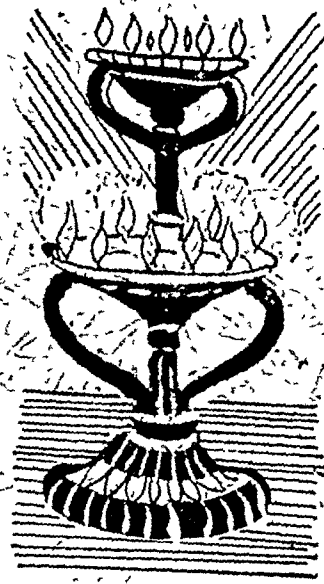
हित किया है। सौदे बाजी में भलाई करने वाले तो लाखों मिल जायेंगे। बिना किसी वांछना के कौन किसके हित पर न्यौछावर होता है।

संत एकनाथ जी गंगाजल रामेश्वरं पर चढ़ाने के पूर्व ही प्यासे गधे को पिलाने लग गये। साथी संत बड़े रुष्ट हुए, यह क्या किया! पावन जल गधे को पिला दिया परन्तु यह तो एकनाथजी ही जानते थे कि सच्चा रामेश्वरम् कहाँ है? गधा प्यासा मरता रहे और आप रामेश्वरम् पर पानी वर्षा कर पुण्य की सोचें। यह सब हमारा ढोंग नहीं तो क्या है?

महाकवि निराला की उदार-वृति किससे छिपी है। जो किसी ने भेंट किया वही सड़क पर गरीबों को बांट देते थे। खुद फिर भूखे के भूखे। स्वय के लिये जीना और गैरों के लिये जीना यह अन्तर बतलाता है। अपने लिये कुत्ता भी जीता है परन्तु, वह भी मालिक का उपकार नहीं भूलता।

निःसन्देह, आज परहित की अधिक आवश्यकता है। हर धर्म चिल्ला रहा है कि संग्रह मत करो, दूसरों का भला करो, दान करो, पुण्य कमाओ, सत्य बोलो, मितव्ययी बनो। परन्तु, हम हैं जो इन सब उपदेशों को ताकपर रखे हैं और उल्ट मार्ग पर जा रहे हैं। कोई धर्म हमें गुमराह नहीं करता। हम स्वयं अपने अर्थ खोजते हैं।

[illegible] की [illegible] इसे व्यवस्था से [illegible] था। इसने सर्वस्व [illegible] को [illegible] डाला। नहीं तो कोई प्रेरणा काम कर रही थी। आज भी बाढ़-पीड़ितों [illegible] अनेक लोग आगे [illegible] हैं। अकाल में अन्न और वस्त्र बांटने वाले सामने आते हैं। यह सब क्या है? मानव-मानव का नाता टूट नहीं सकता। यह तो चिरन्तन काल से चल रहा है। पर दिन एक [illegible] है। आप स्वयं में [illegible] नहीं सकते, दूसरों के हित में सोचना ही होगा। सोचिये, आपको कोई सहयोग न दे तो [illegible] सिद्धि हो। आप [illegible] सकेंगे क्या? नहीं, [illegible] है।

सेठ [illegible] की [illegible] [illegible]

फकीर उधर से गुजरा। सेठ सा० को देखते ही गालियाँ बकने लगा और पत्थर फेंकने लगा। पास में ठाकुर सा० व अन्य लोग भी बैठे थे। वे लोग लाठी लेकर उसे भगाने लगे। परन्तु, सेठजी ने उनको रोक कर कहा—"अभी
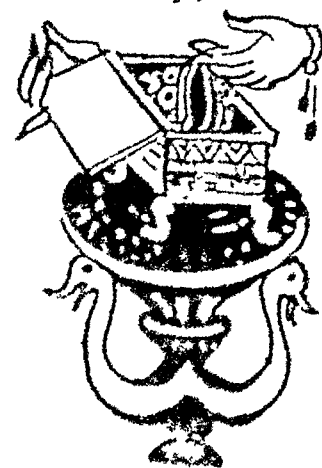
यह व्यक्ति भूखा है। भूखा व्यक्ति विवेक खो देता है। यह रोटी चाहता है। पहले रोटी दो फिर बात करेंगे।"

फिर उससे पूछा गया तो उसने बताया कि वह कई दिनों का भूखा था। वह तृप्त होकर सेठजी के गुणगान गाता चला गया। गालियां आशीर्वाद में बदल गई।

जीवन में ये छोटी-छोटी बातें बड़ा महत्व रखती हैं। महानता कोई बड़ी बात करने में नहीं है। ये छोटी घटनायें जुड़कर मनुष्य की महानता में जुड़ती हैं। आप यह न सोचें कि ऐसे कार्यों से आपको यश नहीं मिल रहा है। यश की भूख है तो आप सत्कार्य नहीं कर सकेंगे। मन्दिर बनवाने के पूर्व आप सीढ़ी पर अपना नाम खोदने की बात सोचने लगते हैं। यह परहित में नहीं है। स्वहित में हो सकता है। स्वहित में श्रद्धा, आदर व सम्मान नहीं है। पैसा मिल सकता है पर अभिनन्दन नहीं मिलेगा।

आइये! हम आज भौतिक युग में कुछ परहित की बात सोचें। विश्व कल्याण का सपना तभी पूर्ण हो सकेगा।

[illegible]

● गीता

हम भगवान के यंत्र बनें

इस यज्ञ के बलि पशु होंगे स्वयं हमलोग, हमारा जीवन हमारी सम्पत्ति, हमारी आशायें, हमारी महत्वाकांक्षायें और सब कुछ जो कि हमारा व्यक्तिगत है और भगवान् का नहीं है, वह सारा दृष्टिकोण जो हमारी निजी सेवा में समर्पित है और देश की सेवा से हटा लिया गया है।
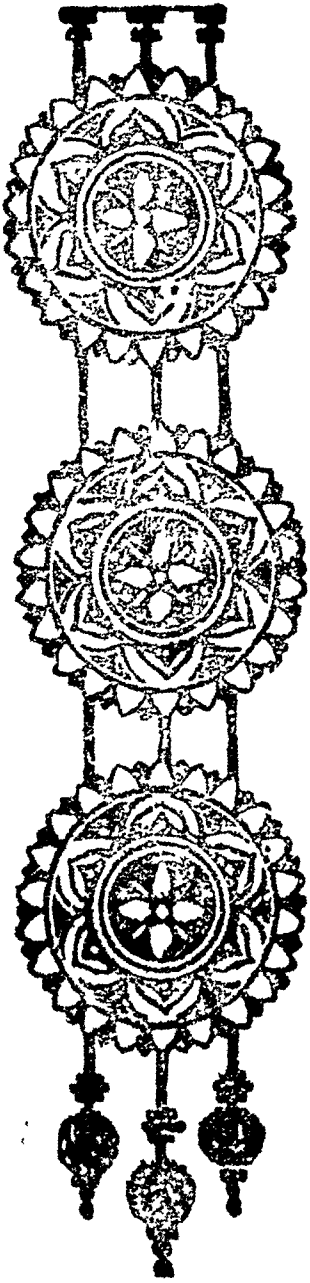
विद्यावती 'कोकिल' : पाण्डिचेरी

जो कुछ पुराना पड़कर सड़ गल गया है उसे स्वयं भगवान ने ही नष्ट कर दिया है, तो फिर उसे नष्ट होना ही है। हम केवल उसके यन्त्र मात्र हैं। आज का नवयुवक जो सबसे अधिक सच्चाई के साथ यह महसूस करता है कि पुराने धर्मों या आदर्शों का स्वरूप सड़ गल गया है उन्हें तोड़ कर सारी मानवता के लिये एक उन्नत व विशाल आदर्श की स्थापना करनी है, वह सबसे अधिक भगवान के संकल्प के निकट है। पर जब वह इस संकल्प के साथ अपने अहंकार, कर्त्ता के अहम् भाव व व्यक्तिगत अधिकार आदि की तुच्छ भावनाओं को जोड़ देता है तब वह यंत्र धुँधला, मैला व कलुषित बनकर उल्टा काम करने लगता है।

कुरुक्षेत्र की लड़ाई में भगवान पर अधिकार समझ कर कौरवों ने जब बड़ी चालाकी से उनसे सहायता की प्रार्थना की थी तो कौरवों की इस ऊपरी अभीप्सा के अनुसार भगवान ने उन्हें अपनी सेना अर्पित करने का वचन दिया। इतना ही नहीं उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की कि मैं युद्ध में स्वयं भाग नहीं लूंगा। इस बात से घमण्डी दुर्योधन इतना प्रसन्न हुआ कि वह फूले नहीं समाता था। वह समझने लगा कि अब जीत निश्चय ही मेरी है।

भगवान ने जिसे अपनी सेना का सारा बल समर्पित कर दिया हो और स्वय युद्ध न करने की प्रतिज्ञा भी की हो तो फिर उसे क्या चाहिये। अहंकार से मदमत व्यक्ति की यही दशा होता है। वह भगवान को भूलकर सांसारिक अभाप्साओं मे लग जाता है, जिनमें से भगवान ने अपना बल पहले ही निकाल लिया होता है। भगवान का दिव्य कौशल हम नहीं समझ पाते, हम यह नहीं जानते कि सृष्टि का अपना एक लक्ष्य है। यह सारी विकास की क्रिया एक उन्नत लक्ष्य की ओर बढ़ी जा रही है। जो उसे देख सकते है वही भाग्यशाली है, वे भगवान के सकल्प के साथ हैं, और उन्हीं के साथ है उनका सहायता। उनकी विजय अन्त मे होती ही है। वे जानते है सत्य की विजय के लिये भगवान कुछ भी बलिदान चढ़ा सकते हैं। पाण्डवो से भगवानने यही आशा की थी। युद्ध की भयंकर स्थिति को देखते हुए भी अर्जुन ने केवल भगवान को ही चुना था। चाहे वह केवल सारथि रूप में ही क्यों न हो। अर्जुन के उच्च सात्विक मन में भी जब माया उत्पन्न हो गई, तब भी इस आशा से कि उसमें ठीक यंत्र बनने की सामर्थ्य है उसे भगवान ने रणक्षेत्र में खड़े होकर ही उपदेश दिया। वह उपदेश जिसने उस समय के ऊंचे से ऊंचे आदर्शों को जिन्होंने शका और निराशा को जन्म दिया था ढहा दिया। यह तामसिक, राजसिक और सात्विक ढहे आदर्श ही थे। जिन्होने कौरवों की सेनाओं का रूप धारण किया था जो पहले ही

मृत पडी थीं, जिन्हें भगवान अपनी चेतना में नष्ट कर चुके थे। अर्जुन को तो केवल उनके नाश का एक साहसिक माध्यम भर बनना था, पर यह तभी सम्भव था जब अर्जुन उन वर्तमान आदर्शों के ऊपर उठकर त्रिगुणातीत होकर कर्म करे, अर्थात केवल सत्य की विजय के लिये यह आदेश था, जिससे लोक परलोक दोनो की रक्षा हो सकती थी। केवल इसी तरह सत्य की प्रतिष्ठा सम्भव थी।

त्रैगुण्य विषया वेदा
निस्त्रैगुण्यो भवार्जुनः।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो
निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

आज का सकट छोटे-मोटे आदर्शों का संकट नहीं है। यह सृष्टि के विकास के गतिरोध से उपजा सकट है, आज इस विकास को एक व्यापक सत्य की अपेक्षा है। जिसके लिये जान-बूझ कर उन पुराने सत्यों को जिनके द्वारा विकास हो चुका है और यह बेकार हो चुके हैं भगवान ने उन्हें नष्ट कर दिया है। एक नया व एक विशाल सत्य जन्म लेना चाहता है इसलिये सत्य के सामने और इस नई सृष्टि के निर्माण के लिए भगवान एक क्षण मे सब कुछ भस्मीभूत कर सकते है। क्यो कि उसी भस्म से वे फिर एक नवीन सृष्टि कर लेते हैं।

१ अब भारत को ऐसे ही कुछ नवयुवक अपेक्षित हैं जो अपने नाम कीर्ति और पार्टी के अहं के लिये नहीं अपितु केवल इस भारत देशके लिये जो एक आध्यात्मिक शक्ति का प्रतीक है, सब कुछ

अर्पित कर सके। जिनकी निष्ठा इतनी गहरी हो कि वे बाहर से किसी पुरस्कार की अपेक्षा न करते हों। कोई ऐश-आराम और भोग-विलास का जीवन न चाहते हों। केवल भरण—पोषण के लिये कुछ प्राप्त करके मेहनत से कार्य करके, बाकी सारा समय देश की दशा सुधारने में लगायें।

२—वे जो देश में समानता भ्रातृभाव और स्वतन्त्रता को प्रश्रय देना चाहते है। ये नवयुवक जो लोभ और किसी भी तरह की चोरी और भ्रष्टाचार को मिटाकर देश की आर्थिक स्थिति को सामान्य करना चाहते हैं ये भले हो इने गिने हों पर इन्हें सबसे पहले यह चाहिये कि ये अपने माता पिता से कहें कि आप हमें पढ़ा लिखा कर योग्य बना दें, फिर आप हमारे भविष्य की चिन्ता मे धन न बटोरें, कोठियाँ न बनवायें, जायदादें न खरीदें, हम अपना भविष्य सच्चाई पर खड़े होकर खुद बनायेंगे, इससे सच्चे प्रेम की नींव पड़ेगी। देशकी परिस्थिति के हिसाव से आवश्यकता हो तो भीष्म की तरह आजन्म अविवाहित रहने की भी प्रतिज्ञा करें, आवश्यकता पड़े तो विवाहित होकर दोनों भारत मां की सेवा में अर्पित होकर सन्तान न पैदा करने की भी प्रतिज्ञा करें या आवश्यतानुसार एक ही सन्तान उत्पन्न करने की प्रतिज्ञा करें आदि……

३—हमारे सामने एक बेहिसाव क्रान्ति अपना मुंह बाये खडी है। इसके लिये हमें बेहिसाब आत्म बलिदान करने के लिये तैयार देश पर मर मिट जाने वाले युवकों व
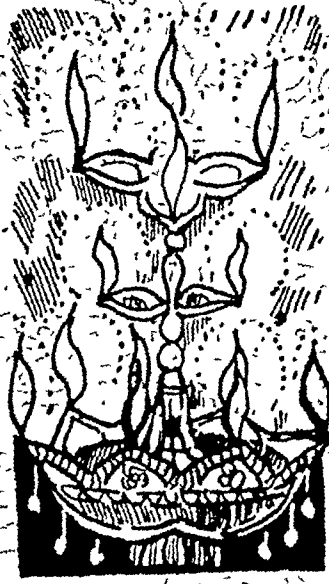
युवतियों की आवश्यकता है। आज एक ऐसे यज्ञ की प्रतिष्ठा करनी है जिसके सामने पिछले सारे यज्ञ के बलिदान तुच्छ मालुम होने लगेंगे।

इस यज्ञ के बलि पशु होंगे स्वयं हमलोग, हमारा जीवन, हमारी सम्पत्ति, हमारी आशायें, हमारी महत्वाकांक्षायें और वह सब कुछ जो कि हमारा व्यक्तिगत है और भगवान का नहीं है, वह सारा दृष्टिकोण जो हमारी निजी सेवा में समर्पित है और देश की सेवा से हटा लिया गया है। इस यज्ञेश्वर के संतुष्ट होने से पूर्व सभी स्वार्थ पोषी बड़े-बड़े व्यक्ति को बलि चढ़ जाना होगा जो अपने गौरव और भौतिक सुख सुविधा के लिये भयातुर हैं। उसके लिये यही अच्छा है कि वह इस यज्ञ से दूर खड़ा रहे। क्योंकि न जाने कब उसे यज्ञ की बलिवेदी पर चढ़ने का आह्वान आ जाये।

जो प्रसन्नता से अपना सब कुछ समर्पण करके देवता को सन्तुष्ट करगे। वे ही देश का नव निर्माण करेंगे और हजार कष्ट उठा कर भी देश को फिर उस समृद्धि के शिखर पर ले जायेंगे जिसकी बाट सारा संसार देख रहा है। वे भगवान के संकल्प को पूर्ण करेंगे और भारत को जगत-गुरु की पदवी पर फिर से उठा ले जायेंगे। उनके द्वारा भगवान स्वयं ही कार्य करेंगे।

अपने 'अहं' को

—राधाशरण मिश्र : चिड़ावा

आज तुम मेरे 'अहं', पतझड़ बने क्यों आ रहे हो
स्वर्ण-स्पनो के कमल पर तुहिन से क्यों छा रहे हो

॥ १ ॥

है सुहाता क्यो न तुमको इस हृदय का स्नह बंधन,
तुम बसाओ और दुनियां, मत ऊजाडो मधुर नंदन,
मद तुम्हारा बिष भरा है, तुम इसे थोड़ा उतारो,
अवनि को इस प्राणघाती संक्रमण से तुम उबारो,
महकते मधुमास पर अब क्यो कहर सा ढा रहे हो।

॥ २ ॥

आज तक इन्सान को इन्सान मैंने है न माना,
किन्तु अब इन्सान में भगवान का ही रूप जाना,
मैं तुम्हें निज साथ रखकर पथ न हितकर चुन सकूँ
लौट जाओ तुम इसी क्षण, मैं न अबकुछ सुन सकूँगा
बन्द हैं सब द्वार फिरभी क्यो मचलते आ रहे हो।

॥ ३ ॥

पा लिया मैंने उसे अब, प्राप्त करना जो मुझे था,
बढ़ चुका हूँ मैं उधर ही, जिधर भी चलना मुझे था,
अब न भटकूँगा इधर से उधर भूला सा भ्रमा सा,
क्यों समझते हो मुझे तुम विरसता में ही रमा सा,
जिन्दगी के मधुर स्वर में बेसुरा क्यों गा रहे हो।

—

● एक ऐतिहासिक कहानी

शक्ति एक श्लोक की

अंत में राजा ने धर्म-सम्मत प्रायश्चित करने का दृढ़ संकल्प कर पंडितों को दरबार में बुलाया और कहा कि उसने पुत्र घात किया है अतः प्रायश्चित स्वरूप उसे क्या करना चाहिये ?

पुरुषोत्तम छंगाणी
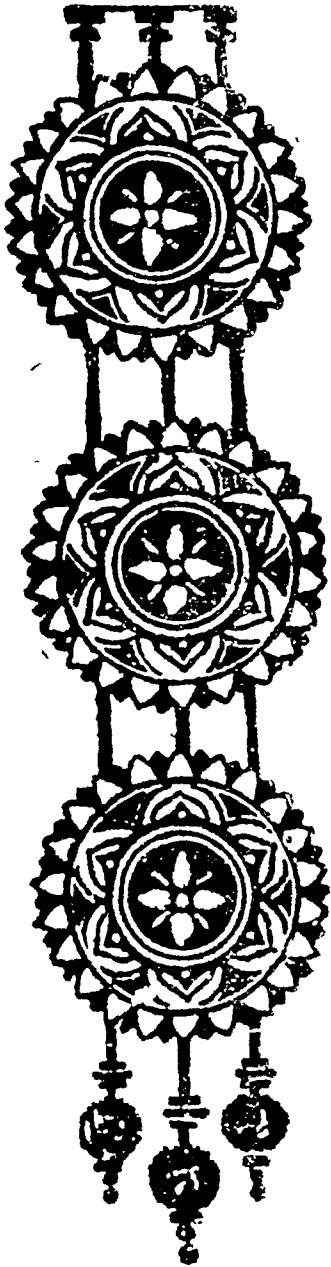
राजा मुंज के हाथ में एक बड़ा-सा भोज पत्र था—, जिस पर रक्त से एक श्लोक लिखा था :

' मान्धाता च महीपतिः कृतयुगे अलंकार भूतोगतः ।
सेतु येन मह‍ दधौ विरचितः कासौ दशास्यन्तकः ॥
अन्ये चापि युद्धिष्ठिर प्रभुतयो याता दिवं भूपते ।
नैक नापि समंगता वसुमति मुञ्ज त्वया यास्यति "॥

राजा ने जब राज-पुरोहित से इसका अर्थ पूछा तो उसने कहा था—"सतयुग में सृष्टि का शृंगार स्वरूप महीपति मान्धाता भी यह लोक छोड़कर परलोक में पहुंच गया। सागर पर सेतु बाँधने वाला तथा दशानन रावण का संहार करने वाला राम आज कहाँ है ? युद्धिष्ठिर आदि अन्यान्य नृपति पृथ्वीपति कहलाते थे, परन्तु इन में से किसी के साथ भी पृथ्वी गयी नहीं। उन्हें खाली हाथ संसार से जाना पड़ा और पृथ्वी यहीं की यहीं पड़ी रही। अतः हे राजा मुंज ! क्या तूँ यह समझता है कि यह पृथ्वी तुम्हारे साथ चलेगी ? शायद तुम यही मानते हो अन्यथा इस भय से कि मैं तुम्हारा राज्य छीन लूँगा तुम मुझे मरवाने नहीं भेजते।"

भोज पत्र पर लिखा यह रक्त सन्देश राजकुमार भोज ने जल्लाद के हाथ अपने चाचा राजा मुंज के पास भेजा था। जल्लाद वत्सराज उसे मारने के लिए जंगल में ले गया था। भोज ने वहीं अपने रक्त

से यह सन्देश लिखा था और वत्सराज से राजा मुंज तक पहुंचाने का निवेदन किया था। वत्सराज द्वारा दिया गया भोज-पत्र ही राजा के हाथ में था।

राजा मुंज जैसे-जैसे उस श्लोक को पढ़ते जाते, उनके चेहरे का रंग भी बदलता जाता। दुःख और चिंता की काली रेखाएं उसके चेहरे पर स्पष्ट उभरने लगीं। श्लोक-वाचन पूरा होते होते राजा के हाथ कांपने लगे। आँखों से अश्रु-धारा बह निकली। एक गहरी निश्वास छोड़ वह पलंग पर गिर पड़ा और मूर्छित हो गया। महाराणी भानुमति ने शीतल जल के छींटे दे राजा को सचेत किया।

राजा मुंज का हृदय ग्लानि से भर गया था। उसे अपने किये पर बड़ा पश्चात्ताप होने लगा। उसे रह-रह कर राजकुमार भोज का दिव्य चेहरा याद आने लगा। वह सोचने लगा—"अरे मैं कितना पापी हूं। मैंने उसकी बिना अपराध हत्या करवायी। फिर भी भोज कितना विनम्र है। अपने अन्तिम सन्देश में मेरे कृत्य के प्रति कोई कटुता नहीं दर्शायी। मृत्यु का वरण करते वक्त भी मुझ जैसे मोहान्ध को एक अनमोल सीख दे गया।" उस समय राजा मुंज को भोज एक परमज्ञानी संत सदृश लगा, एक ऐसा संत जो सांसारिक ऐश्वर्य से निर्लिप्त हो मोक्ष का संदेश देता है। विचारों में डूबे राजा की पीड़ा हर पल अधिक दुःखदायी होने लगी थी, जो सबकी चिंता का विषय हो गया था। राजा का अन्न-जल भी छूट गया था।

अंत में राजा ने धर्म-सम्मत प्रायश्चित करने का दृढ़ संकल्प कर पंडितों को दरबार में बुलाया और कहा कि उसने पुत्रघात किया है अतः प्रायश्चित स्वरूप उसे क्या करना चाहिये? पंडितों ने बताया कि इस कुकृत्य के प्रायश्चित के लिए शास्त्रों में अग्नि-दाह का विधान दर्शाया गया है। राजा ने तत्क्षण ही अग्नि-दाह का मुहूर्त निकलवा तिथि निश्चित की और सारी प्रजा को अवगत कराने का आदेश दिया।

वत्सराज, जिसे राजा मुंज ने राजकुमार भोज को मारने का कार्य सौंपा था, कोई जल्लाद नहीं था। वह राजा का एक विश्वासी सामंत था। जब उसने राजा की प्रतिज्ञा के बारे में सुना था तो बड़ा चिंतित हुआ, क्योंकि वह ही सिर्फ जानता था कि राजा जिस अपराध को अपने तन-मन में लपेटे हुए हैं, वह असत्य है। राजकुमार भोज जिन्दा था और वत्सराज की हवेली में सुरक्षित था। रहस्य को कैसे प्रकट करे—उसे कुछ सूझता नहीं था। अन्त में वह राज्य के भूतपूर्व प्रधान मंत्री बुद्धि सागर के पास गया और सारा वृतान्त कह सुनाया। वत्सराज ने कहा—"भोज के पिता सिन्धुल की हत्या करने के उपरान्त मुंज चाहता था कि भोज रूपी काँटा भी निकाल फेंक दिया जाय तो राज्य का उत्तराधिकारी उसका पुत्र जयन्त हो जायेगा। परन्तु प्रजा एवं सामन्तों के विद्रोह के भय से वह अपनी इच्छा पूरी करने से कतराता था। परन्तु एकदिन दरबार में आये किसी ज्योतिषि ने बालक भोज का हाथ देखकर कह दिया कि यह बालक समूचे दक्षिण प्रदेश पर राज्य करेगा। राजा मुंज उस दिन से भोज के प्रति अधिक ईर्ष्यालु

हो गया। उसने भोज की हत्या करने का पूर्ण निश्चय कर लिया और यह कार्य मुझे सौंप दिया।"

'तुमने राजा को इस नराधम कृत्य से कलंकित होने से नहीं रोका।"—बुद्धिसागर ने विस्मय से पूछा।

"मैंने भरसक प्रयत्न किया था, परंतु राजाज्ञा का कहाँ तक विरोध कर सकता। मैंने बेमन से राजाज्ञा का पालन किया और हरसिद्ध माता के दर्शन के बहाने भोज को जंगल में ले गया। जब मैंने उसे राजाज्ञा की जानकारी दी, तो उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। चेहरे पर वही सौम्यता निश्छलता एवं मुस्कान थी। उसने सिर्फ इतना ही कहा कि ईश्वर की जो इच्छा होगी, वही होगा ऐसा कह कर उसने कटारी से अपने हाथ में चीरा लगाया और लोही से भोज-पत्र पर श्लोक लिख दिया। फिर राजा तक पहुंचाने हेतु मुझे सौंप कर मारने को कहा।" वत्सराज छलछला आयी अपनी आँखों को हथेलियों से पूँछने लगा।

"फिर"- वृद्ध बुद्धिसागर भी भावों में डूबने लगा था। वत्सराज कुछ संयत हो बोलने लगा—"मेरी तलवार उस सुकुमार बालक पर कैसे उठ सकती थी? धर्म की तेजस्विता से दीप्त चेहरे को धड़ से कैसे अलग कर सकता था? मैंने न मारने का निश्चय कर उसे लाकर अपने घर में छुपा दिया।"

"पर राजा को कैसे आश्वस्त किया कि भोज वस्तुतः मार दिया गया है।"—बुद्धिसागर ने उत्सुकता से पूछा।

"आप तो जानते ही हैं कि मैं मिट्टी की मूर्तियाँ बनाने में भी पारंगत हूँ। मैंने भोज के सिर की मूर्ति बनाई, उसे खून से रंग दिया। राजा मुंज को दूर से यह मूर्ति दिखा दी थी और भोज का पत्र दे दिया था। राजा का मुझ पर पूर्ण विश्वास है अतः यह प्रमाण काफी था।"—वत्सराज ने कहा।

वृद्ध बुद्धिसागर को अब ऐसी युक्ति निकालनी थी कि जिससे राजा मुंज की जान बच जाये, भोज पुनः राजमहल में पहुंच जाये तथा राजाज्ञा का पालन न करने के लिए वत्सराज को दण्ड भी न मिले। काफी सोच विचार के बाद उसने एक युक्ति सोची और वत्सराज को उसकी भूमिका बता दी।

दूसरे ही दिन, दरबार में एक जटाधारी साधु उपस्थित हुआ। उसके विराट व्यक्तित्व से सभी सभासद प्रभावित हो गये थे। राजा मुंज, जो उन दिनों अधिक धार्मिक वृत्ति का हो गया था, साधु के चरणों में लोट गया। साधु ने राजा को ऊपर उठाया और—'सुखी रहो' का आशीर्वाद दिया। दूसरे ही क्षण राजा के पीतवर्ण चेहरे को देख कर साधु बोला—'वत्स! 'तुम्हें क्या दुःख है? हमें बताओ। यदि शिव भोले ने चाहा तो हम तुम्हारा दुःख दूर करेंगे।' पहले तो राजा ने आनाकानी की, परन्तु साधु के जोर देने पर अपना दुखड़ा कह सुनाया।

साधु ने कहा—"राजन! मुझे तुम्हारी दशा पर तरस आ रहा है। मैं तंत्र-विद्या से तुम्हारे भोज को जीवित कर दूँगा।" राजा ने जब साधु के मुंह से यह सुना तो वह उत्साह से भर गया।

साधु के कथनानुसार श्मशान भूमि में एक मंडप बनाया गया और मध्य में यज्ञ की वेदी बनायी गयी। होम आदि का सामान मंगवाया गया। योजना के अनुसार मंडप के पास वत्सराज ने भोज को छिपा रखा था। साधु के वेष में बुद्धिसागर होम करने लगा। राजा मुंज, सभासद आदि मंडप में बैठे थे। उन्हें तो लग रहा था कि यज्ञ-वेदी से ही भोज प्रकट होगा। काफी देर तक मंत्रोच्चारण के उपरान्त साधु ने सबसे आँख मूंदने को कहा और कहा कि जैसे ही धमाका हो सभी आँखें खोल दें। धमाके के साथ राजकुमार प्रकट हो जायेगा।

सभी ने आँखें मूंद ली। पूर्व योजनानुसार धमाका हुआ और भोज हाथ जोड़े मंडप में खड़ा हो गया। राजा और अन्य सभासद आदि बड़े हर्षित हुए। राजा ने दौड़ कर उसे गले लगा लिया। भोज को गाजे बाजे के साथ राजमहल में ले जाया गया। राजा मुंज ने अपना सारा राजपाट भोज को सौंप दिया और अपने पुत्र को उसका सहायक बना दिया।

राजा मुंज ने सन्यास ले लिया। उनकी रानियाँ भी उनके साथ चली गयीं। वनवास में वे जिस स्थान पर रहे वह आज भी मुंजपुर नाम से प्रसिद्ध है। इतिहास प्रसिद्ध राजा भोज एक श्लोक की बदौलत बच सके थे। शब्दों में कितनी महती शक्ति होती है, यह हमें इस कथा से पता चलता है। इसलिए तो लेखनी को सर्वाधिक बलवती कहा गया है। ❀

जैसा बीज - वैसे फल

जैसा बीज, बहुत से होते फल वैसे ही, उसी प्रकार-
कर्मबीज होता जैसा, फल भी होते उसके अनुसार ॥
इह परलोक चाहते यदि तुम नित्य परम सुख-शान्ति अपार।
सावधान रह, करो सतत शुभ कर्म पुण्य आचार उदार ॥

यज्ञशिष्ट भोजन से पाप-नाश

सुर-ऋषि पितर-मनुज सब जीवों को उनका हिस्सा देकर।
बचा हुआ जो खाता वह हो पापमुक्त पाता ईश्वर ॥
पर जो निज के लिए कमाता, बिना दिए ही है खाता।
वह अघभोजी निश्चय ही यमदूतों से पीड़ा पाता ॥

हम सब का ईश्वर एक
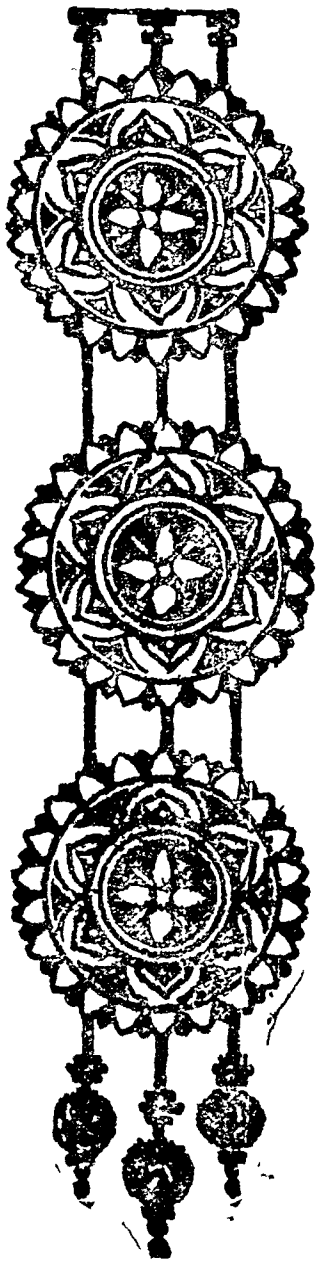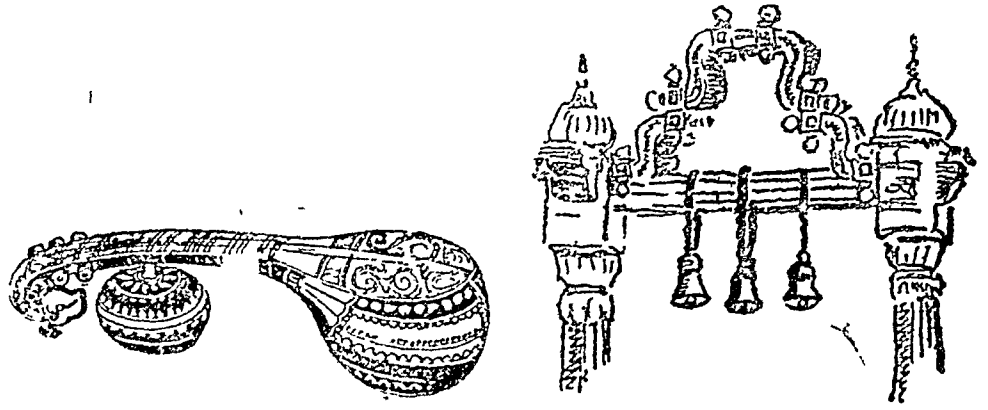
(रामस्वरुप गौड : जयपुर)

कोई ऐसी शक्ति है जो हमें प्रेरित करती रहती है, वह अदृश्य है उसकी प्रेरणा भी इतनी सुक्ष्म है जिसे ज्ञान व साधना के बाद ही जाना जा सकता है। हाँ वह सबको, जो जानता है, और नहीं भी जानता उन सबको समान रूप से प्रेरित करती है। उसकी इस प्रेरणा में कोई भेद-भाव नहीं है ऊँच और नीच, गरीब और अमीर समान से उसके कृपापात्र है अगर ऐसा नहीं होता तो फिर कोई कल्पना नहीं कर सकता था, कोई संकल्प नहीं कर सकता था, कोई बोल नहीं पाता, कोई कर्म सम्पादित नहीं होता क्योंकि उस हालत में सब भावनायें निष्क्रिय रहती सक्रियता का नाम नहीं रहता, कोई एक कदम नहीं चल सकता था, निष्प्राण सा यह जीवन होता। गतिशील जीवन को देखकर हमें मानना पड़ता है कि कुछ ऐसा है जो हमें प्रेरित करता है ज्योति जलाता है प्रकाश देता है सक्रियता के लिये प्रेरित करता है प्राण देता है तभी तो यह चराचर जगत सजीव नजर आता है।

वह एक शक्ति है एक प्रेरणा है जो हम सब के अन्तर में ज्योति रूप से विराजमान है। वह सब में समान है और सब जगह व्याप्त है जिसे हम ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर के जगत में आधिव्याधि क्यों ?

यह एक सुन्दर प्रश्न है जिसका उत्तर जानकर हम दुःख व अशांतिपूर्ण संसार से निकलकर सुख शांति की राह चल सकते हैं।

ईश्वर हम सब का पिता है वही जन्म देने वाला, पोषण करने वाला और संहार करने वाला है। भारतीय दर्शन में इन्हें ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश कहा गया है। उन्हें अलग अलग मानकर भी "ॐ" में एक रुप माना गया है जो ईश्वर के एक होने का प्रतीक है। हाँ ईश्वर इन तीन स्थितियों में, जो एक पार्थिक शरीर के कर्म सम्पादन करने का काल है, के रूप में, का शासक है।

यह जगत कर्म का फल है। एक कथा कहूंगा--चोर से पूछा गया-क्यों भाई चोरी की तुमने ?

जी हाँ चोरी की।

क्यों की चोरी तुमने ?

आँखों ने देखा कानों ने धन का वैभव सुना हाथों ने हाँ भरी पैरों ने चलना मंजूर किया बस चोरी आसानी से हो गई।

तो चोरी करी तुमने।

मैं एक मनुष्य हूँ मेरे मनुष्य ने

चोरी नही की। वह तो मेरे अन्दर था और कह रहा था-खबरदार चोरी न करना।

चोर तो मेरे अन्तर का मनुष्य नहीं बाहर का राक्षस है।

चोर को छः माह कैद की सजा सुना दी गई-वह हँसता रहा।

उक्त कथा से दो बातें मोटे तौर पर उभर कर आईं। पहली मनुष्य का अन्तर मन मनुष्य है ईश्वर है वही हमें प्रेरित करता है। उसकी प्रेरणा सद्कृत्यों की ओर है, इन प्रेरणाओं पर चलने वाला सच्चे मायने में मनुष्य है, जिन पर चलने से जिनके अनुसार कर्म करने से कभी दुखः व अशान्ति नहीं होती दण्ड नहीं मिलता।

दूसरी हमारी बाहरी वह सभी लालसायें हैं जिनसे प्रेरित होकर हम अपनी अन्तः प्रेरणा को दवा जाते हैं--राक्षसी वृत्तियाँ हैं जो दुस्कृत्य है जो दुखः अशान्ति और दण्ड दायक होती है।

तीसरा प्रत्येक कर्म का फल मिलता है अच्छा का अच्छा और बुरे का बुरा।

श्री पंचदेव मंदिर : झुन्झुनूँ

अशांति में शांति का मार्ग
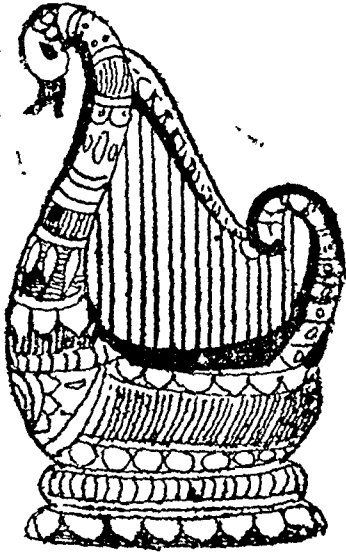
हम यह जानते हैं कि दुस्कृत्यों और राक्षस वृत्तियों का परिणाम दुख और अशान्ति है तब यह जान लेना सहज ही है कि आज के समाज में जो दुख अशान्ति, अराजकता और वेमनस्य फैला हुआ है, वह भी राक्षस वृत्तियों का ही परिणाम है। वह प्रवृत्तियाँ है दुराचारी, अनाचारी, भ्रष्टाचार, चोरी, लूट, अनिष्ठा, आलस्य, प्रमाद हिंसा, अहंभाव इत्यादि अशान्त और दुखी वातावरण को जन्म देने वाले हैं—क्योंकि इनमें वृद्धि के कारण दुखान्त परिणामों में भी वृद्धि हुई है। अतः सुखी और शान्त वातावरण के लिए सदाचार को अपनायें, सदकृत्यों को वढ़ावा दें, निष्ठा से कर्म करें अहिंसा का पालन करें व्यभीचार
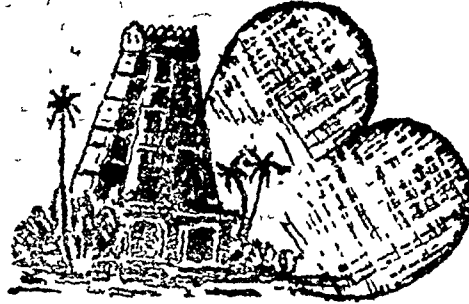
से मुंह मोड़े व सबको ईश्वर की सन्तान समझकर अर्थात सबको ईश्वर सदृश्य समझकर समान रूप से वर्ताव करें तब ही सुख और शान्ति आ सकती है। हम अपने निर्बल कर्मों को प्रवल करें—हमसबका ईश्वर एक है यह स्मर्ण रक्खें।

———

संस्कार

जीवन की स्पष्ट और प्रभावकारी क्रियाओ का मानस-पटलपर पर अंकित अमिट सार-तत्व ही संस्कार है।

संस्कार अच्छे भी होते हैं और बुरे भी दोनों का प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता रहता है।

असंख्य क्रियाओं और अनन्त ज्ञानो के होने पर भी अन्त में मन के पास वहुत थोड़ी बचत रहती है। हम-जीवन रुपी व्यापार करके सिर्फ संस्कार रूपी संपत्ति जोड़ते हैं।

शाखाओं के यहाँ अनेक छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्य थे। कायमखानी नवाब भी चौहानों से ही मुसलमान बने थे। चौहानों के समय में यह क्षेत्र 'बागड़ देश' में गिना जाता था। चौहानों के बाद शेखावतों ने इस भू-भाग पर अधिकार किया तब से यह प्रदेश शेखावाटी कहलाने लगा। आज शेखावाटी क्षेत्र के अन्तर्गत दो जिले—सीकर और झुंझुनूं मुख्यतः आते हैं।

मुहता नैणसी की ख्यात के आधार पर ऐसी प्रसिद्धि है कि बहलोल लोदी के समय में (सन् १४५१—८८) झूंझा जाट के नाम पर झुंझुनूं नगर बसाया गया। पं० झाबरमलजी शर्मा ने अपने सीकर के इतिहास में नैणसी का समर्थन करते हुए यही स्वीकार किया है कि चौधरी का नाम था 'जूझा' और 'नूं' पुरानी राजस्थानी भाषा में 'का' (षष्ठी) का वाचक है। वही जूझनूं इस समय झुंझुनूं नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु यह मान्यता अब पुष्ट प्रमाणों के द्वारा खंडित हो जाती है। श्री अगरचन्द जी नाहटा ने वरदा (त्रैमासिक, बिसाउ) वर्ष ७ अंक १ के पृष्ठ १० पर झुंझुनूं की प्राचीनता पर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि खरतर गच्छीय युग प्रधानाचार्य गुरूवावली में वि० सं० १३०० में झुंझुनूं का उल्लेख प्राप्त होता है। उद्धरण इस प्रकार है—

"सं० १३०० तदनंतरं खाटू वास्तव्य सा० गोपाल-प्रमुख नाना नगर ग्राम वास्तव्यानेक श्रावकाः श्री नवहां झुंजणु वास्तव्यं।"

उक्त उद्धरण से यह सिद्ध हो जाता है कि झुंझुनू नगर वि० सं० १३०० से पूर्व ही बसावट में आ चुका था। कायम खाँ का द्वितीय पुत्र मुहम्मद खां फतेहपुर नवाबी संस्थापक अपने भतीजे फतहखाँ के साथ इधर आया था। वि० सं० १५०८ में फतेहपुर की नवाबी कायम होने के कुछ पूर्व ही मुहम्मद खा ने झुंझुनूं नगर को सुव्यवस्थित ढंग से पुनः बसाया और

अपनी नवाबी की स्थापना कर झुंझुनूं में अपनी राजधानी कायम की।

वि० सं० १५०७ में (१) मुहम्मद खां जोड़ राजपूतों के अधिकृत इस भूभाग में नए नवाबी राज्य झुंझुनूं की स्थापना करने में सफल हुआ। इसके पश्चात् उसका पुत्र (२) समसखां फतेहपुर के नवाब फतहखां के शासन काल (वि० सं० १५०८-१५३१) में झुंझुनू का नवाब हुआ। इसके बड़े पुत्र फतहखाँ की शादी दिल्ली के सुल्तान बहलोलखाँ लोदी की पुत्री से हुई थी। इस कारण उसे अधिक अभिमान हो गया था। नवाब बनते ही (३) फतह खाँ ने अपने भाई मुबारक शाह और विमाता को तंग करके झुंझुनूं से निकाल दिया। फतेहपुर के नवाब जमालखां (वि० सं० १५३१—१५४६) ने मुबारक शाह का पक्ष लेकर झुंझुनूं पर चढ़ाई की और फतहखाँ को हराकर (४) मुबारक शाह को झुंझुनूं का नवाब बना दिया। फतहखाँ की मृत्यु के बाद उसके पुत्र महमदखाँ ने पुनः झुंझुनूं पर

अधिकार करने की कोशीश की परन्तु उसमें उसे सफलता नहीं मिली। मुबारक शाह ही राज्य का मालिक रहा। इसके दो पुत्र हुए—कमालखॉं और साहब खाँ।

मुबारक शाह के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र (५) कमालखाँ झुंझुनूं का नवाब हुआ और दूसरे पुत्र साहबखॉं को नूवां का शासन मिला। वह जब तक जीवित रहा अपने भाई के अधीन रहा। कमाल खाँ के पश्चात् उसका पुत्र (६) भीखन खॉं झुंझनूं का स्वामी हुआ और साहबखाँ का पुत्र मुहब्बत खाँ उसे प्रतिदिन सलाम करता था। एक बार परस्पर चित्त कालुष्य हो जाने से मुहब्बतखाँ नूआ छोड़ कर दौलत खाँ (वि० सं० १५४६—१५७०) के पास फतेहपुर चला गया। उसने दौलत खॉं के पौत्र फदनखॉं को पुत्री दी और उसकी सेवा में रहा। मुहब्बतखाँ के निवेदन करने पर दौलतखाँ ने नूआ दिलवाने का वचन दिया और उसे नूआ भेज दिया।

मुहब्बतखॉं नूआ जाकर रहने लगा। भीखनखाँ तत्काल सेना लेकर चढ़ आया। मुहब्बत खॉं ने फतेहपुर से निवेदन किया और दौलत खॉं का बड़ा पुत्र नाहरखॉं भी सहायतार्थ आ पहुँचा। आबूसर के ताल में घमासान युद्ध होने लगा। झुंझुनूं की सेनाओं को यहाँ परास्त करके नाहरखाँ ने (७) मुहब्बतखाँ को झुंझुनूं की गद्दी पर बिठा दिया। भीखनखॉं बीकानेर के राव लूणकरण को अपनी मदद पर चढ़ा कर लाया परन्तु दौलतखॉं ने उससे संधि करके उसे वापिस भेज दिया।

मुहब्बतखाँ के पश्चात् फतेहपुर नवाब फदनखॉं (वि० सं० १६०२—१६०६) की सहायता से (८) बहादुर खाँ झुंझुनूं की गद्दी पर आसीन हुआ। बहादुरखॉं के पश्चात् उसको बड़ा पुत्र (९) समसखाँ द्वितीय उत्तराधिकारी हुआ किन्तु दूसरे भाई उसे नहीं मानते थे और उसे सतत दुःख दिया करते थे। फतेहपुर नवाब अलफ खाँ (वि० सं० १६२७—१६८३) से उसकी बड़ी प्रीति थी। वह उसे बादशाह के पास ले गया और बादशाह अकबर के द्वारा मनसब का सम्मान दिलाया। महाराणा प्रताप के विरुद्ध शाही सेना की चढ़ाई में फतेहपुर—झुंझुनूं के ये दोनों नवाब सम्मिलित थे और दोनों ने ही शाही प्रशंसा प्राप्त की। जहाँगीर के समय में जब मेवाड़ पर मुगल आक्रमण हुआ और ऊंटाला के दुर्ग पर चूँडावतों और शक्तावतों का प्रसिद्ध धावा हुआ, उस समय उस किले का किलेदार नवाब समसखाँ ही था। इसके बाद क्रमशः (१०) सुलतानखाँ (११) वाहिदखां (१२) सहादतखाँ (१३) फाजिलखां और अन्तिम नवाब (१४) रूहेलाखाँ झुंझनूं के नवाब हुए।

नवाब फाजिल खां ने बड़ी उम्र पाई। बुढ़ापे में उसका पुत्र रूहेलाखां राज-काज में हाथ बँटाने लग गया था। नवाब फाजिलखां के समय में ही झूंझनूं का परगना दिल्ली के बादशाह फर्रुखशियर के शासन काल में बल पूर्वक फतेहपुर के नवाब कामयाबखाँ के अधिकार में कर दिया गया था। दिल्ली में सदैव बन्धुओं की शक्ति समाप्त होने के साथ-साथ ही फतेहपुर के नवाब कामयाबखॉं की दीन-दशा भी पलट गई। इस अवसर को पिता पुत्र नवाब फाजिलखां और रूहेलाखॉं ने अपने अनुकूल देखा और इसलिए उन्होंने अपने परगने झुंझुनूं की प्राप्ति का दावा बादशाह मुहम्मद शाह के दरबार में प्रस्तुत किया, जिसके फलस्वरूप झुंझुनूं

फतेहपुर के नवाव कामयाबखाँ से छुड़वाकर फिर उसके वास्तविक वंश परम्परागत अधिकारी फाजिलखाँ—रूहेलाखाँ को वि० सं० १७७१ में दे दिया गया। इस घटना का उल्लेख फाजिलखाँ—रूहेलाखाँ के एक इकरारनामे में मिलता है।

नवाव फाजिलखाँ की मृत्यु सं० १७८५ वि० में होने पर उसका पुत्र रूहेलाखाँ झुंझुनूं का नवाब हुआ। उसकी शादी झुंझुनूं परगने के अन्तर्गत नापासर के बीदा राजपूतों के यहाँ हुई थी। प्रसिद्ध वीर शार्दूल सिंह शेखावत भी उन्हीं बीदावतों के यहाँ विवाहे थे। इस प्रकार दोनों की पत्नियाँ आपस में भूआ-भतीजी थी।

झुंझुनूं का अन्तिम नवाब रूहेलाखाँ बड़ा निर्बल शासक था। उसके कायम खानी भाई ही उसकी निर्बलता का लाभ उठा रहे थे। बड़वासी का नवाब अन्मानूल्लाखाँ. कॉट का नवाव अलीखाँ कोलस्या का नवाब हामखाँ. खेड़ी का नवाब बोदूखां, बबेरे का नवाब एवजखाँ, बजावा का नवाब घासीखां धनूरी का सलावखां घोड़ीवारा का जमल्लाखां और हाथीखां आदि सभी कायमखानी नवाब रूहेलाखां को तंग कर रहे थे। ऐसी परिस्थिति से तंग आकर अपनी पत्नी की राय स्वीकार करते हुये रूहेलाखां ने शार्दूल सिंह शेखावत को शासन व्यवस्था के लिए झुंझुनूं बुला लिया। उन्होंने वि० सं० १७७८ से झुंझुनूं रहना प्रारम्भ कर दिया और नवाबी की व्यवस्था को जमाया, विद्रोहियों को दबाया तथा अपना दबदबा राज्य में स्थापित किया।

वि० सं० १७८७ में शार्दूल सिंह नवाब रूहेला खां को लेकर दिल्ली गए। वहां उसमें जो बकाया निकलती थी, उसकी किश्तें कायम करवाई। दिल्ली से झुंझुनूं लौटते समय मार्ग में नवाब की मृत्यु हो गई। उसके कोई सन्तान नहीं थी। इसीलिए राज्य के अनेक उत्तराधिकारी खड़े हो गए परन्तु नवाब की बेगम की सहमति से शार्दूल सिंह ने उदयपुर वाटी के अपने भाइयों व सीकर के शिव सिंह जी से परामर्श कर झुंझुनूं नवाबी पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया। शासन प्रबन्ध तो उनके हाथ में पहले से था ही। अपनी पूरी शक्ति एकत्रित कर उन्होंने कायमखानियों को झुंझुनूं से निकाल दिया। वि० सं० १७८७ अगहन सुदी ८ शनिवार को झुंझुनूं पर शार्दूल सिंह का अधिकार हो गया। इस घटना का सूचक यह दोहा प्रसिद्ध है :—

सतरह सौ सत्तासिये अगहन मास उदार।
सादै लोनी झुंझुनूं, सुदी आठैं सनिवार॥

लगभग २८० वर्ष तक झुंझुनूं वाटी पर कायमखानियों का नवाबी शासन रहा। इस क्षेत्र में उन नवाबों के छूट भइए भी पर्याप्त संख्या में अपने अपने अधीनस्थ गांवों की नवाबी करते रहे जिनमें केड़, बड़वासी और नरहड़ के नवाबों के नाम उल्लेखनीय है।

कयामखां का एक छोटा भाई सदरदीखां राजस्थान में आया। उसने शेखावटी में केड नामक नगर में अपनी राजधानी स्थापित करके 'केड की नवाबी' की नींव डाली। जवरदी (सदरदी) केड का पहला नवाब था। इसके बाद वहां आठ नवाब और हुए जिनके नाम इस प्रकार है—(१) पीरखां (२) दाउदखां (३) मनसेरखां (४) दफ्तर

खां (५) जलालखां (६) सालतखां (७) हमीरखां अजमेरीखां।

केड के अन्तिम नवाब अजमेरीखां को मारकर जूझार सिंह ने अपने पिता टोडरमल की आज्ञा से केड पर अधिकार कर लियो। बड़वासी (झुँझूनूं) की नवाबी भी कयामखां के प्रपौत्र व इखतियारखां के पौत्र एलमानखां से प्रारम्भ होती है इसमें कुल आठ नवाब हुए जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) एलमानखां (२) महमूदखां (३) दरियाखां (४) मजाहिदखां (५) अलफखां (६) हसमीदखां (७) निजामखां और (८) अमानुलाखां।

नरहड़ वाटी का इलाका शेखावाटी का एक भाग है। दिल्ली के तुगलक सुल्तानों के शासन काल में नरहड़ में जोड चौहानों का राज्य था। अकबर के शासन काल में फतेहपुर, झुंझुनूं और नरहड़ इन तीनों परगनों का उल्लेख मिलता है। उस समय फतेहपुर नागौर सरकार के अधीन था और परगना झुंझुनूं तथा नरहड़, नारनौल सरकार के अन्तर्गत था। नागौर और नारनौल दोनों सरकारें क्रमशः सूबा अजमेर और आगरा के अधीन थे। झुंझुनूं और फतेहपुर के नवाब कायमखानी थे परन्तु नरहड़ के नवाब नागड़ पठान थे।

ऐसी प्रसिद्धि है कि सन् १४४६ ई० (विक्रम सं० (१५०३) में अफगानिस्तान से पठानों का एक सैनिक दल हिन्दुस्तान में आया था। जिसका अधिपति नवाब इसमाइलखां दलेरजंग नागड़ था जो युनुसखां नागड़ का बेटा था। बादशाह बहलोल लोदी ने उसको अपना प्रधान सेनापति बनाने के पश्चात् बिहार का सुबेदार बना दिया था। समय पाकर बादशाह की अनुमति से उसने नरहड़ पर चढाई करदी और जौड राजा को परास्त कर नरहड़ राज्य को अपने अधीन कर लिया। इसके पहले भी नरहड़ पर मुसलमानों ने कई बार चढाइयां की थी परन्तु अपना आधिपत्य नहीं जमा सके।

पं० झाबरमलजी शर्मा के अनुसार नाहड़ पर कुल दस नवाबों का शासनाधिकार रहा :-(१) इस्माइलखाँ (२ दिलावरखाँ (३) अलाउद्दीनखाँ (४) कासिमखाँ (५) हुसेनखाँ (६) बावनखाँ (७) कुतुबखाँ (८) भीखनखाँ (९) कायमखाँ (१०) अब्दुल करीमखाँ।

नवाब कासिमखाँ ने नरहड़ के बदले 'बगड़' में अपनी राजधानी स्थापित की तथा नरहड़ नगर को पीरजी की पूजा के लिये प्रदान कर दिया। बगड़ के निकट स्थित कासिमपुरा नवाब कासिमखाँ के नाम पर ही आबाद हुआ।

नरहड़ के नवाब कुतुबखाँ और नारनौल के शाही हाकिम अलीकुलीखाँ में परस्पर मनमुटाव चलता था। अलीकुलीखाँ शार्दूल सिंह के बड़े पुत्र जोरावर सिंह का मित्र था। उसने जोरावर सिंह से मिलकर बादशाह से नरहड़ के नवाबों की शिकायत करके वि० सं० १७८४ में नरहड़ का पट्टा शार्दूला सिंह शेखावत के नाम करवा दिया। शेखावतों ने नरहड़ पर आक्रमण किया और नरहड़ के अन्तिम नवाब अब्दुल करीमखाँ को परास्त करके नरहड़ पर अधिकार कर लिया।

समय पाकर पठानों ने पुन: संगठन करके शक्ति प्राप्त की और शेखावतों पर आक्रमण कर दिया। झुँझूनूं के वोड़ में बड़ा भयंकर युद्ध हुआ जिसमें

शार्दूल सिंह के पुत्र बहादुर सिंह ने पठानों के छक्के छुड़ा दिए परन्तु अन्त में वह स्वयं वहीं जूझार हो गया। शेखावतों की तलवारों के आगे पठान मैदान छोड़कर भाग गए और विजय श्री शार्दूल सिंह को प्राप्त हुई। नरहड़ के नवाब के अधीन कुछ और छोटे नवाब थे जिनमें से खुड़ाणा के सिकन्दरखाँ, नारी सारी के आदमखाँ और सुल्तान के खाजुरखाँ को परास्त करके शेखावतों ने उनकी जागीरों पर भी अपना अधिकार कर लिया।

इस प्रकार लगभग २६० वर्षों से चला आ रहा नागड़ पठानों का नवाबी राज्य 'नरहड़-बगड़' भी फतेहपुर और झुंझुनूं की नवाबी के पतन के साथ-साथ ही शेखावतों के शासन में विलीन हो गया।

शार्दूल सिंह ने अपने भुजबल से स्थापित विस्तृत राज्य पर वि० सं० १७६६ तक शासन किया। इनका स्वर्गवास श्रावण कृष्णा १० सं १७६६ को परशुरामपुरा में हुआ। इनके छः पुत्र हुए, जिनके नाम इस प्रकार है :—(१) जोरावर सिंह (२) किशन सिंह (३) अखय सिंह (४) नवल सिंह (५) केसरी सिंह (६) बहादुर सिंह।

बहादुर सिंह झुंझुनूं के नरहड़ के पठानों की लड़ाई में मारे गए। इस कारण राज्य का बंटवारा शेष पांच भाइयों में ही हुआ। इसलिए यह क्षेत्र "पंचपाना" के नाम से विख्यात हुआ। जोरावर सिंह तथा इनके वंशज चौकड़ी, ढंढार, मलसीसर चला, मण्डेला, डाबड़ी, चनाना, घोड़ीवारा, सुलताना, ओझटू, डूमरा, बगरू, टांई, भोड़की, ख्याली, पाटोदा लूटू, कुमास, ग्याग्यांसर, काली पहाड़ी, सिरोही, मोजास आदि गांवों के शासक हुए। किशन सिंह तथा उनके वंशज खेतड़ी, अलसीसर होखा, अड़का, बदनगढ़, सींगड़ा, तोगड़ा, बलरिया, आदि गांवों के शासक हुऐ। नवल सिंह तथा इनके वंशज नवलगढ, मण्डावा, महणसर मुकुन्दगढ़ पचेरी, झकोड़ा इस्माइलपुर, बलोदा, दोरासर, परशरामपुरा, कोलीडा कुड़ाड़ कुमभठ आदि गावों के शासक हुए। केसरी सिंह तथा इनके वंशज बिसाउ सूरजगढ़ और डूण्डलोद के शासक हुए। अखय सिंह निःसन्तान रहे। इसलिए इनका हिस्सा तीन भाईयों में बांटलिया गया। चौथे भाई जोरावर सिह को द्विमातुः भाई होने के कारण इनका (अखय सिंह का) हिस्सा नही मिला। इस प्रकार विशेष प्रभुत्व में शेष तीन-किशन सिंह, नवल सिंह, तथा केसरी सिह ही रहे। इनके वंशज अपने अपने पैतृक राज्य पर शासन करते रहे।

संपूर्ण झूंझुनू संभाग पर शेखावतों का शासन राजस्थान सरकार द्वारा जागीर अधिग्रहण करने तक चलता रहा।
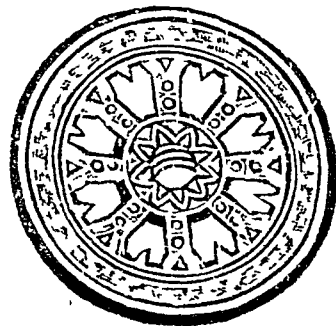
शेखावाटी-
ऐतिहासिक वर्णन
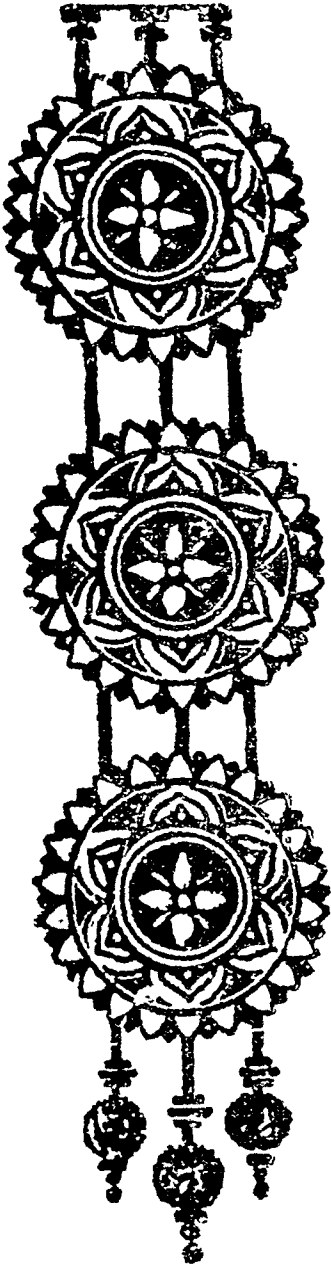
कुँवर सवाई सिंह धमौरा

शेखावाटी जिस भू-भाग को कहा जाता है उसका नाम करण राव शेखाजी और उनके वंशजों द्वारा शासित होने के कारण ही हुआ है। शेखावटी की प्रशस्ति में कहा गया है।

भूरा थल, भाकर उतंग नाल, खाल, चौगान,
सदा सुरंगी लागणी, सेखा धरा महान,
मीठा जल, ऊँडा अथग, दीठा थल, उजलाह,
धरा सघन घन खेजड़ा, सेखावाटी वाह,
खाटी वीरां खाग सूँ, लाटी जस रै लाह,
दाटी धर दुसमण दलां, सेखावटी वाह
रज रा कण कण में रम्यो, ओजस जोमअथाह
बट रजवट लीधां बहै, सेखावाटी वाह,
कंध प्रचंड चंगा धवल, रण मंडण के काण
थल, करोत अै करहला, निपजै धर सेखाण
सुभट धरा इण सांप्रजै, नामी धजवड़ हत्थ
अनमी धर आमेर रा, सुदृढ किवाड समरत्थ
जुध केता घलीया जबर, सेखा धर कई बार
धरम धरा हित कट पड्या, जग प्रसिद्ध जूंझार,
धरम धरा स्वाधीनता, राखी बणी अटूट
कारण जिण पीढयां खपी, जुध घमसाणा जूंट

मृत्यु के समय शेखाजी की आयु ५५ वर्ष की थी। कहा जाता है कि किसी महात्मा ने उनसे कहा था, वैसा आप अजेय हो। हर युद्ध में तुम्हारी विजय होगी परन्तु यह संसार का नियम है कि जो जन्मता है वह मरता भी है—तुम्हारी भी मृत्यु निश्चित है, परन्तु होगी-यह प्रसंग मिलने पर—

(१) युद्ध का घायल शरीर (२) खेजड़ी की छाया (३) खींप की रस्सियों का पलंग (४) बाजरे की रोटी (५) काले हिरण का मांस (६) काले मींढे की ऊन का कंबल (७) कैरकी लकड़ी का बाजोट (८) जमवाय माता के मन्दीर की ओर मुख।

यह सब एक साथ जिस दिन मिल जावेगें। तुम्हारा शरीर नहीं रहेगा।

घाटवा के युद्ध से वह लौटे थे कि रलांवत के समीप एक स्थान पर यह सब साधन जुट गये। वहीं उनका प्राणांत हो गया, जहाँ छतरी बनी हुई है।

आज उसी राव शेखा की शेखावाटी को इस बात का गर्व है कि भारतीय सेना में उसके झुंझुनूं जिले का सर्वोच्च स्थान है। पाक भारत युद्ध में भी वीर गति प्राप्त होने वले सैनिकों की संख्या सबसे अधिक है। शेखावटी के ही बेरी ग्राम के वासी पीरू सिंह ने १८ जुलाई १९४८ को टीथवाल फतह कर वीरगति प्राप्त की थी। जिनको परमवीर चक्र प्राप्त हुआ। स्व० जमादार हरिराम सांतोई, राइफल मैन जेठू सिंह (झिलमिल), सिपाही मोहर सिंह (किठाण) और सिपाही लादूराम पापड़ा आदि ने मरणोपरान्त वीर-चक्र प्राप्त कर शेखावाटी को वह गौरव दिया है, जिस पर सारे भारत को गर्व है।

पृष्ठ ९६ का शेषांक—

श्री रामदेव की तो पीर के नाम से प्रसिद्ध है। पाबूजी राठौड़ को लक्ष्मण की तथा गोगाजी को शेषावतार की संज्ञा दी गई है। श्री रामदेव (रुणिचा) के श्री कृष्ण का अवतार माना गया है। ग्राम-ग्राम में इनके मन्दिर और देवरे बने हुए हैं-जिन्हे रामदेवरा कहा जाता है तथा रूणिचा (पोकरण से ६ मील की दूरी पर स्थीत ग्राम) तो बाबा रामदेव का प्रमुख स्थान ही है।

ये सभी लोक देवता लोक मानस में गहरे बैठ हुए हैं। इनके जीवन चरित्रों को अमरत्व देने के लिए अनेक प्रकार के पवाड़ो (गीतों) तथा पड़ो (कपडे पर जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित चित्रों का निर्माण कर उन्हे धर्म का अंग मानकर जीवन में आचरित करना) का भी उद्भव हुआ है। इनके अतिरिक्त इनके नाम पर अनेक प्रसिद्ध मेले भी लगते है। भाद्र पद कृष्ण नवमी को गोगा मेढ़ी (गंगानगर जिले मे) गोगाजी तथा दशमी को पर्वतसर (जिला नागौर) में श्री तेजाजी का प्रसिद्ध तिलवाड़ा (जिला बाड़मेर) मे श्री मल्लिकनाथजी के पशु मेले भी काफी समय से प्रचलित है। राजस्थान के लोक देवताओं का संक्षिप्त परिचय निम्नांकित रुप से दिया जा रहा है।

श्री गोगाजी:— चौहान राजपूत थे, जो चुरु जिले के ददरेवा ग्राम में उत्पन्न थे तथा महमूद गजनवी के समकालीन थे पंजाब, मध्यप्रदेश, हिमाचल प्रदेश तथा उत्तर प्रदेश एवं गुजरात राज्यों में भी इनकी मान्यता बहुत अधिक है। उत्तर प्रदेश में इन्हे जहरपीर के नाम से पुकारा जाता है। पर दर्दरेवा तथा गोगामेड़ी के स्थल अत्यन्त ही पवित्र एवं चमत्कारिक माने जाते हैं। दर्दरेवा, रामगढ़, तारानगर, चुरु, रतनगढ़ (जिला चुरु मे स्थित) इत्यादि ग्रामों में भाद्र पद कृष्ण नवमी तथा शुक्ल नवमी तथा शुक्ल दशमी को गोगाजी के बड़े मेले लगते हैं।

गोगाजी जेवरसिंह के पुत्र थे तथा इनकी माता का नाम बाछल दे था। पिता के उपरान्त गोगाजी ही दर्दरेवा अधीश्वर बने। जनश्रुति है कि गोगाजी ने अपने मौसेरे भाइयों अर्जुन तथा सुरजन को सम्पत्ति के झगड़े मे इसलिए मार डाला था कि उन दिनो का तत्कालीन दिल्ली के बादशाह शकुनहीन फिरोजशाह को ददरेवा पर आक्रमण करने के लिए प्रेरित किया था। कहा जाता है कि इस कृत्य से इनकी माता को काफी दुःख हुआ तथा उन्होंने इन्हे बारह वर्ष का निश्कासनदे दिया। गोगाजी को इससे बड़ी ग्लानि हुई तथा उन्होंने समाधि के लिए पृथ्वी से प्रार्थना की। इस पर पृथ्वी ने ईनसे कहा कि समाधि तो केवल मुसलमानो को ही मिलती है। गोगाजी ने गोगामेड़ी स्थान पर कल्मा पढ़ा तथा पृथ्वी तत्काल ही फट गई तथा घोड़े सहित गोगाजी उसमे समा गए। इस प्रकार इन्होने जीवित समाधि ली।

गोगाजी के अतिरिक्त राजस्थान मे नागदेवता के रुप मे भभूता सिंह, केशरिया कँवर गोगा पीर और तेजा जी क्रमशः भाद्रपद कृष्ण सप्तमी, अष्टमी, नवमी तथा दशमी को घर-घर पूजे जाते हैं।

वीर तेजाजी:— यह धौला जाति में उत्पन्न हुए थे तथा नागौर जिले के खरनाल ग्राम के निवासी थे एक बार यह अपनी माँ की आज्ञा से खेत जोत रहे थे और इनकी भाभी खेत पर भोजन लेकर कुछ विलम्ब से पहुँची। तेजाजी ने विलम्ब की शिकायत भाभी से ही

की जिसने प्रत्युत्तर में इन्हे ताना दिया कि इस कार्य के लिए अपनी पत्नी को बुलवा ले, जो इस समय अपने घर पर है।

तेजाजी को मर्मान्तर चोट लगी तथा उसी स्थिति में अपनी पत्नी को लाने के लिए अपनी ससुराल किशनगढ़ पहुंचे। संयोगवश ससुराल वाले उन्हे पहचान नहीं पाये, अतः वह वही के एक बाग में जाकर ठहर गए। वहीं पर इन्होने देखा कि कुछ डाकू उस ग्राम की गायों को चुराकर ले जा रहे थे वीर तेजा ने इस का प्रतिरोध कर डाकूओं से युद्ध किया। उन गायो को छुडाया पर इस युद्ध में सैकड़ों व्रण (घाव) हो गये थे। अन्त में एक सर्प ने इनकी जीभ में काट खाया जिससे इनकी मृत्यु हो गई। इनको पत्नी भी इनके पीछे सती हो गइ। तेजाजी भी सर्पों के देवता माने जाते हैं।

रामदेव जी : लोक मान्यताओं में श्री रामदेव जी तँवर श्री कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। तथा वरदायक देवताओं में राम शाह बावा के नाम से विख्यात है। इनके चमत्कारो में कोढ़ियों का कलंक काढने वाले, लगड़ो को पैर और अन्धों को आँख देना इत्यादि है। गाँव गाँव में इनके मन्दिर और देवरे बने हुए है, जिन्हें रामदेवरा कहते हैं। वर्त्तमान पोकरण से लगभग १० मील की दूरी पर ग्राम रुणीचा में इनका मुख्य धाम है, रुणीचा ग्राम में एक बावडी है, जिसके विषय में यह जनश्रुति है कि यदि उसमें उपर से कूद जाय तो अन्धे के आँख और लूले को पैर बाबा रामदेव जी की कृपा से मिल जाते है। रामदेवजी के जागरण में चूरमें के लड्डू बांटे जाते है।

पाबूजी : अपनी प्रतिज्ञा के पालन तथा वीरता तथा गायों की रक्षा के लिए पाबूजी का नाम सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह मारवाड़ के कोलू नामक ग्राम के निवासी थे, जो फलौदी से १८ मील पर है और उसी स्थान पर इनका बहुत बड़ा मन्दिर भी है तथा राठौड़ वंश में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम धांधल जी था इनके पास एक कलंगी घोड़ी थी-जो इन्होंने देवल नामक चारणी से इस शर्त पर प्राप्त की थी कि यदि उसकी गायों पर कोई हमला करेगा तो पाबूजी प्राण देकर भी उन गायों की रक्षा करेंगे।

पाबूजी का विवाह अमरकोट के सूरजमल सोढ़ा की पुत्री के साथ होना निश्चित हुआ पाबूजी बारात सहित इसी कलंगी घोड़ी पर अमरकोट पहुंचे। पीछे से जायल के जिंदराज खीची ने देवल की गायें घेर ली। कालंगी घोड़ी हिनहिनाने लगी। पाबूजी तीन भाँवरे ले चुके थे और चौथी भाँवर लेने को ही थे कि घोड़ी का हिनहिनाना सुनकर वह तत्काल गायों को छुड़ाने के लिए चल दिए। खीचियो और पाबूजी में घमासान युद्ध हुआ। अन्त में पाबूजी ने सारी गाएँ छीनकर चारणी को दे दी परन्तु अन्त में पाबूजी भी इस युद्ध में वीरता पूर्वक लड़ते हुए वीरगति को प्राप्त हुए।

मेहाजी : इन्हें मेवराजजी साकला के नाम से भी जाना जाता है। इनका जन्म मागलिया राजपूतों के यहाँ हुआ था। वही उनका लालन पालन इत्यादि हुआ। इन्होंने भी अपनी अदम्य वीरता से अपने शत्रुओं का दमन किया था और युद्ध स्थल में ही वीरगति को प्राप्त हुए थे। इन्ही के पुत्र श्री हड़बू जी थे जो व्यापार तथा युद्ध कला दोनों में ही दक्ष थे। परन्तु अन्त में विरक्त होकर श्री रामदेव जी के गुरू बालानाथ जी के शरण में आ गए थे और जीवत समाधिस्थ होकर लोक पूजित हो गए।

इन लोक देवताओं की भांति ही राजस्थान में अनेक शक्ति माताएँ तथा सतियां हैं। सतियों को शक्ति रूप मान कर उनकी अर्चना व आराधना की जाती हैं।

श्रावक शोभा नही पाता है। इस विषय में एक दृष्टान्त है कि– एक सेठजी बड़े तत्त्वज्ञ थे। रोजाना दान-पूजादि करते थे, संसार से उदास रहते थे। संयोग से उनका इकलौता पुत्र मर गया। लोग इकट्ठे हुए। सभी उदास थे परन्तु सेठजी चुप थे, उन्होंने रोना-चिल्लाना न किया; सभी लोग आश्चर्य करते थे कि देखो ! एक पुत्र था और वह भी मर गया परन्तु सेठजी ने दो आँसू भी नहीं बहाए; सेठजी मौन थे। वे संसार के स्वरूप पर विचार करने लगे। इस प्रकार दो वर्ष बीत गये। एक दिन सेठजी जोर-जोर से रोने लगे तब गली, मुहल्ले वाले इकट्ठे हुए और बोले सेठजी ! जिस दिन लड़का मरा था उस दिन तो आपने दो आँसू भी नहीं बहाए और आज दो वर्ष बाद रो रहे हो, यह तो वही बात हुई कि "काल मरी सासू और आज आए आँसू"। तब सेठजी ने कहा भाई ! मैं बच्चे के लिए थोड़े ही रो रहा हूँ ? तब लोगों ने पूछा तो फिर क्यों रो रहे हो ? तब सेठजी ने कहा भाई ! रोना इसलिए आ रहा है कि आज मेरे घर पर किसी पात्र (अतिथि) या साधु का आहार नही हुआ। यह सुनकर लोग दंग रह गये। सो भाई ! कहने का तात्पर्य यह है कि श्रावक की शोभा दान से होती है। अतः प्रत्येक श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह नित्य ही समय पर द्वार-प्रेक्षण करे।

धृतिभावनया दुःखं, सत्यभावनया भवम्।
ज्ञानभावनया कर्म, नाशयन्ति न संशयः ॥१६६॥

अर्थ :– सम्यग्दृष्टि ज्ञानी महात्मा दुःख को धैर्य व सहनशीलता की भावना से, इस जन्म-मरण को सत्य तत्त्वज्ञान की भावना से और कर्मों को आत्मज्ञान के मनन से नाश कर डालते हैं, इसमें कोई शंका नहीं है।

विशेषार्थ :– पूर्व कर्मों के उदय से आए हुए दुःख को समता से व धैर्य से भोग लेना उचित है तब पुरातन कर्म झड़ जायेंगे और नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होगा। यदि होगा भी तो अत्यल्प होगा। संसार का नाश कर्मों के नाश से होगा। कर्मों का क्षय वीतराग भावों से

होगा, वीतरागभाव सत्य के– जो निश्चय मोक्षमार्ग आत्मानुभवरूप है– अभ्यास से होगा। आत्मकल्याणार्थियों को उचित है कि यथार्थ ज्ञानाभ्यास, आत्म-प्रतीति तथा चारित्रानुष्ठान से अपनी आत्मा का उद्धार करें।

जगत् में कार्यशील मानव दुःखों तथा सुखों की परवाह नहीं करते हैं, उन्हें तो अपने कार्य की ही धुन रहती है। रात्रि है या दिन, सूर्य का प्रखर ताप है या शीत है, गन्तव्य समीप है या दूर ? इस प्रकार की आकुलता उत्पन्न करने वाली बुद्धि सुधीजनों को खिन्न नहीं कर सकती है। उनके पास तो एक तराजू है, रात्रि और दिन जिसके दो पलड़े हैं, उनमें एक ओर समय, दूसरी ओर कार्य संतुलित हो रहे हैं; ऐसा नहीं होता कि क्षण (समय) धरे-धरे व्यर्थ हो जावे और कार्य क्षणरहित होकर मूल्य वर्जित हो जावे। सच तो यह है जो व्यक्ति समय को दुलराते हैं, प्यार करते हैं, उनके मस्तकपर काल जैसा सुभट तिलक लगाता है तथा प्रकृति भी उनके सम्मान में नतशिर हो जाती है। यथार्थ में, समय की कीमत करने वाले व्यक्तियों ने कभी प्रगति के पंचांग नहीं देखे और न कभी मुहूर्त्तों की प्रतीक्षा की; परन्तु उन्होंने अपने प्रयत्नों को जारी रखा। सोचो ! क्या सूर्योदय के समय किसी दिन भद्रा नहीं होती है तथा क्या परिधयोग नहीं आता ! परन्तु इनके आने पर भी रवि का उदय कभी नहीं रुकता। इसी प्रकार मोक्षार्थी प्राणी अपने कर्त्तव्य में लीन रहते हैं तथा पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय में सहनशीलता की भावना से सुख-दुःख को अपना नहीं मानते हैं। वे तत्त्वज्ञान के प्रेमी होते हैं, उन्हें अपनी मनुष्य-पर्याय के अमूल्य समय का ध्यान रहता है कि मेरा एक समय भी संयम और तप के बिना न चला जावे, वे सतत आत्मध्यान में मग्न रहते हैं।

आग्रहो हि शमे येषां, विग्रहं कर्मशत्रुभिः।
विषयेषु निरासंगास्ते पात्रं यतिसत्तमाः ॥२००॥

अर्थ :– जिनकी यह प्रतिज्ञा है कि हम शान्त भाव में रहेंगे, जो

कर्मरूपी शत्रुओं से युद्ध करते हैं तथा जो इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं हैं परन्तु उनसे विरक्त हैं वे यतियों में मुख्य उत्तम पात्र हैं।

विशेषार्थ :– उत्तम पात्र साधुओं की यह दृढ़ प्रतिज्ञा होती है कि हम कभी शान्त भाव का नाश नहीं करेंगे, अनेक उपसर्ग आ पड़ने पर भी हम क्रोध नहीं करेंगे, क्षमा नहीं त्यागेंगे। इस प्रकार आत्मा के गुणों को ही जो अपना धन समझते हैं, इन्द्रियों के विषयों से जो विरक्त हैं, सर्व परिग्रह से पूर्णतया रहित हैं अर्थात् जिन साधुओं ने इस बात पर कमर कसी है कि वे कर्मरूपी शत्रुओं को अवश्य जीतकर मुक्ति प्राप्त करेंगे, ऐसे ही वीर, निःस्पृही, वीतरागी साधु ही उत्तम पात्र है। वे अपने मन को समझाते हुए कहते हैं कि— अरे मूर्ख मन ! इन भोगों और विषयों में क्या रखा है ? इन भोगों से कर्म-पाश में फंसकर तू आज तक संसार में रुलता रहा है। कर्मों ने तेरे अक्षय-सुख के भण्डार ज्ञान-धन को लूटा है। वास्तव में, तू तो अनन्त बल का अधीश्वर है, इसका तुझे पता भी नहीं है। यदि तू स्वयं नष्ट होने वाले भोगों का परित्याग कर दे तो तेरा संसार–संसरण रुक सकता है। इस विषय में वादोभसिंह सूरि समझाते हैं—

अवश्यं यदि नश्यन्ति, स्थित्वापि विषयाश्चिरम्।
स्वयं त्याज्यास्तथा हि स्यात्, मुक्तिः संसृतिरन्यथा ॥

–क्षत्रचूड़ामणि

अभिप्राय यह है कि उत्तम पात्र साधु हमेशा आत्म-चिंतवन में जाग्रत रहते हैं, उन्हें संसार की सब वस्तुएँ नाशवन्त दिखती हैं। वे संयोग तथा वियोग को कर्मजनित व्याधियां मानते हैं। इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग में वे हर्ष-विषाद नहीं करते हैं, क्योंकि उनके हृदय-पट पर भेद-विज्ञान की फोटो (तस्वीर) हर समय टंगी रहती है। वे जानते हैं कि मेरे आत्म-प्रदेशों के अलावा एक भी परमाणु मेरा नहीं है, इस प्रकार की प्रज्ञाबुद्धि से वे विचलित नहीं हो सकते हैं। वास्तव में, समता के प्रकाश में भेद, विषाद, व्यामोह और संकीर्णता का सद्भाव नहीं रहता। सच तो यह है कि वीतराग, वीतमोह, वीतद्वेष बने बिना

समता-सुधा का रसास्वाद नहीं आ सकता, परन्तु जो प्राणी कर्मों के तथा विषय-वासनाओं के गुलाम बने हुए हैं, उन्हें संयम और समतापूर्ण जीवन का आभास भी नहीं हो सकता है अर्थात् मनुष्यपर्याय को अमूल्य रत्न जानकर आत्महित में प्रयत्न करना चाहिए।

निः संगिनोऽपि वृत्ताढ्या, निस्नेहाः सुश्रुतिप्रियाः।
अभूषापि तपोभूषास्ते पात्रं योगिनः सदा ॥२०१॥

अर्थ :– जो परिग्रहरहित होने पर भी चारित्र के धारी हैं, जगत् के पदार्थों से स्नेहरहित हैं, तो भी जिनवाणी के प्रेमी हैं, भूषणरहित हैं तो भी तपरूपी आभूषण के धारी हैं ऐसे योगी सदा उत्तम पात्र हैं।

विशेषार्थ :– जैन दिगम्बर साधु उत्तम पात्र हैं, जिन्होंने वस्त्रादि सर्व परिग्रह का त्याग कर दिया है तथापि पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति रूप तेरह प्रकार चारित्र के धनी हैं। स्त्री, पुत्र, कुटुम्बादि के स्नेह को छोड़कर अलग हो गये हैं तो भी आत्मज्ञान की वृद्धि-हेतु सच्चे शास्त्रों के पठन, पाठन, मनन, चिंतवन में बड़ी ही प्रीति रखते हैं। यद्यपि उनके शरीर पर कोई गहना आदि नहीं है तो भी उपवास आदि बारह तपों के साधन से विभूषित हैं। ऐसे ही योगी उत्तम पात्र हैं।

मोक्षार्थी प्राणी तो हर समय अपनी भावना इन शब्दों में व्यक्त करते हैं कि हे प्रभो ! वह दिन कब आएगा; जब मैं स्वतंत्र, निःस्पृह, शान्त, पाणिपात्रभोजी, दिगम्बर मुनि बनकर कर्म नाश करने में समर्थ होऊंगा। यह बात विशेष रीति से हृदयगम करने की है कि शरीर का दिगम्बरत्व साध्य नहीं परन्तु साधन है। इसके द्वारा उस उत्कृष्ट अहिंसात्मक वृत्ति की उपलब्धि होती है जो अखण्ड शान्ति और सर्व-सिद्धियों का भण्डार है। यथार्थ में, दिगम्बरत्व मोक्ष का मार्ग है, आचार्यों ने कहा है कि शारीरिक दिगम्बरत्व के साथ-साथ मानसिक दिगम्बरत्व को भी आवश्यकता है यदि कोरी शरीर की नग्नता साधन न होकर साध्य होती तो दिगम्बर की मुद्रा से अंकित पशु-पक्षी आदि

सभी प्राणियों को मुक्त होते देर न लगती। परन्तु जो व्यक्ति इस बात का स्वप्न देखते हैं कि वस्त्रादि होते हुए भी श्रेष्ठ अहिंसावृत्ति का रक्षण हो सकता है, उन्हें सोचना चाहिए कि वे बाह्य वस्तुओं में ममत्व होते हुए कैसे मोहरहित हो सकते हैं। अंतरंग और बहिरंग दोनों प्रकार का दिगम्बरत्व कार्यकारी है।

यैर्ममत्वं सदा त्यक्तं, स्वकायेऽपि मनीषिभिः।
ते पात्रं संयतात्मानः, सर्वसत्वहिते रताः ॥२०२॥

अर्थ :– जिन संयमी महात्माओं ने अपने शरीर से भी सदा के लिए ममता छोड़ दी है और जो प्राणी मात्र के हित में लवलीन हैं, वे ही पात्र हैं।

विशेषार्थ :– निर्ग्रन्थ साधु उत्तम पात्र हैं। वे शरीर के राग के भी त्यागी हैं। शरीर संयम का साधक है। इसके सहारे से तप किया जाता है, इसलिए वे शरीर को जो कुछ रूखा, सूखा भोजन मिल जावे, उसे देकर पालते है। जो ऐसे दयावान हैं कि एकेन्द्रिय स्थावर वृक्षादि को भी कष्ट नहीं देते हैं, देखकर चलते है, पुस्तक, पीछी, कमण्डल उठाते-धरते भी सावधानी रखते है, प्राणी मात्र के हितैषी हैं, सबको सत्यधर्म का उपदेश देते है, पांचों इन्द्रियों व मन को वश में रखने वाले हैं तथा सामायिकादि संयमों को भले प्रकार पालते है, ऐसे ही महात्मा उत्तम पात्र है। उनको वड़ी भक्ति से दान करके गृहस्थ को अपना जन्म सफल मानना चाहिए।

मानवों का कर्त्तव्य है कि वे 'सादा जीवन और उच्च विचार' के सिद्धान्त को अपनाएँ। उच्च विचारों के लिए जीवन में सादगी अपनाना आवश्यक है। सात्विकता का प्रभाव जीवन को सरल, निरभिमान, चारित्र-सम्पन्न और नैतिकतावादी बनाता है। पुरातन काल में जितने महापुरुष हुए हैं उनका जीवन अत्यन्त सात्विक था। सात्विकता में अहिंसा का निवास है। इसके बिना आहार-पान सम्बन्धी तथा

चारित्र की शुद्धि अशक्य है, इतना ही नहीं सभी उत्तम संस्कार सात्विकता की ओर प्रवृत्त करते हैं। संसार में सात्विकता वह शुद्ध हवा है जो प्राणियों को एक नई पुलक और उल्लास से भर देती है। इसलिए जिन्हें आत्मकल्याण के मार्ग पर आना है या महान् बनना है तथा जन्म-मरण से छुटकारा पाना है, उन्हें सात्विक बनना ही होगा।

सात्विकता का अर्थ है, सीमा में रहना, किसी को कष्ट न देना अर्थात् मानवता को अपनाना; वास्तव में, मनुष्य के व्यवहार, चारित्र, आहार-पान, बात-चीत और समस्त कार्यकलापों पर उसकी सात्विकता का प्रभाव पडता है; सात्विक जीवन गो-दुग्ध के समान निर्मल और प्राणों को स्फूर्ति देने वाला है। इसीलिए दिगम्बर साधु अपने शरीर से भी ममता छोड़ते हैं और सादा जीवन व्यतीत करते हैं। यह शरीर संयम का साधन है, इसके द्वारा जितना संयम-तप आदि धारण किया जाए उतना ही कम है। वे प्राणीमात्र पर अनुकम्पा (दया) भाव रखते हैं तथा प्राणियों को ज्ञान प्रदान कर उनका हित करते हैं। वे हर समय अपने व्रतों की सुरक्षा के लिए जागरूक रहते हैं तथा पूर्वोपार्जित कर्मों के उदय काल में समता धारण करते है; इसीलिए तो उन्हें समदर्शी कहते हैं, उनके विचारों में बड़ी निर्मलता और पवित्रता रहती है।

परीषहजये शक्तं, शक्तं कर्मपरिक्षये।
ज्ञानध्यानतपो भूषं, शुद्धाचरणपरायणं ॥२०३॥
प्रशान्तमानसं सौख्यं, प्रशान्तकरणं शुभं।
प्रशान्तारिमहामोहं, कामक्रोधादिसूदनम् ॥२०४॥
निन्दास्तुतिसमं धीरं, शरीरेऽपि च निस्पृहं।
जितेन्द्रियं जितक्रोधं, जितलोभमहाभटम् ॥२०५॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तं, सिद्धिसंगमनोत्सुकम्।
ज्ञानाभ्यासरत नित्यं, नित्यं च प्रशमे स्थितम् ॥२०६॥
एवंविधं हि यो दृष्ट्वा, स्वगृहाङ्गणमागतम्।
मात्सर्यं कुरुते मोहात्, क्रिया तस्य न विद्यते ॥२०७॥

अर्थ :– जो बाईस परीषहों के जीतने में समर्थ हों; कर्मों का क्षय करने के लिए उद्यमशील हों; जिनका आभूषण ज्ञान, ध्यान, तप हो; जो शुद्ध चारित्र के पालने में लवलीन हों; जिनका मन शान्त हों; जो आनन्दमय हों; जिनकी पांचों इन्द्रियों की इच्छाएँ शान्त हो; जो शुभ आचरणों के कर्त्ता हों; जो महान् मोहरूपी शत्रु को शान्त कर चुके हों; जो काम क्रोधादि के नाशक हों; जो अपनी निन्दा और स्तुति में एक समानभाव के धारी हों; क्षमाशील धैर्यवान हों; अपने शरीर से भी विरागी हों; इन्द्रियों के विजयी हों; जो क्रोध को जीतने वाले हों; जिन्होंने लोभरूपी महान् योद्धा को जीत लिया हो और जो राग-द्वेष से रहित हों, सिद्धि अर्थात् सिद्ध गति की संगति पाने के लिए मन में बड़े उत्सुक हों, नित्य शास्त्रज्ञान के अभ्यास में रत हों, नित्य ही शान्ति में रमते हों; ऐसे महान् योगी को अपने घर के आंगन तक आया हुआ देखकर भी जो कोई मोह के वशीभूत होकर उनके प्रति ईर्षा करता है, तथा उनका सत्कार नहीं करता है, उन्हें दान नहीं देता है वह सचमुच में श्रावक की क्रिया से रहित है।

विशेषार्थः–ऊपर लिखे गुणों से विशिष्ट, महान्, वैरागी, निस्पृही, आत्म ज्ञान और ध्यान में रत निर्ग्रन्थ साधु का जो सन्मान नही करता है, वह स्वयं मिथ्यादृष्टि है तथा धर्मक्रियाओं से शून्य है। वह दान का मार्ग नहीं जानता है। आज मानव यदि समीचीन दृष्टि से देखें और सोचे तो उन्हें इस बात को मानना होगा कि सारे विश्व में यदि कोई धर्म है तो वह अहिंसा ही है। उस अहिंसा धर्म के सच्चे धारक यदि कोई है तो दिगम्बर साधु है, जिनके त्याग और तपश्चर्या से संसार प्रभावित है; परन्तु पापोदय से आज जैन समाज में भी ऐसे-ऐसे जीव उत्पन्न हो गये हैं कि उनकी दृष्टि उन महासाधुओं के विद्यमान गुणों की ओर न जाकर मात्र गलतियों की ओर ही जाती है। इस विषय में आचार्यों ने कहा है कि—

दोषान् गृह्णन्ति यत्नेन, गुणांस्त्यजन्ति दूरतः ।
दोषग्राही गुणत्यागी, चालणीरिव दुर्जनः ॥

दुर्जन लोग चालणी की तरह सार वस्तु को तो छोड़ देते हैं और दोषों को ग्रहण करने में बड़े चतुर होते हैं। प्राणियों को दुराग्रह छोड़कर विचार करना चाहिए कि इस गलत दृष्टि से सिवाय आत्मा के पतन के और क्या होगा ? तत्त्वदृष्टि से विचारने पर मालूम होगा कि मेरी आत्मा ज्ञानमय है, अविनाशी है, शान्त है अर्थात् मैं तो ज्ञान-दर्शन-स्वरूप हूं। इसके अलावा शेष पदार्थ मुझ से भिन्न हैं; वे संयोग लक्षण वाले हैं; बाह्य पदार्थों का मेरी आत्मा के साथ तादात्म्यभाव नहीं है। जो इस जीव का ध्यान राग-द्वेष मोहादि विषधरों से व्याप्त जगत् की ओर खींचते हैं, वे सचमुच में इस आत्मा को जन्म-मरण आदि के संकटों से नहीं छुड़ा सकते हैं।

आध्यात्मिक प्रकाश की उपलब्धि के लिए मनुष्य को अपना अन्तःकरण सम्यग्दर्शन से समलंकृत करना चाहिए। उसे सर्वज्ञ, वीतराग, हितापदेशी प्रभु की शरण ग्रहण करना चाहिए, सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान तथा साथ में सम्यक्चारित्र का होना भी जरूरी है। आचार्यों ने इन्हें रत्नत्रय कहा है तथा इन्हें ही मोक्षमार्ग बताया है। इनकी श्रेष्ठ साधना इस युग में किन्हीं विरले पुरुषों के ही होती है। शारीरिक परिस्थिति, बाह्य वातावरण तथा श्रेष्ठ मनोजय इस साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। इसके लिए भगवान की बताई हुई द्रव्य दृष्टि निश्चय और व्यवहार (पर्याय) दृष्टि से निष्पक्ष होकर देखना होगा। परन्तु कोई-कोई व्यक्ति व्यवहार दृष्टि को छोडकर मात्र निश्चय दृष्टि को अपनाते देखे जाते हैं क्योंकि उनकी धारणा है कि व्यवहार नय मिथ्या है। इस विषय में उन भाइयों को हठ छोड़कर आचार्यों के वाक्यों को देखना चाहिए।

आचार्यों ने कहा है कि स्याद्वादवाणी का अंग होने से दोनों नय सम्यक् है। इसीसे उन्होंने व्यवहार का परित्याग नहीं किया। वास्तव में, व्यवहारपूर्वक निश्चय होता है; परन्तु आश्चर्य है कि कई लोग

व्यवहार-निश्चय का आगम-सम्मत अर्थ जाने-बूझे बिना व्यवहार की निन्दा के क्षेत्र में कूद पड़ते हैं। उन्हें जानना चाहिए कि निश्चय नय के समान व्यवहार नय भी सम्यग्ज्ञान का अग है। वस्तु भेद (पर्यायदृष्टि) तथा अभेद (द्रव्यदृष्टि) रूप है तथा सामान्य-विशेष धर्मरूप है। व्यवहार तथा निश्चय ये दो मूल नय हैं, निश्चयनय अभेद को ग्रहण करता है; व्यवहारनय भेद को विषय करता है। भेद तथा अभेद, दोनों प्रमाण के विषयभूत होने से यथार्थ हैं, काल्पनिक नहीं हैं। भेद तथा अभेद दोनों अस्तित्वरूप है; क्योंकि वे प्रमाणज्ञानगोचर हैं; वे मुख्य तथा गौण विवक्षारूप से एक जगह पर अविरोधी रूप में पाए जाते हैं।

कुछ भाई यह भी कहते सुने जाते है कि पाप-पुण्य दोनों समान हैं अर्थात् पाप भी त्याज्य है और पुण्य भी त्याज्य है। ऐसा कहने वाले भाई आचार्यो की द्वादशांगवाणी की गंभीरता को भुलाकर बालबुद्धि से अपने को सरस्वती-पुत्र मानकर आचार्यों के कथन को भी सदोष बताते हैं। इस विषय में सोचो कि जब पुण्य त्याज्य है तब पुण्य के कारण दान, पूजादि कार्य भी अग्राह्य हो जाते हैं; ऐसी धारणावाला देवपूजा, दानादि, सत्कार्यो को छोड़कर अपने जीवन की मलिनता का परित्याग नहीं करता है। इस विषय में एकान्त पक्ष को छोड़कर विवेकीजनों को अनेकान्ती बनना चाहिए। आत्मकल्याण के प्रेमियों को अपनी भ्रम-पूर्ण पंथगत धारणा में सुधार करना चाहिए। यह बात तो स्थूल-बुद्धि वाले व्यक्ति भी सोच सकते हैं कि पूर्वकाल में बड़े-बड़े आचार्यों ने श्रावकों के लिए दान-पूजादि षट्कर्म करके आत्महित करने का उपदेश दिया था; परन्तु पक्षान्ध लोग अपनी स्वतन्त्र धारणा से अपने हिताहित को न जानकर मनमानी प्रवृत्ति करते हैं।

आचार्यों ने कितने सुन्दर ढंग से समझाया है कि हे भाई! जगत् में शुभ परिणामों को पुण्य का कारण कहा है और अशुभ परिणामों को पाप का कारण कहा है। इन दोनों से भिन्न शुद्धभाव संसार-

क्षय का कारण है, फिर भी कई व्यक्ति केवल शुद्धोपयोग की ही बातें करते हैं, फलतः शुभोपयोग छोड़ा, शुद्धोपयोग मिला नहीं तो पारिशेष न्यायानुसार अशुभोपयोग के कुपथ में भटकते हैं। वे स्वयं आगमविरुद्ध विचारचक्र में फंसते हैं और भोले धार्मिक जनों को भी अपने रास्ते पर खींचने का उद्योग करते फिरते हैं; यह मार्ग ठीक नहीं है। जो गृहस्थ अपने पद के योग्य सामान्य सदाचार को भूलकर अशुभोपयोग में लीन रहते हैं, शुद्धोपयोग की बातें करते हैं तथा शुभोपयोग को त्याज्य कहते हैं, वे पाप पंक में डूबते हैं। देखो ! जब आगम कहता है कि गृहस्थावस्था में शुद्धोपयोग नहीं होता है तब उन्हें आगम की आज्ञा को शिरोधार्य करना ही श्रेष्ठ है। यदि अपने अविवेक से वस्तुस्थिति को न समझकर मन-घड़न्त आगम-विरुद्ध मान्यता को ही पक्षपात के व्यामोह में फंसकर मान्यता देंगे तो आत्म-वञ्चना ही करेंगे। इस विषय में आचार्यों का यह सुन्दर चित्रण समझने लायक है—

त्यक्तपुण्यस्य जीवस्य, पापास्रवो भवेद् ध्रुवम्।
पापबन्धो भवेत्तस्मात्, पापबंधाच्च दुर्गतिः॥

यदि कोई गृहस्थावस्था में पुण्य को छोड़ेगा तो उसके निश्चय ही पाप का बन्ध होगा; पाप बन्ध होने से नियम से दुर्गति होगी। ऐसा आचार्यों का स्पष्ट कथन है। अतः प्राणियों को निरन्तर भगवान की वाणी पर विश्वास करना चाहिए तथा भ्रमरूपी वन में नहीं भटकना चाहिए।

आज कई लोग दयामूर्त्ति दिगम्बर साधुओं के विषय में भी कहते हुए नहीं चूकते हैं कि आजकल इस पंचमकाल में निर्ग्रन्थ साधु नहीं हो सकते और जो साधु दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे सब द्रव्यलिंगी हैं; परन्तु उन्हें आगम के रहस्य को जानना चाहिए कि सर्वज्ञ भगवान की वाणी है कि इस पंचमकाल के अन्त तक सम्यग्दृष्टि भावलिंगी साधुओं का सद्भाव रहेगा, फिर भला ! वे लोग किस आधार से ऐसी निराधार बात करते हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि इसी पंचमकाल में बड़े-बड़े आचार्य हो गए जिनके नाम-स्मरण से अनेक जन्मों का पाप नष्ट हो

जाता है; इसी पंचमकाल में आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, वीरनन्दी, पूज्यपाद, गुणभद्र, सोमदेव आदि ने जन्म लिया है और जैन धर्म की पताका संसार में फहराई है।

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागरजी, वीरसागरजी, चन्द्रसागरजी, महावीरकीर्त्तिजी, शिवसागरजी आदि अनेक साधु भी इसी पंचमकाल में हुए हैं और वर्त्तमान में आचार्य श्री धर्मसागरजी आदि अनेक महासाधु भारत के कोने-कोने में जैनधर्म का डंका बजा रहे हैं। फिर भी वे लोग कहते हैं कि इस पंचमकाल में साधु नहीं होते। यह हठपूर्ण अज्ञान ही है; उनके पाप का उदय समझना चाहिए। आगम में इस बात को आचार्यो ने स्पष्ट लिखा है कि जो प्राणी देव, शास्त्र, गुरु को देखकर उनका विनय आदि नहीं करता है तो समझ लो या तो वह अभव्य है या अनन्तानुबन्धी से ग्रसित है अन्यथा सवाल ही नहीं उठता कि जैन कुल में उत्पन्न होकर देव, शास्त्र और गुरुओं की निन्दा करे। इसलिए प्राणियों को चाहिए कि वे दिगम्बर साधुओं को देखकर उनकी विनय और वैय्यावृत्य आदि करें। आचार्य सोमदेव ने कितना हृदयग्राही सम्बोधन किया है कि—

काले कलौ चले चित्तं, देहे चान्नादिकीटके।
एतच्चित्रं यदद्यापि, जिनरूपधराः नराः ॥

इस कलिकाल में प्राणियों का चित्त भी चलायमान है और शरीर अन्न आदि का कीड़ा है तथापि आश्चर्य है कि दिगम्बर मुद्रा के धारी विचर रहे हैं।

१५. मोक्षमार्ग-पथिक

मायां निरासिकां कृत्वां, तृष्णां च परमौजसः।
रागद्वेषौ समुत्सार्य, प्रयाता पदमक्षयम् ॥२०८॥

अर्थ :– परम तेजस्वी वीर पुरुष मायाचार और तृष्णा को दूर करके तथा राग-द्वेष का नाश करके अविनाशी मोक्षपद को पहुंचे हैं।

विशेषार्थ :– संसार का मूल कारण तृष्णा है, विषयों की लोलुपता है। इसी हेतु प्राणी मायाचार करते हैं तथा इष्ट पदार्थों में राग और अनिष्ट पदार्थों में द्वेष करते हैं। राग-द्वेष ही कर्मबन्ध के कारण हैं, इन्हीं के नाश से कर्मों का क्षय होता है। सम्यग्दृष्टि धीर-वीर पुरुष साहस करके आत्मबल से आत्मध्यान का अभ्यास करते हैं। क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर चार घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्रगट करते हैं; फिर शेष चार अघातिया कर्मो का भी नाश करके कृत-कृत्य हो अविनाशी स्वात्मस्थिति को प्राप्त करते हैं।

जिन्होंने विषयवासनाओं पर लात मार दी है और आत्महित में प्रवृत्ति की है वे ही पुरुष धन्य हैं। जो लोग विषयों की आशा के वशीभूत हो रहे हैं, उनके ही दुनिया में शत्रु और मित्र होते हैं। जिनके विषयों की आशा नहीं है, जगत् में उनको न तो कोई मित्र होता है और न कोई शत्रु। यह सब कल्पनाजाल है, केवल आशाओं तक ही यह रहता है, जिनके आशा नहीं रहती, उनका सब जाल समाप्त हो जाता है।

संसार के प्राणियों का एक ही ध्येय है कि हमें दुःख न होवे। इस विषय में तनिक सोचो कि दुःखों का कारण है क्या ? इसका सीधा जवाब यही होगा कि पर-वस्तुओं की तृष्णा। आचार्य कहते हैं कि जिसके दुःख हो तो समझलो कि उसके आशा लगी हुई है। यदि आशा न हो तो फिर दुःख नहीं हो सकता है। हां, तृष्णा के रूपों में अन्तर हो सकता है। किसी को किसी वस्तु की आशा और किसी को किसी अन्य की। देखो ! इन आशाओं की वजह से वर्त्तमान में जो पूर्वोपार्जित पुण्य से सम्पदा प्राप्त हुई है, उसका भी सुख नहीं प्राप्त होता है, क्योंकि उनके प्राप्त हुई सम्पदा में संतोष नहीं है। यथार्थ में प्राणियों के दुःखों का कारण यह तृष्णा ही है। अतः इस तृष्णा को मिटाकर संतोष

ग्रहण करो जिससे शान्ति का अनुभव हो सके। सच तो यह है कि मानव को जैसे-जैसे स्वरूप के अवबोध का रस प्राप्त होने लगता है, वैसे-वैसे प्राप्त हुए भी विषय-भोग अच्छे नहीं लगते हैं। देखो ! चक्रवर्ती सम्राट् भरतेश्वर को आत्मचिंतवन में जो आनन्द (रस) प्राप्त होता था, वह राजकीय वैभव के द्वारा लेशमात्र भी नहीं प्राप्त होता था। वस्तुतः तत्त्व का सम्यक् बोध होने पर विवेकी जीव की परिणति में एक नवीन स्फुरण होता है। अतः सांसारिक झंझटों को छोड़कर प्राणियों को संतोष ग्रहण करना उचित है।

धीराणामपि ते धीरा, ये निराकुलचेतसः।
कर्मशत्रुमहासैन्यं, ये जयन्ति तपोबलात् ॥२०६॥

अर्थ :– जो आकुलतारहित चित्त को धारण करने वाले हैं तथा जो तप के बल से कर्मशत्रुओं की महासेना को जीत लेते हैं, वे संसार में धीर पुरुषों में भी बड़े धीर हैं।

विशेषार्थ :– संसार के शत्रुओं को जीतना कोई वीरता की बात नही है। धन्य है वे महापुरुष जो निर्ग्रन्थ होकर आगमानुसार चारित्र पालकर बाईस परीषहों को सहते हुए परम क्षमाभाव के साथ तप करते है और वीतरागता व समता को प्यार करते हुए आत्मानन्द का भोग करते है, उन्हीं के कर्मों की निर्जरा होती है और नवीन कर्मों का संवर होता है। वे मोह को पददलित करते हुए निर्मोह भाव में बढ़ते हुए शुद्ध परमात्मा हो जाते है।

दिगम्बर मुनि का जीवन व्यतीत करने के लिए महान् आत्मबल चाहिए। उज्ज्वल भावनाओं और विषय-विरक्ति की प्रेरणा से तथा महान् पुण्योदय होने पर किसी विरले माई के लाल के मन में बालकवत् निर्विकार, दिगम्बर मुद्रा धारण करने की लालसा जागृत होती है। आचार्यों ने लौकिक वैभव, प्रतिष्ठा, साम्राज्यलाभ आदि से अधिक विशाल सौभाग्य मुनित्व की ओर जानेवाले का बताया है। उन महा-

पुरुषों का जीवन अत्यन्त संयत और सुव्यवस्थित रहता है। वे किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं पहुंचाते हैं, यद्यपि उनके गमनागमन, श्वासोच्छ्वास आदि में प्राणिघात अनिवार्य है, तथापि वे यथाशक्ति रागद्वेष आदि विकारों को दूरकर आत्मनिर्मलता की पूर्णतया रक्षा करते हैं। उत्तम रीति से सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य महाव्रत का भी पालन करते हैं। वे सत्पुरुष संकट के समय सोचते है कि वास्तव में, मैं मोक्षस्वरूप हूँ, अविनाशी हूँ, आनन्द का भण्डार हूँ, कल्याण-स्वरूप हूँ। इस तरह आत्मा को अखण्डता पर, अमरता पर विश्वास रखकर नश्वर जगत के संयोग-वियोगजनित पदार्थों में वे हर्ष-विषाद नहीं करते हैं। इस प्रकार वे अपने जीवन को सुधारने का प्रयत्न करते हैं।

परीषहजये शूराः, शूराश्चेन्द्रियनिग्रहे ।
कषायविजये शूरास्ते शूरा गदिता बुधैः ॥२१०॥

अर्थ :– जो क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहों के जीतने में वीर हैं; पाँचों इन्द्रियों को वश में रखने में धीर हैं तथा जो क्रोधादि कषायों के जीतने में योद्धा हैं, बुद्धिमानों के द्वारा संसार में वे ही सच्चे वीर कहे गये हैं।

विशेषार्थ :– इस संसार में संसारी प्राणियों के मुख्य बैरी विषय तथा कषाय हैं। सहनशीलता रखना बड़ा ही दुर्लभ है। आपत्तियों के आने पर आकुलता न होना बड़ा ही साहस का काम है। जो महान् पुरुष संकट पड़ने पर भी वज्र के समान धीरवीर बने रहते हैं, उत्तमक्षमादि दशलक्षण धर्म के प्रभाव से या व्यवहार रत्नत्रय के द्वारा निश्चय रत्न-त्रयमयी आत्मानुभव का अभ्यास करते है तथा विषयकषायों को जीत लेते हैं वे ही सच्चे वीर है, वंदनीय हैं, पूजनीय हैं।

संसार में विसंवाद को जनक कषाय व लिप्सा ही है, इनका शमन करना ही कल्याण का समीचीन मार्ग है। क्रोध के समान संसार में कोई

दूसरा शत्रु नही है। इसी के प्रभाव से मित्रता का अभाव हो जाता है तथा दुर्भाग्य भी खिचा चला आता है। देखो! संसार के अज्ञानी प्राणी कोपावेश में क्षमागुण का नाश करके करने योग्य कार्यों को छोड़ते हुए बड़े जनों की विनय को भी तिलाञ्जलि देकर यद्वा-तद्वा, अपशब्दों का प्रयोग करने लगते है। इसलिए विवेकीजनों का कर्त्तव्य है कि वे क्षमा को अपनाएँ, इससे शान्ति प्राप्त होती है।

वास्तव में, आत्मा में तो क्षमा ही है परन्तु बाहरी कारणों से तथा पूर्वोपार्जित कर्मो के उदय से यह आत्मा अपने स्वभाव से च्युत होकर क्रोध "विभाव" को अपनाता है, जिससे अपनी स्वाभाविक शान्ति भंग कर लेता है। जिस प्रकार स्वर्ण को पारे का सम्पर्क मिल जाता है तो वह स्वर्ण अपने पीतत्व को छोड़कर श्वेतता को प्राप्त होता हुआ अपनी असलियत गँवा वैठता है परन्तु जव कालान्तर में उसका सम्पर्क छूट जाता है तो वही स्वर्ण अपने स्वभाव में आकर अपनी धाक जमा लेता है। उसी प्रकार हे भाई! यह आत्मा यथार्थ में तो क्षमाशील है, परन्तु परपदार्थो के कारण क्रोधायमान सा लगता है। समझदार व्यक्ति तो इन पर-वस्तुओं से छूटने का ही लक्ष्य रखते हैं, लेकिन अज्ञानीजन रात-दिन इन सांसारिक वस्तुओं का संग्रह करने में ही लगे रहते हैं। वास्तव में, अपनी कमी की ओर लक्ष्य देने वाले प्राणी ही कल्याण के मार्ग में अग्रसर हो सकते हैं।

नादत्तेऽभिनवं कर्म, सच्चारित्रनिविष्टधीः।
पुराणं निर्जयेद्वाढं, विशुद्धध्यानसंगतः॥२११॥

अर्थ :- सम्यक्चारित्र के पालने में जिसकी वुद्धि लवलीन है वह ज्ञानी निर्मल वीतराग ध्यान की संगति से नवीन कर्मों का आस्रव नही करता है तथा पुराने कर्मों की अत्यधिक निर्जरा करता है।

विशेषार्थ :- व्यवहारचारित्र के द्वारा स्वरूपाचरणरूप निश्चय-चारित्र या आत्मरमणरूप ध्यान ही वास्तव में मोक्ष का मार्ग है। जिस

उपाय से नवीन कर्मों का संवर हो और पूर्वबद्ध कर्मों की अत्यधिक निर्जरा हो वही मुक्ति का उपाय है। अतएव तत्त्वज्ञानी जीव पूर्ण समता-भाव के साथ प्रयत्नपूर्वक आत्मध्यान का दृढ़ता से अभ्यास करते हुए आत्मशुद्धि करते हैं, ऐसे धीर-वीर पुरुष धन्य हैं।

संसार के प्राणी निरन्तर कर्मों का आस्रव करते हैं और बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं फिर जन्म-मरण के चक्कर में आ जाते हैं; आचार्यों ने इसी को संसार कहा है "संसरणं संसारः" संसार उसी को कहते हैं जिसमें जीव संसरण या भ्रमण करता रहता है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था को धारता है, उसको छोडकर फिर अन्य अवस्था को धारता है। इसीलिए आचार्यो ने कहा है कि संसार में स्थिरता नहीं है, ध्रुवता नहीं है, निराकुलता नहीं है अर्थात् संसार दुःखों का सागर है।

संसार के प्राणियों को शारीरिक और मानसिक दुःख घेरे हुए रहते हैं, शारीरिक दुःख– जैसे जन्म-मरण करना, वृद्ध होना, रोगी-होना, अशक्त होना, भूख-प्यास से पीड़ित होना, सर्दी गर्मी से व्याकुल होना इत्यादि कहाँ तक कहा जावे। ठीक इसी प्रकार मन-सम्बन्धी दुःख होते हैं जैसे इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग, परायी सम्पत्ति अधिक देखकर ईर्षा-भाव से संतापित रहना, बहुत धनादि की प्राप्ति की तृष्णा से आकुलित रहना, अपनी हानि करने वालों पर द्वेष व क्रोधभाव से कष्ट पाना, संताप व कष्ट-दातारों से भयभीत रहना आदि मानसिक दुःखों से मानव भारी दुःख का अनुभव करते हैं। इस प्रकार शारीरिक और मानसिक दुःखों से भरा होने पर भी यह संसार मोही और अज्ञानी जीवों को सब्ज लगता है, यह सब अज्ञान और मोह का माहात्म्य है। ऐसे संसार के विषय में ज्ञानी प्राणी सोचते हैं कि संसार के नाशवत पदार्थो से, भोगों से तृष्णा की दाह शमन होने वाली नहीं, मैं तो ज्ञाता-द्रष्टा आत्मा हूँ मेरा कर्त्तव्य है कि इस प्रपंचजाल से निकलकर स्वतन्त्र हो जाऊ। यदि समय रहते मैंने अपना कल्याण नहीं किया तो फिर मैं भी सामान्य जीवों की तरह आत्मकल्याण से वञ्चित ही रहूँगा।

संसारावासनिर्वृत्ताः, शिवसौख्यसमुत्सुकाः ।
सद्भिस्ते गदिताः प्राज्ञाः, शेषाः स्वार्थस्य वंचकाः ॥२१२॥

अर्थ :– सज्जन पुरुषों द्वारा वे ही बुद्धिमान एवं पण्डित कहे गये हैं जो संसार-भ्रमण से उदास हैं तथा कल्याणमय मोक्ष-सुख के लिए अत्यन्त उत्साही हैं, शेप सब जीव अपने आत्मा के पुरुषार्थ को ठगने वाले हैं।

विशेषार्थ:– संसार में वे ही पण्डित व विद्वान हैं जो भेदज्ञान द्वारा यह निर्णय कर चुके हैं कि चार गतिरूप संसार का वास त्यागने लायक है और मोक्ष का निराकुल धाम ग्रहण करने लायक है। ऐसा निश्चय करके वे संसार से वैरागी होकर व मोक्ष के प्रति उत्साही होकर सम्यक्-चारित्र का भले प्रकार पालन करते हैं; परन्तु जो केवल शास्त्रों को जानते हैं तथा उपदेश करते हैं परन्तु संसार से न वैरागी हैं और न मोक्ष के लिए उद्यमशील हैं वे अपने को ठगा रहे हैं; जान-बूझ कर भी आत्मकल्याण से विमुख हैं।

यथार्थ में, जिनेन्द्रभगवान की वाणी ही परमौषधिरूप है। यह विपयसुखों का त्याग कराती है, अमृतरूप है, जरा-मरण-रूपी व्याधि को दूर करती है तथा सब दुःखों का नाश करती है। जिनेन्द्रवाणी विश्व की सम्पत्ति है। प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वह इस अभयप्रद अमृतवर्पिणी वाणी के रसास्वादन द्वारा अपने जीवन को मंगलमय बनावे। वीतराग का शासन प्राणीमात्र के लिए हितरूप है। पुराने समय में वह राष्ट्र-धर्म था। आज सांप्रदायिक संकटों तथा धर्मान्धों के अत्याचारों के कारण इसके आराधकों की संख्या भले ही कम हो गई हो, लेकिन संसार को संकटों से बचाने के लिए यही हितकारी है, समर्थ है। इसलिए जिनवाणी की महत्ता को हृदयंगम करने वाले व्यक्तियों का कर्त्तव्य है कि इस आत्मोद्धारक तत्त्वज्ञान के रसास्वादन से अपने जीवन को उन्नत करें तथा जगत् को भी इस ओर आकर्पित करें, ताकि प्राणियों का कल्याण हो सके। इस कार्य में निराशा के लिए स्थान नहीं है। सत्कार्यों के लिए प्रयत्न सतत चलते रहना चाहिए।

आज विश्व में चारों ओर त्राहि-त्राहि मच रही है, उसका मूल कारण यह है कि जड़वाद के राक्षस ने युद्ध और संग्रहवृत्ति के रूप में जगत् को जोर से जकड़ लिया है। तत्त्व की बात तो यह है कि अहिंसात्मक जीवन के लिए प्राणियों को कुछ त्याग एवं समर्पण करना होगा। जब तक विषय-लोलुपता से मुख नहीं मोड़ा जाएगा, तब तक कल्याण के मंदिर में प्रवेश नहीं हो सकता। संसार से भयभीत मानवों को उत्साहपूर्वक आत्म-कल्याण में लग जाना चाहिए वरना समय निकल जाने पर पश्चात्ताप ही शेष रहेगा।

समतां सर्वभूतेषु, यः करोति सुमानसः।
ममत्वभावनिर्मुक्तो, यात्यसौ पदमव्ययम् ॥२१३॥

अर्थ :– जो शुद्ध मनधारी मानव ममता भाव को छोड़कर सर्व प्राणीमात्र पर समताभाव रखता है वह मोक्ष का अविनाशी पद प्राप्त कर लेता है।

विशेषार्थ :– मोक्षमार्ग आत्मज्ञानपूर्वक वीतराग भाव में है। वीतरागता तभी प्राप्त होती है जब सर्व जगत् के पदार्थों से ममत्व हटा लिया जाए और सर्व संसार के प्राणियों को निश्चय नय से एक समान शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा, अविनाशी, वीतरागमय देखा जाए तब किसी से न राग रहेगा, न किसी से द्वेष। समताभाव सहित वर्तने से आत्मध्यान की वृद्धि होती है और सवर विशेष होता है तथा पूर्वबद्ध कर्मों की विशेष निर्जरा होती है। ऐसा जानकर मुमुक्षु को साम्यभाव का अभ्यास करना चाहिए।

सुख आत्मा का मित्र है और दुःख कर्मों का सहचर। अज्ञानी मानव दुःखों को बढ़ाने वाले कामों में तो रात दिन लगे रहते हैं; परन्तु अपनी आत्मा के निर्मल सरोवर में खिले हुए सुखरूप कमलों की ओर दृष्टिपात भी नही करते। नीतिकारों ने कहा है कि पर-पदार्थों में ममत्वभाव दुःख है, पराधीनता दुःख है, जबकि निज स्वभावमें रमण

करना सुख है। स्वतन्त्रता सुख है। स्वतन्त्रता का अर्थ आत्माधीन होना है।

यदि सुख को साकार देखना चाहते हो तो किसी भूखे को रोटी दो; दुःखी की सहायता करो, गिरे हुए को उठाओ, अस्पतालों में बीमारों के पास जाकर उनकी दवा करो तथा उनकी मदद करो। जब तुम इस प्रकार दुःखी प्राणियों की आँखों में दर्पण की तरह देखोगे; तब रोमांच होते हुए अपने भीतर तुम्हें सुख का अनुभव होगा। मानव सुख और दुःख को अपने ही विचारों में जन्म देता है, यदि सोचा जाए तो सुख-दुःख नामकी तो कोई वस्तु संसार में है ही नहीं, यदि है तो बताओ वे कैसी है ? उनका रंग-रूप कैसा है ? कहां मिलती हैं ? और क्या भाव मिलती हैं ? उत्तर होगा कि हमने तो आज तक सुख-दुःख नाम के पदार्थ को देखा नहीं। सारांश यह है कि जहां समता है संतोष है वहां सुख ही सुख है और जहां ममता है, आशा-तृष्णा है वहां मात्र दुःख ही है।

आज मानवों के हृदय में यदि प्राणीमात्र के प्रति अनुकम्पा, दया, करुणा तथा समता की भावना प्रतिष्ठित हो जाए तो आन्तरिक साम्य की स्थापना हो सकती है। आज के युग में सहयोग, परस्पर सहायता, सहानुभूति, ऐक्य, उदारता, प्रेम, प्रामाणिकता, संतोष, स्पष्टवादिता, निर्भीकता, स्वस्त्रीसंतोष, संयम सदृश सद्गुणों की यदि अभिवृद्धि हो जाय, तो संसार में सुख-शान्ति का राज्य स्थापित हो सकता है।

इन्द्रियाणां जये शूराः, कर्मबन्धे च कातराः।
तत्त्वार्थाहितचेतस्काः, स्वशरीरेऽपि निस्पृहाः ॥२१४॥

परीषहमहारातिवननिर्दलनक्षमाः।
कषायविजये शूराः, स शूर इति कथ्यते ॥२१५॥

अर्थ :– जो पांचों इन्द्रियों को जीतने में वीर हैं, कर्मों के बाँधने में कायर हैं अर्थात् कर्मबन्ध से भयभीत हैं, तत्त्वार्थ के मनन में जिनका मन

लवलीन है जो अपने शरीर से भी मोह रहित हैं, बाईस परीषहों रूपी शत्रुओं के वन को नाश करने में समर्थ हैं, कषायों को जीतने में शूर हैं वे ही शूरवीर कहे गए हैं।

विशेषार्थ :– महाव्रती निर्ग्रन्थ आचार्य, उपाध्याय और साधु संसार से परम वैरागी, जितेन्द्रिय, तत्त्वों के अभ्यासी, परीषहों को जीतने-वाले, वीतरागी होते हुए भी ऐसे उत्तम ध्यान का अभ्यास करते हैं जिससे कर्मों की निर्जरा हो जाती है और आत्मा की शक्ति बढ़ जाती है। वे ही सच्चे वीर योद्धा हैं।

संसारी प्राणी अनादि से शरीररूपी कावड़ द्वारा कर्मभार ढो रहा है। जिस प्रकार खान से निकाला गया सुवर्ण किट्टकालिमादिविकृतिसहित पाया जाता है, पश्चात् अग्नि तथा रासायनिक द्रव्यों के निमित्त से विकृति दूर होकर शुद्ध सुवर्ण की उपलब्धि होती है, ठीक उसी प्रकार यह आत्मा अनादि से कर्मों से मलिन होकर नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करता आया है। यदि कोई महापुरुष आत्मश्रद्धा, आत्मबोध एवं तपश्चर्या के द्वारा कर्मों की मलिनता का नाश कर दे तो यह आत्मा शुद्ध सुवर्ण की तरह शुद्ध आत्मा (परमात्मा) बन सकता है। परन्तु जो प्राणी आत्मसाधना के मार्ग में नहीं चलता है, वह प्रगति-हीन जीव सदा दुःखों का भार उठाता रहता है।

संसार के प्राणी मृत्यु के समय अपने अज्ञान भावों से किस तरह अपना पतन करते हैं और अपने संसार को दीर्घ बनाते हैं, इस विषय में कितना सुन्दर चित्रण है ! अज्ञानी मोही प्राणी मरते समय विलाप करता है कि हाय-हाय ! अब मैं स्त्री, पुत्र तथा कुटुम्ब को छोड कर कैसे जाऊं, इनके दूसरा कौन है, मेरे बिना ये कैसे रहेंगे; इस प्रकार प्रचुर दु.ख को प्राप्त करता हुआ आँख और मुंह खोलकर यह प्राणी मर जाता है। संक्लेश परिणामों से मरकर नियम से दुर्गति में जाता है। यदि मानव भेद-ज्ञान को अपनाकर शरीर आदि इन पर वस्तुओं को अपना न जानकर साम्यभाव से मरण करे तो उसका संसार का

किनारा आ जाता है। वास्तव में, ज्ञानी और अज्ञानी का यही अन्तर है। अतः ज्ञानी प्राणी विचार करता है कि वास्तव में मैं तो मात्र अपनी आत्मा का ही स्वामी हूँ, दूसरे जितने भी पदार्थ दिख रहे हैं इनसे मेरा वास्ता नहीं है; सारांश यह है कि ज्ञानी आत्मा पर-पदार्थों में राग नहीं करता। जिसके पास सूर्य का उजाला है उसे दीपक की क्या आवश्यकता? उसकी तो केवल एक शुद्ध-दृष्टि रहती है, वह जानता है कि संसार में पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, सुख-दुःख के अलावा और है ही क्या? जबकि मैं इन सबसे निराला ज्ञानसम्पन्न आत्मा हूँ। इस प्रकार की दृष्टि होने से प्राणी संसार में ज्यादा नहीं ठहरता अर्थात् कर्मों को काट कर मुक्तावस्था को प्राप्त हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिन महापुरुषों ने अपनी दृष्टि बाहर से हटाकर अन्तर्मुखी बना ली है वे धन्य हैं; संसार में वे ही शूरवीर हैं।

देखो! विश्व के लोकोत्तर वैभव का अधिपति भरतेश्वर प्रभात में जागते ही धर्मक्रियाओं को करता था तथा धर्मज्ञों के साथ धर्म के विषय में चर्चा करता था; पश्चात् अर्थ-कामपुरुषार्थ संपत्ति के विषय मे अमात्यवर्ग के साथ विचार करता था, आज तुच्छ वैभव की वृद्धि मे साधारण मानव अपनी आत्मा को पूर्णतया भूलकर कोल्हू के बैल की जिन्दगी का अनुकरण करते दिखाई दे रहे हैं। चक्रवर्ती सम्राट भरत सदा धर्म की प्रधान चिन्ता करते थे क्योंकि उसमें विचक्षण को विलक्षण आल्हाद प्राप्त होता है; इसके अलावा उस मंगलमय धर्म की शरण में जाने से सर्व कार्यों की अनायास सिद्धि भी हो जाती है। प्रजापति भरतेश्वर की धार्मिक अनुरक्ति के कारण जनता में भी सदाचरण का विकास तथा धार्मिक जागृति अनायास होती थी। यदि यह दृष्टि आज देश के भाग्यविधाताओं (मन्त्रियों) के जीवन में अवतरित हो जाए तो आज का संकटग्रस्त तथा कलंकपूर्ण यह भारत देश नवीन कल्याणभूमि बन सकता है।

संसारी प्राणी राग अथवा स्नेह के कारण ही अपने अनन्त अक्षय आनन्द के भण्डार से वंचित होकर दुःखमय संसार में परिभ्रमण करते हैं।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए आचार्य एक उदाहरण देते हैं— देखो ! तिलों का समुदाय स्नेह (तेल) के कारण जलसिंचन, पैरों के द्वारा कुचले जाने एवं पुनः पुनः पेले जाने की पीड़ा का अनुभव करता है। स्नेह शब्द ममता तथा तेल इन दो अर्थों को बताता है। इस बात को समझाते हुए आचार्य कहते हैं कि जैसे स्नेह के कारण तिलों को कुचला तथा पेला जाता है, ठीक उसी प्रकार स्नेह (राग) के कारण यह संसारी जीव संसार की अनन्त दुःखाग्नि में निरन्तर जलता है। इसलिए मानवों को बिना प्रमाद किए तत्त्वार्थ के मनन तथा आत्म-चिंतन में लगजाना योग्य है।

संसारध्वंसिनीं चर्या, ये कुर्वंति सदा नराः।
रागद्वेषहतिं कृत्वा, ते यान्ति परमं पदम् ॥२१६॥

अर्थ :— जो मनुष्य हमेशा संसार का नाश करने वाली क्रियायें करते हैं वे राग-द्वेष का नाश करके परम पद प्राप्त करते हैं।

विशेषार्थ :— सम्यग्दृष्टि निर्ग्रन्थ साधु संसार को दुःखों का सागर समझकर इससे पार होने के लिए मुनिपद के चारित्र को भली प्रकार पालते हैं। वे व्यवहारचारित्र के द्वारा निश्चय-चारित्र को पालते हुए स्वात्मानुभव का आनन्द लेते हुए, परम समता भाव में जमते हुए, अपने राग-द्वेष का क्षय कर देते हैं। वास्तव में, वीतरागता का प्रगट होना ही परम पद का लाभ है। इसलिए संतजनों को पाप-कार्यो का परित्याग करके आत्मकल्याणार्थ पुण्यकार्यो में लगना चाहिए फिर क्रमशः बढ़ते-बढ़ते शुद्ध अवस्था को प्राप्त करना चाहिए।

ध्यान करने वाला योगी यदि पाप क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है तो उसके ध्यान की साधना नहीं हो सकती है अतः आवश्यक है कि पापाचरण को छोड़कर शुभाचरण में प्रवृत्ति की जावे और शुभाचरण की प्रवृत्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसकी निरन्तर भावना रखे। विचार करे कि मेरे द्वारा कोई ऐसा पापाचरण न हो जाय जिससे

किसी जीव को कष्ट का अनुभव हो। यदि मेरी प्रवृत्ति सर्व जीव सुखकारी न हो तो कम से कम दुःखकारी भी नहीं होनी चाहिए। यहां योगाभ्यास के लिए पाप को छोड़ पुण्य करने की बात कही है, परन्तु आगे चलकर पुण्य की भूमिका भी समाप्त हो जाती है। आचार्यों ने बताया है भो योगि ! तू कहीं पुण्य में ही मस्त न हो जाना क्योंकि जब तक तेरी पाप-पुण्यमयी प्रवृत्ति रहेगी तब तक तू निर्वाण प्राप्त नहीं कर सकेगा, उस निर्वाण के लिए तुझे आत्म-परिणति को सम्भालना पड़ेगा अर्थात् अपने को स्थिर करके शुद्ध-आत्मा का ध्यान करना होगा, तब ही सुख स्वरूप शाश्वत-स्थायी मोक्षपद को प्राप्त कर सकेगा। वास्तव में, जब यह जीव अपने उपयोग को बाह्य पदार्थों से हटाकर शुद्धात्मा का ध्यान करेगा तब ही अनन्त सुख से युक्त शाश्वत निर्वाणधाम (मोक्ष) को प्राप्त कर सकेगा।

मलैस्तु रहिता धीरा, मलदिग्धाङ्गयष्टयः।
सद्ब्रह्मचारिणो नित्यं, ज्ञानाभ्यासं सिषेविरे ॥२१७॥

अर्थ :- जो रागादि मलों से तो रहित हो जाते हैं परन्तु स्नानादि के त्याग से जिनके शरीर के अंग-उपांग मल से लिप्त दिखाई देते हैं, वे सच्चे ब्रह्मचारी होते है; ऐसे योगी ही सदा ज्ञान का अभ्यास करते रहते हैं।

विशेषार्थ :- निर्ग्रन्थ साधु शरीर के मलिनपने की कुछ भी परवाह न करते हुए व्यवहार व निश्चय-चारित्र को अतिचार-रहित पालते हैं। वे अन्तरंग में शुद्धात्मा के स्वरूप की भावना करते हैं; आत्मध्यान में लगे रहते हैं। जब उपयोग ध्यान में नहीं लगता है तब वे शास्त्रों का अध्ययन-मनन करते हैं। निरन्तर ज्ञानानन्द का रस-पान करना ही उनका ध्येय होता है। वे साधु निरन्तर आत्मध्यान में लीन रहते हैं, इन्द्रियजनित सुख न मानते हुए अतीन्द्रिय सुख को ही सुख मानते हैं। इस विषय में आत्मबोध के लिए विशद वर्णन किया गया है—

कषायं नोकषायं च, कर्म नोकर्म ह्येव च।
मनोऽतीन्द्रियसर्वस्वं, त्यक्त्वा योगी समाचरेत् ॥

अर्थात्– ध्यान करने वाले योगी-पुरुष को चाहिए कि वह कषाय, नोकषाय, कर्म तथा नोकर्म को छोड़कर अपना मन अतीन्द्रिय सर्वस्व— शुद्धात्मस्वरूप में लगावे।

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय हैं। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नोकषाय हैं; ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं और औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, ये नोकर्म हैं। इनमें कषाय और नोकषाय आत्मा के विकारी भाव हैं तथा कर्म और नोकर्म स्पष्ट ही पर-द्रव्य हैं। अतीन्द्रिय-इन्द्रियागोचर आत्मा ही इस जीव का सर्वस्व-सारभूत धन है इसलिए ज्ञानी जीव को चाहिए कि वह ध्यान में बैठकर इन कषाय तथा नोकषाय आदि को छोड़कर अपना मन शुद्ध आत्मस्वरूप में ही लगावे। इसीसे ध्यान की सफलता है। आगे इस विषय में कहा है कि—

तस्मात्कर्म परित्यज्य, स्वात्मतत्त्वं समाचरेत्।
आचरितात्मतत्त्वश्च, स्वयमेव परो भवेत् ॥

अर्थात्– प्राणियों को कर्म को छोड़कर स्वात्मतत्त्व का आचरण करना चाहिए तथा अपना उपयोग अपने आपके चिंतन में लगाना चाहिए क्योंकि आत्मतत्त्व का आचरण करनेवाला पुरुष स्वयं ही पर-श्रेष्ठ हो जाता है– परमात्मा बन जाता है। जो प्राणी रागादि मलों से रहित हो जाते हैं उनका यह औदारिक शरीर भी रत्नत्रय के सद्भाव में पूजनिक हो जाता है। अतः वह परमेष्ठी बन जाता है।

ज्ञानभावनया सिक्ता, निभृतेनान्तरात्मनः।
अप्रमत्तं गुणं प्राप्य, लभन्ते हितमात्मनः ॥२१८॥

अर्थ :– आत्मज्ञान की भावना से सींचे हुए सम्यग्दृष्टि महात्मा साधु दृढ़ता रखते हुए अप्रमत्त गुणस्थानों में चढ़कर अपने आत्मा का हित प्राप्त करते है।

जितने भी जीव आज तक सिद्ध हुए है वे सब भेद-विज्ञान के बल पर शरीर और आत्मा को पृथक् अनुभव करके ही हुए है तथा जितने भी जीव संसार में बद्ध पड़े हैं वे भेद-विज्ञान के अभाव में ही जन्म-मरण कर रहे हैं—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवऽभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ।। (श्री अमृतचन्द्राचार्य)

वास्तव में, ध्यान की सफलता भेद-विज्ञान होने पर ही है; उसके अभाव में नहीं । अतएव कर्म, नोकर्म, भावकर्म, मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञान की पर्याय, ज्ञान में आये हुए ज्ञेय के विकल्प तथा भाव्यभावक भाव के माध्यम से उत्पन्न भाव्य-अनुभव करने योग्य पदार्थों के अन्तर्विकल्पों से मैं ज्ञायक स्वभाव वाला आत्म-द्रव्य पृथक् हूँ ऐसा भेद-विज्ञानमूलक ध्यान करना चाहिए । यद्यपि पर्याय-दृष्टि से मैं शरीरादि के साथ संयोग दशा को प्राप्त हूँ तथापि यह संयुक्त दशा मेरे स्वभाव में नहीं है । एक दिन आएगा जब मैं इनसे भिन्न, एक आत्माश्रित स्वभाव व्यञ्जन-पर्याय तथा सहज ज्ञानादि गुणों के आश्रय होने वाली स्वभाव अर्थ-पर्याय को प्राप्त करूंगा । इस तरह भेद-विज्ञान होने से योगी का ध्यान सफल हो जाता है ।

समः शत्रौ च मित्रे च, समो मानापमानयोः ।
लाभालाभे समो नित्यं, लोष्ठकांचनयोस्तथा ।।२२०।।

सम्यक्त्वभावनाशुद्धं, ज्ञानसेवापरायणम् ।
चारित्राचरणासक्त-मक्षीणसुखकांक्षिणम् ।।२२१।।

ईदृशं श्रमणं दृष्ट्वा, यो न मन्येत दुष्टधीः ।
नृजन्मनिष्फलं सारं, संहारयति सर्वथा ।।२२२।।

अर्थ :— जो महात्मा साधु शत्रु में और मित्र में, मान और अपमान में तथा लाभ और हानि में समभाव रखते हैं, उसी प्रकार जो सदा पत्थर और सुवर्ण में एकसाभाव रखते हैं तथा जिनकी भावना

सम्यग्दर्शन के कारण शुद्ध रहती है, जो तत्त्वज्ञान की सेवामें तत्पर रहते हैं और जो सम्यक्चारित्र के आचरणों में आसक्त हैं, अविनाशी आत्मिक सुखकी जिनको इच्छा है, ऐसे सच्चे निर्ग्रन्थ श्रमण (साधु) को देखकर जो दुष्ट बुद्धि मानव भक्ति व आदर नहीं करता है उसका मानव जन्म निरर्थक ही है। इस मानव-जन्म से जो सार फल प्राप्त करना था वह उसका नाश कर डालता है।

विशेषार्थ :– सम्यग्दृष्टि, आत्मज्ञानी, शास्त्रोक्त आचरण करने वाले, जितेन्द्रिय, वीतरागी साधु सच्चे मोक्षमार्गी साधु हैं। उनके दर्शन करके जीव तृप्त हो जाते हैं। ऐसे उत्तम पात्र का लाभ हो जावे तो दातार गद्गद हो जाते हैं अपना जन्म सफल मानते हैं फिर नवधा भक्ति करके दान देते हैं। जो अज्ञानी, अभिमानी, दुष्ट, मानव हैं वे ऐसे आत्मज्ञानी साधुओं को देखकर मुंह फेर लेते हैं, दानादि नहीं देते हैं। ऐसे मानव देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा न रखते हुए बहिरात्मा और मानी कहे जाते हैं। ये मानव अपने जन्म का सार नहीं पाते और न इनका जीवन ही सफल हो सकता है। नर-जन्म की सार्थकता देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा पूर्वक भक्ति से होती है तथा आत्मज्ञान व आत्मानुभव के लाभ से होती है जिससे वर्त्तमान में भी सहज सुख-शान्ति मिलती है और भविष्य में भी सुन्दर जीवन प्राप्त होता है। परन्तु खेद है, आज कोई-कोई गृहस्थ अव्रती होते हुए भी अपने को शुद्धोपयोगी सोचते हैं। ऐसी धारणा आगमबाधित है। भला विचार करो– परिग्रह आदि में आकण्ठ मग्न रहने वाला, अपनी ख्याति प्रतिष्ठा के व्यामोह में संलग्न रहने वाला गृहस्थ कैसे शुद्धोपयोगी हो सकता है ? वह शुद्धोपयोग तो मात्र दिगम्बर साधुओं के पाया जा सकता है। आचार्यों ने अप्रमत्त गुणस्थानों में ही शुद्धोपयोग बताया है। इस पंचमकाल में तो बड़े-बड़े साधुओं के भी धर्मध्यान ही होता है जिनकी प्रवृत्ति निसर्गतः शुभोपयोगरूप होती है। यह ध्यान आत्मस्वभाव में स्थित मुनियों के होता है तो भला विचार करो जो अव्रती हैं, दुनिया की बुरी-भली करने में लगे हुए हैं;

उनके शुद्धोपयोग बताना ठीक उसी प्रकार है जैसे वन्ध्या स्त्री के पुत्र के सिर पर आकाश के फूलों का सेहरा होना। कहने का मतलब यह है कि भगवान की देशनानुसार इस पंचमकाल में शुद्धोपयोग नही हो सकता है; हाँ, उसकी भावना हो सकती है। फिर भी यदि कोई आगम-कथित वाक्यों को न मानकर मन-घड़ंत बातों को ठीक मानते है तो वे व्यक्ति आचार्यों की दृष्टि में मिथ्यादृष्टि है, अज्ञानी हैं। धर्मध्यान शुभ परिणामरूप है। वह धर्मध्यान चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होता है और श्रेणी पर आरोहण के पूर्व तक रहता है, श्रेणी पर आरोहण काल में शुक्लध्यान होता है। धर्मध्यान शुभ परिणामस्वरूप है, उससे पुण्य-बन्ध होता है। वह पुण्य-परम्परा शुक्लध्यान का कारण होती है जो संसार सागर से पार करके मोक्षमहल में पहुंचाता है।

आचार्यों ने कहा है कि भाई ! व्रतों का पालन कर देवपद पाना अच्छा है किन्तु व्रतरहित होकर नरक में जाना अच्छा नहीं है। इस रहस्य के सौन्दर्य को भूलकर कोई-कोई कहते है कि पुण्य तथा पाप दोनों समान है अतः पुण्य का उपदेश देना ठीक नही है। खेद की बात है कि वे लोग आगम के सिन्धु में अवगाहन किए बिना ही स्वेच्छानुसार प्रवृत्ति करते है। आचार्यों ने गृहस्थों के लिए पुण्य-संचय का उपदेश दिया है, क्योंकि गृहस्थावस्था में धर्मध्यान रूप शुभोपयोग सभव है; जिसमे पुण्य की प्राप्ति होती है। अतः पुण्य-संचय की ओर गृहस्थ की जीवनधारा को प्रवृत्त कराना पूर्णतया उचित है। आश्चर्य है कि गृहस्थ पुण्यरूप वृक्ष के फलों का तो संचय करना चाहता है, उसका रसपान करने को लालायित रहता है, उसके लिए ही अपना सारा समय व्यय करता है; परन्तु उस वृक्ष की निन्दा करता है, उसकी जड़ को पुष्ट करने के बदले में उस वृक्ष को क्षति पहुंचाने की अभद्र चेष्टा करता है।

मानवों को जानना चाहिए कि स्याद्वाद-शासन मे पुण्य-पाप को [illegible] दृष्टि से जहां समान कहा है, वहा उन दोनों के भेद को भी स्वीकार किया है। जिन्होने मात्र 'समयसार' ही देखा है, उन्हें

अकलंक स्वामी का 'राजवार्तिक' भी पढ़ने का कष्ट उठाना चाहिए जिससे उनकी दृष्टि पर पड़ा हुआ एकान्त पक्ष का पर्दा दूर हो जावे। विवेकीजनों का कर्त्तव्य है कि पर्यायदृष्टि और द्रव्यदृष्टि का यथायोग्य उपयोग करें। देखो! द्रव्यदृष्टि से ठंडा पानी और उबलता हुआ पानी समान है, यदि एक बालक को दोनों प्रकार के पानी को समान बताकर भेद न बताया गया तो बेचारा उबलते हुए पानी को भी शीतल जल सदृश समझने के कारण दाहजनित व्यथा से पीड़ित हुए बिना न रहेगा। ठीक इसी प्रकार यदि गृहस्थों को, पुण्य-पाप को एक सा बता दिया जाएगा तो वे मार्गच्युत हुए बिना नहीं रहेंगे। यद्यपि पुण्य और पाप एक दृष्टि से समान हैं तो दूसरी दृष्टि से भिन्न भी हैं, प्राणियों को यह भिन्न दृष्टि भी स्मरण रहनी चाहिए। अनेकान्त तत्त्वज्ञान के धारी आचार्यों ने कहा है कि पुण्य और पाप में हेतु और कार्य की दृष्टि से भिन्नता है अर्थात् दोनों समान नहीं हैं। पुण्य का हेतु शुभभाव है और पाप का हेतु अशुभभाव है। इस हेतु की दृष्टि से दोनों पृथक् हैं। कार्य की दृष्टि से भी दोनों में भिन्नता है, पुण्य का फल आनन्द है और पाप का फल दुःख है। महाव्रती साधु के मुख से तो पुण्य-पाप की समानता की बात कुछ अर्थपूर्ण दिखती है, परन्तु कनक-कामिनी के पाश में फंसे हुए गृहस्थ का ऐसा कहना अद्भुत लगता है। यह बात स्पष्ट दृष्टि-गोचर होती है कि पुण्य के कारण जीव मनुष्य-पर्याय प्राप्त करके व्रतों को धारण करता हुआ स्वर्ग तथा मोक्ष के सुख पाता है; जबकि पाप के फल से नरक या निगोद गति के दारुण दुःख सहता हुआ रोता है। यह सब सामने होते हुए भी हठग्राही जन एकान्त पक्ष को नहीं छोड़ते, सो यह उनका दुराग्रह ही है।

एकान्तदृष्टि होने पर बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न होती है। द्रव्य-दृष्टि तथा पर्यायदृष्टि का समुचित भेद भुलाने से एकान्त का दूषण आएगा जैसे मांसाहार के पोषक कहते हैं कि अन्न और मांस समान है; क्योंकि जैसे प्राणी का अंग मांस है, उसी प्रकार अन्न भी वनस्पतिकायिक जीव का अंग है। इस प्रकार प्राणी के अंग दोनों हैं। अतः मांसलोलुपी

की दृष्टि से दोनों समान है। इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि यह साम्य होते हुए भी दोनों में भोज्यपने और अभोज्यपने की अपेक्षा बड़ा अन्तर है। देखो! वृक्षपना आम और नीम दोनों ही वृक्षों में है फिर भी भक्ष्यपने की दृष्टि से आम का फल मनुष्य के लिए ग्राह्य है; नीम की निंबोरी नहीं; हाँ! कौवे को वह निंबोरी भले ही अच्छी लगे। स्त्रीपना माता और पत्नी में समान रूप से विद्यमान है, परन्तु उन दोनों की भिन्नता भी सब स्वीकार करते हैं। जंगली लोग भी दोनों की भिन्नता को मानते हैं, तब सभ्य समाज तो स्वीकार करता ही है। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक दृष्टि से दो पदार्थ समान हो जाते हैं। किन्तु दूसरी अपेक्षा से उनमें भिन्नता भी पाई जाती है। यही न्याय पुण्य-पाप के विषय में लगाना चाहिए। यह याद रखना चाहिए कि एकान्त पक्ष ही मिथ्यात्व है, वही कथन सापेक्षरूपता धारण करके अनेकान्त रूप बनकर सम्यक् हो जाता है। आशा है पाठकगण पक्षपात छोड़कर इसे समझने की कोशिश करेंगे क्योंकि पक्षपात छोड़े बिना वस्तुस्वरूप समझ में आना दुर्लभ है।

रागादिवर्द्धनं संगं, परित्यज्य दृढ़व्रताः ।
धीरा निर्मलचेतस्का तपस्यन्ति महाधियः ॥२२३॥

अर्थ :— राग-द्वेषादि को बढ़ाने वाले परिग्रह का त्याग करके महान् बुद्धिमान साधु दृढ़ता से व्रतों का पालन करते हैं और अपना चित्त शुद्ध रखते हुए वे धैर्यवान तप का आचरण करते है।

विशेषार्थ :— कर्मों की निर्जरा तप के बिना नहीं होती है। तपस्वियो के लिए आवश्यक है कि वे अंतरंग व बहिरंग परिग्रहों का त्याग करें, क्षुधा, तृषा, शीत, उष्णादि बाईस परीषहों को समताभाव से सहन करे तथा अहिंसादि पांच व्रतों का दृढ़ता से पालन करें और चित्त में माया, मिथ्यात्व, निदान आदि कोई दोष न रखें; परम धैर्य के साथ आत्मध्यान का साधन करे।

आत्मध्यान में बाधा देने वाले राग-द्वेष हैं। मानव अज्ञानवश पर पदार्थों में सुख-दुःख की कल्पना करता है। परमार्थ से सुख आत्मा का गुण है और दुःख उसी की वैभाविक पर्याय है अतः सुख-दुःख की उत्पत्ति आत्माश्रित है, पर पदार्थ के आश्रित नहीं। विपरीत मान्यता मिथ्यात्व का ही एक रूप है। मिथ्यात्व ही राग-द्वेष का जनक है, राग-द्वेष से पर पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि होती है। इष्ट-अनिष्ट बुद्धि से पर-पदार्थों के संग्रह तथा निराकरण का भाव होता है। इसी भाव से उपयोग की चञ्चलता होती है और उपयोग की चञ्चलता से ध्यान की साधना में बाधा आती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्यो द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करके यदि मानव अपनी चित्तवृत्ति को स्थिर करके आत्मसिद्धि में लग जावे तो दुःख से छूटकर सुख को प्राप्त कर सकता है। सुख का मार्ग संकल्प-विकल्प न होने में है। विकल्प मिटाने के लिए पर-पदार्थों का त्याग करना होगा और संकल्प मिटाने के लिए वस्तु तत्त्व को समझना होगा। जब तक प्राणियों के मन में चिन्ता रहती है तब तक आत्महित में बाधा रहती है। इस विषय में आचार्यो ने कहा है—

यावन्निर्वर्तते चिन्ता, तावत्पारं न गच्छति।
विद्यते हि परं तत्त्वं, मनोऽपोहितकायवत् ॥

यथार्थ में, चिन्ता के रहते हुए कोई जीव संसार से पार नहीं हो सकता क्योंकि परम तत्त्व मन रहित शरीर के समान है, अर्थात् मन रहित शरीर निर्व्यापार होता है, उसी प्रकार परम तत्त्व भी निर्व्यापार-मन, वचन और काय की चेष्टा से रहित हैं। साधुजन ममत्व छोडकर साहस के साथ व्रतों का पालन करते हैं और तप की आराधना करते हैं जिससे वे परम पद प्राप्त करते हैं।

संसारोद्विग्नचित्तानां, निः श्रेयससुखैषिणाम्।
सर्वसंगनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम् ॥२२४॥

अर्थ :- जिनका चित्त इस दुःखमय संसार से विरक्त है और जो मोक्ष के अविनाशी सुख के अभिलाषी हैं तथा जो सर्व अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह के त्यागी है ऐसे ही महात्माओं का जीवन धन्य है, प्रशंसनीय है।

विशेषार्थ :- सबसे उत्तम पुरुषार्थ मोक्ष है जिसकी सिद्धि प्राप्त कर लेने पर प्राणी सर्व दुःखों से छूट जाता है और वह आत्मा अपनी स्वाभाविक अमूल्य आत्म-सम्पदा को प्राप्त कर लेता है। इसका उपाय वे ही कर सकते हैं, जो निर्ग्रन्थ साधु सर्व परिग्रह के त्यागी होकर संसार से तीव्र वैरागी हैं तथा अतीन्द्रिय आनन्द को निरन्तर पाने की भावना रखते हैं। जो महानुभाव इस पुरुषार्थ का साधन करते हैं उनका मानव जन्म वास्तव में प्रशंसा के योग्य है।

संयम मनुष्य जीवन की अनुपम विभूति है जिसे अन्य पर्यायों में पूर्णरूप से पाना सम्भव नहीं है। विषय वासनायें दुर्बल अन्तः करणपर अपना प्रभाव जमा कर इन्द्रियों तथा मन को निरंकुश करने में सदा सचेष्ट रहती हैं। इसीलिए चतुर साधक भी अपने मन एव इन्द्रियों को उत्पथ में प्रवृत्ति करने से बचाने का पूर्ण प्रयत्न किया करता है। पूजक, कविवर द्यानतरायजी के शब्दों में अपने आत्मा को सम्बोधित करते हुए कहता है—

काय छहों प्रतिपाल, पंचेन्द्रिय मन वश करो।
संजम रत्न सम्हाल, विषय चोर बहु फिरत हैं॥

प्राणियों को छहों काय के जीवों को रक्षा करते हुए अपने मन और इन्द्रियों को वश में करना चाहिए तथा अपने संयमरूपी रत्न को सम्भाल कर रखना चाहिए, नहीं तो विषयरूपी चोर चारों ओर फिरते हैं।

मोहरूपी अन्धकार के दूर होने पर दर्शन शक्ति को प्राप्त करने वाला तत्त्वज्ञानी सत्पुरुष राग-द्वेष दूर करने के लिए चारित्र (संयम) धारण करता है। राग-द्वेष के दूर होने से हिंसादि पाप भी अनायास

छूट जाएँगे। आचार्यों ने बताया है कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पाप के कारणों से विमुख होना ही चारित्र है; अर्थात् सम्पूर्ण पापों के परित्याग को चारित्र कहते हैं। कषाय विमुक्त, उदासीन पवित्र आत्मपरिणतिस्वरूप प्रवृत्ति चारित्र है। अतः जिन महान् पुरुषों ने संसार को दुःखमय जानकर सम्पूर्ण अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह को छोड़ दिया है वास्तव में, उन महात्माओं का जीवन धन्य है; परन्तु जो व्यक्ति निरन्तर पाप कार्यों में रत रहते हैं उनका संसार से छुटकारा होना कठिन है।

सप्तमीस्थानमुक्तानां, यत्रास्तमितशायिनाम्।
त्रिकालयोगयुक्तानां, जीवितं सफलं भवेत ॥२२५॥

अर्थ:– जो सात प्रकार के भयों से मुक्त हैं, जहां भी सूर्य अस्त हो जावे वहीं पर विश्राम करने वाले हैं तथा तीनों काल योग करने वाले हैं उन्हीं का यह जीवन सफल है।

विशेषार्थ :– आरम्भ परिग्रह से विरत जैन श्रमण निर्भय होकर यत्र-तत्र विचरण करते हैं। उन्हें कभी किसी प्रकार का कोई भय नहीं सताता। इस लोक में भय सात बताए गए हैं— (१) इस लोक का भय– लोग क्या कहेंगे, ऐसा भय, (२) परलोक भय– परलोक में कहीं दुःखमय गति में न चला जाऊं, (३) रोग भय– कहीं मेरे रोग न आ जावे, (४) अरक्षाभय– मेरा कोई रक्षक नहीं है, अब मैं क्या करूं ? (५) अगुप्ति भय– मेरी वस्तुएँ कही चली न जावें (६) मरण भय– कहीं मेरा मरण न हो जावे, (७) अकस्मात् भय– कहीं कोई अचानक आपत्ति न आजाए। इस प्रकार के भय वीतरागी समभावी साधु के नहीं होते। वे साधु परम दयावान होते हैं, दिवस में ही प्रासुक जन्तुरहित भूमि पर बिहार करते हैं। जहां पर भी सूर्य अस्त होने को होता है, वहीं रात्रि को ठहर जाते है और योगाभ्यास करते हैं। सबेरे, दोपहर व सांझ को तो नियमित ध्यान में मग्न रहते हैं। इस प्रकार चारित्र का अनुष्ठान करने वाले साधुओं का ही जीवन सफल है।

संसार की वास्तविकता से सुपरिचित मानव गम्भीर चिन्तना में निमग्न होकर सोचता है कि जब मेरी आत्मा जड़-पुद्गल, आकाश आदि से गुण, स्वभाव आदि की अपेक्षा भिन्न है तब मैं किस बात का भय करूं; मेरा तो कर्त्तव्य है कि स्वरूप की उपलब्धिनिमित्त समस्त सांसारिक मोहजाल का परित्याग करके परम निर्वाण के लिए प्रयत्न करूं। इस प्रकार संसार के वास्तविक स्वरूप का विचार करते-करते यह आत्मा विषय-भोगों से विरक्त होकर विलक्षण प्रकाशयुक्त दिव्य जीवन की ओर झुकती है। बारहभावना में कविवर मंगतरायजी कितने उद्बोधक शब्दों में आत्मोन्मुख होने की प्रेरणा करते है—

लोक अलोक आकाश माँहि थिर, निराधार जानो।
पुरुषरूप कर कटी भये, षट् द्रव्यन सों मानो ॥
इसका कोई न करता, हरता, अमिट अनादि है।
जीव रू पुद्गल नाचै यामैं, कर्म उपाधी है ॥
पाप-पुण्य सों जीव जगत् में, निज सुख दुःख भरता।
अपनी करनी आप भरै, सिर औरन के धरता ॥
मोह कर्म को नाश, मेटकर सब जग की आसा।
निज पदमें थिर होय; लोक के सीस करो वासा ॥

कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की सर्व वस्तुएँ अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं तो फिर मानव को सोचना चाहिए कि मैं किस बात का भय करूं।

आर्त्तरौद्रपरित्यागाद्, धर्मशुक्लसमाश्रयात्।
जीवः प्राप्नोति निर्वाण, मनन्त सुखमच्युतं ॥२२६॥

अर्थ :– आर्त्त और रौद्र ध्यान का त्याग करने से तथा धर्मध्यान, शुक्लध्यान का आश्रय करने से यह जीव अनन्त सुख से पूर्ण और अविनाशी स्वात्म स्थिति रूप मोक्षपद को प्राप्त कर लेता है।

विशेषार्थ :– परिणामों की स्थिरता की अपेक्षा ध्यान चार प्रकार

का है। आर्त्तरौद्रध्यान संसार के कारण हैं, धर्मध्यान और शुक्लध्यान मोक्ष के कारण हैं। आर्तध्यान के चार प्रकार हैं, (१) इष्टवियोगज- पुत्रादि सभी इष्ट पदार्थों के वियोग से होने वाला। (२) अनिष्ट संयोगज- कंटकादि अनिष्ट वस्तु के संयोग से होने वाला। (३) निदानज- आगामी भोगों की इच्छा से होने वाला। (४) पीड़ाजनित- रोगादि पीड़ा से होने वाला। यह चार प्रकार का दुष्ट भावरूप आर्त्तध्यान है। १. हिंसानन्दी- जीवों की हिंसा में आनन्द मानने वाला। मृषानन्द- असत्य में आनन्द मानने वाला। चौर्यानन्द- चोरी में आनन्द मानने वाला। परिग्रहानन्द-परिग्रह संचय में आनन्द मानने वाला। यह चार प्रकार का दुष्ट भाव एवं रौद्रध्यान हैं। मुख्यरूप से, रौद्रध्यान नरक गतिका व आर्त्तध्यान तिर्यंच गति का बन्ध करता है। धर्मध्यान भी चार प्रकार का है— (१) आज्ञाविचय- जिनेन्द्र भगवान की आज्ञानुसार जीवादि तत्त्वों का विचार करना। (२) अपायविचय- अपने और दूसरों के रागादिभावों का एवं कर्मों का नाश कैसे हो, यह विचार करना। (३) विपाकविचय- कर्मों के शुभ व अशुभ फल का विचार करके समभाव रखना। (४) संस्थानविचय- लोक के आकारस्वरूप या आत्मा के स्वरूप का विचार करना। यह ध्यान चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान से लेकर अप्रमत्तविरत सातवें गुणस्थान तक होता है। शुक्लध्यान भी चार प्रकार का है— (१) पृथक्त्ववितर्क वीचार- जहां अबुद्धिपूर्वक योग से, शब्द से अन्य शब्द, ध्येय पदार्थ से अन्य ध्येय पर पलटना हो सके। (२) एकत्व वितर्क अवीचार- जहां एक ही योग द्वारा एक ही शब्द द्वारा एक ही ध्येय पर जमा जावे। (३) सूक्ष्मक्रिया- प्रतिपाति- जहां काय योग का सूक्ष्म हलन चलन रह जावे। (४) व्युपरतक्रिया-निवृत्ति- जहां सर्व योगों का निरोध हो जावे। आठवें गुणस्थान से बारहवें के प्रारम्भ तक पहला शुक्लध्यान रहता है, बारहवें में दूसरा होता है, तेरहवें के अन्त में तीसरा और चौदहवें गुणस्थान में चौथा शुक्लध्यान होकर यह जीव सिद्ध पद प्राप्त कर लेता है।

आत्मानं विनयाभ्यासे, विषयेषु पराङ्मुखः।
साधयेत् स्वहितं प्राज्ञो, ज्ञानाभ्यासरतो यतिः ॥२२७॥

अर्थ :– बुद्धिमान् भेदविज्ञानी यति पांचों इन्द्रियों के विषयों से विमुख होता हुआ, तत्त्वज्ञान के अभ्यास में दत्तचित्त रहता हुआ अपने को चारित्र के अभ्यास में लगा करके आत्मा के हित का साधन करता है।

विशेषार्थ :– आत्मोन्नति के पथ पर साधु तब ही चल सकता है, जब वह अपने चित्त को इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रखे व तत्त्वज्ञान और आत्मज्ञान का निरन्तर अभ्यास करे। इसीलिए जिनागम का मनन करने में अपने समय को लगाए रहे तथा जिनोक्त चारित्र के साधन में क्षत्र मात्र भी प्रमाद न करे।

वास्तव में, जब तक यह प्राणी आत्मा के स्वभाव में रागादि विभावभावों की एक कणिका भी स्वीकृत करता रहेगा, तब तक यह परम वीतराग दशा को प्राप्त नही हो सकता। अतः पर्यायदृष्टि से वर्त्तमान में विद्यमान रागादि भावों के विषय में ऐसा चिन्तवन करना चाहिए कि चारित्र मोह के उदय से ये रागादि भाव यद्यपि मेरी आत्मा में हो रहे है, तथापि कारणजन्य होने से ये विभाव हैं, अर्थात् मेरे स्वभाव नही है। इस प्रकार चिंतवन करने से इस जीव के उन रागादि विभाव भावों को दूर करने का पुरुषार्थ जागृत होता है और फलस्वरूप यह दशमगुणस्थान के अन्त तक उन्हें आत्मा से पृथक् कर देता है। इस प्रकार के वार-बार चिंतवन से यह जीव स्वभाव का आश्रय लेता है और विभाव को निराश्रय करता हुआ उस भूमिका को प्राप्त हो जाता है, जहां इसके ध्यान का बाह्य विषय कुछ भी नहीं रह जाता। आचार्यो ने बताया है कि विभावभावों का क्षय होने पर कर्म निश्चय से नष्ट हो जाते है; इसलिए विभावभावों का क्षय करके कुछ भी चिंतवन नहीं करना चाहिए अर्थात् ध्यान-ध्याता और ध्येय का विकल्प छोड़कर अपने स्वरूप में निमग्न होना चाहिए। जो परिणाम स्व में स्वके निमित्त से होते है उन्हें स्वभाव कहते हैं और जो स्व में पर के निमित्त से होते है

वे विभाव कहलाते हैं। इस परिभाषा से मोहकर्म की उदयावस्था में होनेवाले जितने मिथ्यात्व अथवा रागद्वेषरूप परिणाम हैं, वे सब विभाव कहलाते है और मोह के उपशम-क्षय-अथवा क्षयोपशम के समय होने वाले भाव स्वभाव कहलाते हैं। जब उपर्युक्त रागादि विभावभावों का क्षय होकर आत्मा की वीतराग परिणतिरूप स्वभाव दशा प्रकट होती है तब कर्मों का क्षय नियम से होता है। जो जीव इन रागादि विभाव भावों का अभाव कर चुकता है, वह शुक्लध्यान की उस अवस्था में पहुंच जाता है जहां निर्विकल्प दशा प्रकट होकर स्वरूप में रमण होता है। अतः प्राणियों को भेद-विज्ञान से रागादि भावों को छोड़कर तत्त्वज्ञान के अभ्यास में लगना चाहिए।

यथा संगपरित्यागः, तथा कर्मविमोचनम् ।
यथा च कर्मणां छेदः, तथासन्नं परं पदम् ॥२२८॥

अर्थ :- जैसे-जैसे परिग्रह का ममत्व छोड़ा जाता है वैसे-वैसे कर्मों की निर्जरा होती जाती है, जैसे-जैसे कर्मों का क्षय होता जाता है वैसे-वैसे परमपद (मोक्ष) समीप आता जाता है।

विशेषार्थ :- यद्यपि बुद्धिपूर्वक चौदह प्रकार अन्तरंग और दस प्रकार के बहिरंग परिग्रह का त्याग साधुपद धारते हुए किया जाता है, तथापि जब तक कषायों का उदय है तब तक परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं बनता। आत्मध्यान की अग्नि बढ़ने से ज्यों-ज्यों गुणस्थान चढ़ता है तथा जितनी कषायें उपशमित रहती है उतना ही वहां त्याग बताया है। जैसे-जैसे कषाय मंद होती जाती है, वीतरागता स्वयमेव बढ़ती जाती है। जितनी अधिक वीतरागता बढ़ती जाती है उतनी ही अधिक कर्मों की निर्जरा होती जाती है। आस्रव का निरोध भी उतना-उतना अधिक होता है और मोक्षपद उतना ही निकट आता है।

आधुनिक मानव तृष्णा के प्रभाव में भोग और विषयों की आराधना में मग्न है। इनकी पूर्त्ति के निमित्त उसे कोई भी पाप या अनर्थ करने में तनिक भी संकोच नहीं होता है। वह अपने आराम के लिए

संसार के प्राणियों को दुःख की ज्वाला में भस्म कर देता है, वह यह नहीं सोचता है कि इसका परिणाम दुःखरूप होगा। ऐसे विचारों के लिए उसके पास अवकाश ही नहीं होता है, कदाचित् हो भी तो उसका उचित उपयोग नहीं करता है। यह तृष्णाग्नि जीवों को सदा जलाती रहती है, इन्द्रियों के प्रिय भोगों के द्वारा भोगों की ज्वालाओं की शान्ति न होकर वृद्धि ही होती है। यह बात तत्त्वज्ञानियों ने भली प्रकार जानकर लिखी है। परन्तु तृष्णा रोग से पीड़ित लोगों काझु काव एकान्ततः स्वार्थ पोषण की ओर हो गया है। आज संसार में समर्थजनों को ही जीने का अधिकार है, दुर्बलों को कोई अधिकार नहीं, यह है इस युग की आवाज। एक मात्र स्वार्थ साधन को ध्यान में रखते हुए प्राणी अपनी शक्ति तथा प्रभाव सम्पादन के लिए उचित, अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य की ओर तनिक भी ध्यान न देकर बल या छलके द्वारा उन्नति की दौड़ के लिए तैयारी करते हैं। इसी तृष्णा के कारण आश्रितों का शोषण, अपनी श्रेष्ठता का अहंकार, घृणा, तीव्र प्रतिहिंसा की भावना आदि दुष्प्रवृतियाँ तो आज के प्रगतिगामी या उन्नतिशील राष्ट्रों के जीवन का आधार सी बन गई हैं। पारस्परिक सच्ची सहानुभूति, सहयोग, सेवा, विनय, विवेक आदि बातें प्रायः वाचनिक आश्वासन का विषय बन गई हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बढ़ती हुई तृष्णा के कारण मानव अपनी धार्मिक प्रवृति को छोड़कर अधर्म को अपना चुका है। मानव यदि चाहे तो परिग्रह का ममत्व छोड़कर कर्मो की निर्जरा कर सकता है और कर्मजाल से मुक्त हो सकता है।

यत्परित्यज्य गन्तव्यं, तत् स्वकीयं कथं भवेत्।
इत्यालोच्य शरीरेऽपि, विद्वान् तां च परित्यजेत् ॥२२९॥

अर्थ :— जिस शरीर को छोड़कर जाना पड़ेगा, वह शरीर अपना कैसे हो सकता है ऐसा विचार कर भेद विज्ञानी पण्डित शरीर से भी ममत्वभाव छोड़ देते हैं।

विशेषार्थ :– धन, धान्य, वस्त्रादि तो शरीर से बिलकुल जुदे हैं, इनका त्याग कर देना तो सम्भव है, परन्तु शरीर का त्याग तो सम्भव नहीं है क्योंकि यह संयम का साधक है। ऐसा है तो भी साधुजन शरीर से ममता नहीं रखते हैं, केवल उसकी रक्षा संयम का साधक जानकर करते हैं। उनको यह निश्चय है कि यह शरीर हमारा नहीं है, पर है, आयुकर्म के आधीन है, आयुक्षय से शरीर का क्षय अवश्य होगा। तब वे प्रवीण साधु इस क्षणिक शरीर से मोह नहीं करते हैं। किन्तु इसके द्वारा आत्मध्यान का अभ्यास करते हैं; जबकि आत्मतत्त्व से विमुख लोग शरीर को ही अपना मानकर मनचाहा अन्याय करने में नहीं चूकते हैं।

देखो ! प्राणियों के सिर पर मृत्यु मंडरा रही है उसे तो देखते नहीं और इतना भी नहीं सोचते कि यहां से मरकर हम कहां जाएँगे ? तथा हमारे साथ कौन-कौन जाएँगे ? अथवा क्या होगा ? इतना विचार करने के लिए भी उनके पास समय नहीं है। यदि मानव इतनासा विचार करे कि मुझे मरना तो जरूर है और कब मरना है यह भी कोई निश्चित नहीं तथा मर करके यहां से कहां और किस पर्याय में जाना है और जहां जाना है वहां किसके पास जाना है तथा किसने मुझे बुलाया है, यदि नहीं बुलाया है तो फिर मैं किसके आधार पर जाऊँगा; ऐसा विचार करने पर मानव को संसार से भय हो सकता है तथा आत्महित के लिए कुछ प्रयत्न भी कर सकता है।

संसार में पहले अनेक महान् पुरुषों ने सफेद केश, बिजली की चमक तथा बादलों के विलय आदि को देखकर जीवन की अनित्यता एवं निस्सारता को जानकर, विरक्त होकर तपश्चर्या का मार्ग अपनाया था। परन्तु आज का मानव शरीर का इतना गुलाम बन गया है कि उसे भक्ष्याभक्ष्य का भी ज्ञान नहीं रहा। अनादिकालीन कर्मों के सम्बन्ध से इस आत्मा को शरीर की प्राप्ति होती चली आ रही है। बड़े सौभाग्य से यह मानव-शरीर मिला है, इस शरीर से यदि आत्महित में प्रयत्न न किया तो आयु पूरी होते ही यह सुन्दर शरीर नष्ट हो जाएगा तब भला

दूसरी वस्तुएँ कैसे साथ जाएंगी ! यह अज्ञानी प्राणी मोह के उदय से पर-वस्तुओं को अपनी मान रहा है जो किसी हालत में अपनी बन नहीं सकती है। इसलिए इस नाशवान शरीर से ममत्व न करके संयम तथा तप की आराधना करो, जिससे संसार का बन्धन कटकर अनन्त सुख की प्राप्ति हो जावे।

नूनं नात्मा प्रियस्तेषां, ये रताः संगसंग्रहे।
समासीनाः प्रकृतिस्थाः, स्वीकर्त्तुं नैव शक्यते ॥२३०॥

अर्थ :– जो परिग्रह के संचय करने में रत हैं सुख से बैठने वाले हैं, कर्मों के उदय के आधीन हैं, उनको निश्चय से आत्मा की ओर प्रेम नहीं हैं, वे कभी आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं कर सकते हैं।

विशेषार्थ :– संसार और मोक्ष से विपरीतता है। जो संसार-प्रेमी है वे मोक्षप्रेमी नहीं होते और जो मोक्ष-प्रेमी हैं वे संसार के रागी नहीं होते है। जिनको विषयभोगों की भावना रहती है वे नाना प्रकार से भोग सामग्री और धनादि का संचय करते रहते है। आलस्य, प्रमाद से बैठे रहते हैं। कर्मों के उदय के अनुकूल वर्तते रहते हैं। वे मोही जीव एक तो आत्मा की बात ही नही सुनते हैं, यदि सुनते हैं तो धारणा में उसे नहीं लाते। अनन्तानुवन्धी कषाय के उदय से उनका आत्मा की ओर प्रेम नहीं उदित होता है।

संसार में वासना की दासता बड़ी अद्‌भुत है। आज भौतिक विकास को ध्यान में रखने वाले लोग प्रायः यह सोचते हैं कि मानव के बौद्धिक विकास का युग आ गया; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा कर्ण इन पांचों इन्द्रियों को परितृप्ति प्रदान करने के साधनों की अद्‌भुत वृद्धि हुई है। लेकिन आध्यात्मिक व धार्मिक दृष्टि वाले व्यक्ति सोचते हैं कि वर्त्तमान युग ने मानव की वासनाओं को जगाकर उन्हें भयंकर रूप से वन्दी वना लिया है। देखो ! मोह के वन्धन से क्रियाविहीन बने भ्रमर के विपय में कवि के ये शब्द कितने मार्मिक हैं ! सौरभपान का

लोलुपी भ्रमर सरोज की सुगन्ध में मस्त होता हुआ सूर्यास्त के समय कमल के बाहर न आकर आनन्द का अनुभव करता है और मनमें सोचता है कि अरे ! रात्रि शीघ्र ही व्यतीत होगी। पुनः सुप्रभात आएगा, प्रियप्रभाकर का पुनः दर्शन होगा; उस समय इस कमल का मुख खुल जाएगा, इतने में कोई गजराज उस सरोवर में घुसकर उस कमल को तोड़कर उदरस्थ करता है और स्वप्नों के सौन्दर्य में निमग्न उस भ्रमर की जोवनलीला समाप्त हो जाती है; ठीक उस भ्रमर के समान मनुष्य की जीवन-लीला भी समाप्त हो जाती है अर्थात् जीवन-प्रदीप अकस्मात् बुझ जाता है।

संसार में बन्धन तो अनेक प्रकार के होते हैं, परन्तु प्रेम की रज्जु द्वारा निर्मित बन्धन सबसे निराला है। देखो ! कमल के प्रेमबन्धन में बद्ध भ्रमर, यद्यपि काष्ठ में छेद करने की क्षमता से सम्पन्न रहता है, परन्तु खेद है कि वह मोह के वश हो कोमल पंकज के मध्य में निष्क्रिय बना रहता है। उसे काटकर बाहर नहीं निकलता। यथार्थ में, प्राणी पर-पदार्थों से भिन्न हैं परन्तु वे अज्ञानवश परवस्तुओं को अपनाते हुए देखे जाते हैं। पर-पदार्थों के अनुकूल परिणमन पर यह आनन्द की कल्पना करता है और उनके विपरीत परिणमन पर दुःखी होता है। अतः ज्ञानी जनों को परपदार्थों के अनुकूल-प्रतिकूल परिणमन पर अपना सन्तुलन नहीं खोना चाहिए। किन्तु क्या किया जाय, संसार के मोही प्राणी मोह की मदिरा पीकर विवेकरहित स्थिति को प्राप्त करते हैं।

शान्ति और उन्नति का मार्ग आत्मा के गुणों को विकसित करना तथा विलासिता से विमुख होना है। संसार में प्राणी ज्यों-ज्यों भोग-विलास की ओर कदम बढ़ाते हैं त्यों-त्यों ही वे कुछ समय बाद पतन की ओर प्रयाण करते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि विषयों के दास दीपक के पास दौड़कर आनेवाले पतगे की दशा को प्राप्त करते हैं। विषयजनित आनन्द कृत्रिम है, उसमें स्थायीपना नहीं है जबकि स्वावलंबन तथा सदाचार द्वारा उपलब्ध आनन्द अपूर्व होता है। इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला सुख बिजली की चमक के समान क्षण-

स्थायी है। वह सुख तृष्णारूपी रोग का एकमात्र हेतु है। उसके सेवन करने से विषयों की लालसा बढ़ती है तथा यह तृष्णा की वृद्धि निरन्तर संतप्त करती रहती है।

यदि गहराई से विचार किया जाए तो यह ससार एक बगीचे के समान है, जिसमें सौरभ तथा सौदर्य थोड़ी देर तक निवास करते हैं। वास्तव में, वह स्थायी आनन्द का स्थल नहीं है, ठीक उसी प्रकार यह मानव-जन्म स्थायी नही है। आचार्यों ने कहा है कि प्राणियों का जीवन मृत्यु के मुंह में है, क्षणभंगुर है; इसमें नित्यता मानकर मग्न हो जाना तथा आत्महित को भूल जाना ही अज्ञान है। इसलिए ज्ञानवान प्राणी विचार करता है कि मैं तो मोक्षस्वरूप हूँ, आनन्द का भण्डार हूँ, अविनाशी हूं तथा कल्याणस्वरूप हूँ, मेरा इन पर पदार्थों से मात्र संयोग ही है जो कि एक दिन वियोग रूप में बदल जाएगा; इस तरह अपनी आत्मा की अमरतापर अखण्ड विश्वास रखकर नश्वर पदार्थों से विरक्ति रखता है तथा जगत् के नाशवान संयोग-वियोग-जनित पदार्थों में हर्ष-विषाद नहीं करता है। उसे अपनी आत्मा पर अटल श्रद्धा होने के कारण अपने उज्ज्वल भविष्य का विश्वास रहता है। भौतिक विकास द्वारा प्राप्त सुख कृत्रिम है तथा वे अल्पकाल तक टिकते हैं। परन्तु षगत् के प्राणी अज्ञानवश उस सुख में ही मस्त हो रहे हैं; शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, मित्र आदि सब जीव से भिन्न हैं; किन्तु अज्ञानी प्राणी इन सबको अपना मानता है। जिसने वास्तविक तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लिया है, वह व्यक्ति भोग तथा मोह के मार्ग से विमुख होकर श्रेष्ठ त्याग को अङ्गीकार करता है।

श्रेष्ठ तत्त्वज्ञान की चर्चा करना तो सरल है, लेकिन उस पर निर्दोष रूप से आचरण करना महान् आत्माओं का काम है। तत्त्वज्ञान की साधना के लिए दिगम्बर वृत्ति तथा निःसङ्ग अवस्था आवश्यक है; जैसे सरोवर में एक छोटा सा पाषाण-खण्ड फेकने से लहरें उठती है उसी प्रकार वाह्य कामिनी, कंचनादि का थोड़ा भी सम्बन्ध इस मन को वीतरागता से गिराकर रागी, द्वेषी, मोही बना देता है। मन और

इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही मानव जीवन की सार्थकता है। देखो ! संसार में मानव जब तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेता है तब भेद ज्ञान के द्वारा निज और पर को पहचानता है, तब वह अगणित चिंताओं से तथा मनोव्यथाओं से मुक्त होकर उस उच्च शान्ति को प्राप्त करता है जिसको बड़े से बड़े नरेश, वैभवशाली गृहस्थ, गौरवशील राजनीतिज्ञ आदि स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकते हैं। दुनिया की उलझनों में फंसे व्यक्ति को क्षण भर भी चैन नहीं मिलता है। लोकोपकार आदि सत्कार्यों से सांसारिक आनन्द और अभ्युदय मिलते हैं, परन्तु निःश्रेयस्, निर्वाण–मुक्ति, अविनाशी सुख का उपाय संसार, शरीर, भोगों से विमुख होकर आत्मा की ओर सन्मुख होकर, जीवन को वीतराग, वीतमोह बनाने में है।

तत्त्वज्ञान का रसिक मानव तो आत्मोन्मुख होकर पर पदार्थों से ममत्व नहीं करता, परन्तु जो व्यक्ति कोरे ज्ञान या तत्त्वज्ञान की डींग मारते हैं तथा विषयवासनाओं से लिप्त रहते हैं वे तो मात्र आत्मवञ्चना करते हैं। सच तो यह है कि जो व्यक्ति रात-दिन परिग्रहादि बढाने में व्यस्त हैं और अध्यात्म-शास्त्रों की दुहाई देते हैं कि पुण्य संसार का कारण है यह बात उनकी तभी फिट बैठती है कि जब वे पुण्य सामग्रियों का त्याग करें अथवा ममत्व छोड़ें सो भाई सिर्फ जबानी जमा खर्च से कुछ होने वाला नहीं है, जैन सिद्धान्त की मूल बात यही है कि पर-पदार्थों से जितना ममत्व छोड़ा जाएगा उतना ही प्राणी आत्मतत्त्व के सम्मुख होता जाएगा।

सच्चे सुधारक का तथा सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है बल्कि उसको इच्छापूर्वक घटाना है। ज्यों-ज्यों प्राणी परिग्रह को घटाता जाएगा त्यों-त्यों उसके सच्चा सुख, शान्ति तथा संतोष बढ़ता जाएगा। ऐसा पवित्र सुख और संतोष प्राप्त करने के लिए इस जीव को जड़तत्त्व की आराधना छोड़नी ही होगी और अनन्त शक्ति के अक्षय-भण्डार, आनन्दमय आत्मा का आश्रय लेना होगा। देखो ! जड पदार्थ की संगति से ही जीव की दुर्दशा होती है; जैसे– अग्नि जब लोहे

की संगति करती है तब वह लुहार के घनों की मार खाती है। इसलिए जो प्राणी आत्मा की रुचि करता हुआ पर-पदार्थों से ममत्व हटाता है, परमार्थ दृष्टि से वह ज्ञानी है, पंडित है, वह तो श्रेष्ठ आनन्द के कारण आत्मा की आराधना करता है। यह आत्मा स्व-संवेदन (ज्ञान) के द्वारा भली प्रकार जानी जाती है; आत्म-तत्त्व का क्षय नहीं होता है। यह तो अविनाशी आनन्द वाली है। इसीलिए तो सम्यग्दृष्टि प्राणी हमेशा आत्मा का अनुभव करता है और वैराग्यभाव (अनासक्तिरूप) सहित रहता है और सोचता है कि मैं अनन्तज्ञानादि सम्पन्न हूँ, इससे विपक्षी कर्मरूप विषवृक्ष को क्यों न जडमूल से उखाड़ूँ? परन्तु देखो! आत्म-तत्त्व के यथार्थ रहस्य से अपरिचित अविवेकी मनुष्य अपने को वर्त्तमान पर्याय में ही पूर्णशुद्ध मानता है और सदाचार में अकर्मण्यता दिखाकर पाप-प्रवृत्तियों में प्रगति करता रहता है। अतः मानव का कर्त्तव्य है कि वह अपने वैराग्यभावों को जगाकर आत्महित में प्रवृत्ति करे, आत्म-ज्ञानी में वैराग्य का दिव्य प्रकाश पाया जाता है, उसका तो अन्तःकरण ही वैराग्यरूप अमृत से परिपूर्ण रहता है।

देखो! अन्य धर्मों में भी आत्मतत्त्व के अभ्यासी के लिए वैराग्य की महत्ता स्वीकार की गई है। वास्तव में, चित्तवृत्ति का निरोध योग है, चित्तवृत्ति की चंचलता का निवारण अभ्यास तथा वैराग्य द्वारा साध्य है, आचार्यों ने कहा है कि इसमें संदेह नही है कि मन चंचल है और उसे वश में करना कठिन है; परन्तु अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा यह मन वश में किया जा सकता है। किन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि आज कोई-कोई भाई अध्यात्म-ग्रन्थों का सहारा लेकर अपने को सिद्ध भगवान सदृश मानते हैं उनका आचरण और व्यवहार देखो तो बड़ा आश्चर्य होता है कि निरन्तर विषय-भोगों में तल्लीन तथा परिग्रह-सचय में आसक्त रहते हुए भी अपने को शुद्ध आत्मा मानते हैं उनकी दृष्टि में आज के दिगम्बर मुद्राधारी साधुजन सभी द्रव्यलिंगी है। वे उनकी विनय तक नहीं करते। इस विषय में रविषेण आचार्य पद्म-पुराण के बीसवे सर्ग में पंचमकाल का वर्णन करते हुए स्पष्ट कहते है कि—

अपकारे समासक्ताः, परस्य स्वस्य चानिशम्।
ज्ञास्यन्ति सिद्धमात्मानं, नराः दुर्गतिगामिनः ॥

केवली भगवान का वचन है कि इस पंचमकाल में अपना अहित करने में तथा दूसरों का अहित करने में निरन्तर तत्पर रहने वाले व्यक्ति पैदा होंगे तथा अपने को सिद्ध समान मानने वाले दुर्गतिगामी पुरुष पैदा होंगे। आचार्य का यह कथन अक्षरशः चरितार्थ हो रहा है।

१६. ममत्व और परिग्रहत्याग से लाभ

शरीरमात्रसंगेन, भवेदारम्भवर्धनम् ।
तदशाश्वतमत्राणं, तस्मिन् विद्वान् रतिं त्यजेत् ॥२३१॥

अर्थ :- स्त्री, पुत्र, मित्र, धनादि और परिग्रह न होते हुए भी शरीर मात्र के परिग्रह से शरीर के लिए आरम्भ की वृद्धि होती है। यह शरीर अनित्य है, अशरण है, इसलिए विद्वान् पुरुष इस शरीर से आसक्ति छोड़ देते हैं।

विशेषार्थ :- शरीर की आसक्ति-मूर्च्छा बुरी चीज है। यदि शरीर में मोह हो तो इसके लिए भोग्य वस्तुओं के संग्रह का प्रबन्ध करना पड़ता है, तब परिग्रह का सम्बन्ध बढ़ जाता है। ज्ञानी इस बात को भली प्रकार जानते हैं कि यह शरीर एक दिन छूट जाएगा तब इसे कोई रख नहीं सकता। मंत्र, यंत्र, औषधि, देव, दानव, मित्रादि कोई भी शरीर को विनाश से बचा नहीं सकते। ऐसा समझकर आत्मार्थीजन इससे प्रीति नहीं रखते हैं। चाकर के समान इसे पालकर इससे संयम का साधन कर लेते हैं।

संसार के प्राणी सोचते हैं कि धन, धान्य, मकान, दुकान तथा परिवार के होने से प्राणियों के ममत्व रहता है सो ऐसी बात नहीं है। विचार करो; इन पशु-पक्षियों के कौनसा धन, धान्य, मकान आदि है

और कौन से बाल-बच्चे इन्हें कमाकर धनादि देते हैं। यह सब मोह की माया है। बताओ ! गाय अपने बछड़े के लिए क्या-क्या नहीं करती; वक्त पर सिंह का भी सामना अपने बछड़े के लिए कर लेती है तथा अपने प्राणों की बाजी लगा देती है, जरा सोचो ! वह बछड़ा उसे क्या कमाकर देगा ? तथा क्या उसकी सेवा करेगा ? परन्तु इस मोह का अचिन्त्य प्रभाव है। इनसे छोटे-छोटे जानवरों चींटो आदि के क्या परिग्रह है ? मात्र शरीर का ही परिग्रह मानना होगा, फिर भी शरीर के पोषण के लिए निरन्तर इधर से उधर और उधर से इधर घूमती रहती है। संसार के जितने प्राणी हैं सभी जीना चाहते हैं; मरना पसन्द नहीं करते। उदाहरणार्थ— देखो ! एकेन्द्रिय वृक्ष आदि भी अपने शरीर के हित के लिए प्रयत्न करते है, जैसे वृक्ष की जड़ें तालाब, बावड़ी, कुआ आदि स्थानों में जाती हैं जहां उनको शरीर-पोषणार्थ खुराक मिलती है, नहीं तो वृक्षों की जड़ें हलवाइयों की भट्टी तथा रसोई घरों के चूल्हे में भी जातीं परन्तु ऐसा कभी नहीं देखा जाता, वहां उनके शरीर का पोषण नहीं होकर हानि होती है; इससे यह बात सिद्ध होती है कि प्राणी मात्र अपने पर्याय-सम्बन्धी शरीर में ही रहना चाहता है। दूसरा उदाहरण– समझो, ये जो चीटियां हैं इनके विषय में जरा सोचो ! आप एक तरफ आग का अंगारा रख दीजिए और दूसरी तरफ कोई मिष्ठान्न या खाने का पदार्थ रख दीजिये, आप देखेंगे कि चीटियां अगारे की तरफ न जाकर खाद्य पदार्थ की तरफ ही जाती हैं, इससे मालूम होता है कि प्राणीमात्र शरीर के व्यामोह में फंसा हुआ है। परन्तु ज्ञानी जीवों की परिणति निराली होती है।

संगात् संजायते गृद्धिः, गृद्धौ वांछति संचयम्।
संचयाद्वर्धते लोभो, लाभाद्दुःखपरम्परा ॥२३२॥

अर्थ :– परिग्रह की मूर्च्छा होने से विषयों की लोलुपता पैदा होती है। लोलुपता होने से धनादि परिग्रह के एकत्र करने की इच्छा बनती है। धनादि के संचय करने से लोभ बढ़ता जाता है तथा लोभ से दुःखों की संतान बढ़ती जाती है।

विशेषार्थ :– जिस प्राणी के शरीरादि से ज्यादा ममता होगी उसके मन में इन्द्रिय-भोगों की गृद्धता पैदा हो जाएगी तब वह अवश्य ही धनादि सामग्रियों को इकट्ठा करेगा। जितना-जितना धन बढ़ेगा उतना-उतना लोभ बढ़ेगा कि यह धन कम न हो किन्तु बढ़ता ही जावे। लोभ बढ़ने से अन्याय में प्रवृत्ति होगी, अन्याय से तीव्र पापों का बन्ध होगा, पाप के फल से दुःख होगा तथा नीचगति प्राप्त होगी। वहाँ भी अशुभ भावों के कारण पापबंध होगा। तब दुःखमय अवस्था प्राप्त होगी और लोभ की मंदता होना अतिशय कठिन हो जाएगा।

आचार्यों ने लोभ को पाप का जनक बताया है। ज्यों-ज्यों परिग्रह बढ़ेगा त्यों-त्यों प्राणियों के लोभ बढ़ता जाएगा। उदाहरणार्थ— जैसे किसी के पास नब्बे पैसे हैं तो उसके दस पैसे का टोटा है; वह चाहता है यदि एक रुपया पूरा हो जाए तो अच्छा हो। यदि एक रुपया हो गया तो टोटा नौ रुपये का हो गया। अब वह चाहता है कि दस रुपये का नोट हो जाए तो कितना अच्छा! यदि दस रुपये हो गए तो टोटा नब्बे रुपये का हो गया। अब उसकी इच्छा है कि सौ रुपये हो जाएं तो कितना अच्छा हो! इसी प्रकार जब सौ रुपये हो गए तो नौ सौ का टोटा हो गया और हजार हो गए तो नौ हजार का टोटा हो गया; दस हजार हो गए तो टोटा नब्बे हजार का बन गया। इस प्रकार उत्तरोत्तर टोटा बढ़ता ही जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक परिग्रह में लोलुपता है तब तक लोभ बढ़ता ही जाएगा और ज्यों-ज्यों लोभ बढ़ेगा त्यों-त्यों प्राणी अपने संसार को दीर्घ बनाता जाएगा, यह है संसाररूपी बेल।

संतोष के बिना संसार से छुटकारा असम्भव ही है। देखो! आदिनाथ भगवान के प्रथम पुत्र श्री भरतेश्वर ने छहखण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त करली फिर भी अपने सेनापति जयकुमार से कहते हैं, जयकुमार! और आगे बढ़ो, तब जयकुमार कहता है महाराज! कहाँ और किधर बढ़ूं? ऐसा कोई स्थान नहीं रहा जहाँ आपका आधिपत्य न हो। कहने का सारांश यह है कि परिग्रह से आज तक किसी

को तृप्ति नहीं हुई। परिग्रह से ममत्व हटाकर जिसने संतोष धारण किया उसी ने संसार पार किया।

ममत्वाज्जायते लोभो, लोभाद्रागश्च जायते।
रागाच्च जायते द्वेषो, द्वेषाद् दुःखपरम्परा ॥२३३॥

अर्थ :—परपदार्थों के ममत्व भाव से लोभ पैदा होता है, लोभ से राग पैदा होता है, राग से द्वेष उत्पन्न होता है और द्वेष से दुःख की संतान चल पड़ती है।

विशेषार्थः—शरोर, कुटुम्ब तथा भोग-सामग्रियों में ममता भाव होने से उनके बने रहने का और उनके लिए धनादि-प्राप्ति का लोभ होता है। लोभ के कारण जिन-जिन पदार्थों के संयोग से स्वार्थ की सिद्धि होती है, उन-उन की तरफ राग होता है, राग के कारण जो उन पदार्थों के विरोधी है, उनसे द्वेष हो जाता है। राग-द्वेष से कर्मों का बन्ध हो जाता है, फिर कर्मों के उदय से दुःख के कारणों की और शरीरादि की प्राप्ति होती है, फिर ममता भाव से लोभ होता है। इस प्रकार संसार में दुःखों की परिपाटी चला करती है। अतः परिग्रह का होना संसार-वर्द्धक है।

भोगों की इच्छा होने से प्राणियों को दुःख होता है। दुःख कहीं बाहर से नही आता है, मात्र इच्छा करने से होता है; देखो ! संसार में एक तो वे मनुष्य हैं जो भूख-प्यास के मारे परेशान रहा करते हैं और दुःखी हुआ करते है; इसके अलावा दूसरे जो हट्टे-कट्टे हैं तथा धन आदि भी जिनके पास है, आराम से रहते हैं, आनन्द से भोजन आदि करते हैं फिर भी तृष्णा की वजह से इच्छाएँ कर कर दुःखी हुआ करते हैं, वे दिखाऊ स्थिति में तो मौज में है, किसी प्रकार की तकलीफ उन्हें नही है, फिर भी भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाएँ करके वे दुःखी हुआ करते हैं।

दुःख का मूल कारण राग है। आँख के आगे यदि तिल बराबर भी कागज का टुकड़ा लगा दिया जाए तो उस के लगने से उसके आगे सारा पहाड़, सारा लोक जो दिखने में आता था वह सब ढ़क जाएगा। कोई कहे कि बड़ा गजब है; तिल के बराबर ही तो कागज चिपका हुआ है परन्तु सब ढ़क गया। जैसे जरा से कागज की ओट में सब कुछ ढ़क जाता है। ठीक उसी प्रकार अणु मात्र राग से यह आत्मस्वरूप ढ़क जाता है। जब थोड़ा सा भी राग-भाव आत्मसुख को आच्छादित कर देता है, तो भला जो व्यक्ति तीव्र राग में मस्त हो रहे हैं उनको आत्मस्वरूप की प्राप्ति होना दुर्लभ ही है। अतः इन परपदार्थो से ममत्व-भाव मत करो क्योंकि इनसे लोभ बढ़ता ही जाएगा, जिससे आत्म-कल्याण होना असंभव हो जाएगा। आत्महितैषियों को रागभाव छोड़ने का प्रयत्न करना उचित है।

निर्ममत्वं परमतत्त्वं, निर्ममत्वं परं सुखम्।
निर्ममत्वं परमबीजं, मोक्षस्य कथितं बुधैः॥२३४॥

अर्थ :– ममतारहित होना परम तत्त्व है, ममतारहित होना परम-सुख है, ममतारहित भाव मोक्ष का श्रेष्ठ बीज है; ऐसा बुद्धिमानों ने कहा है।

विशेषार्थ :– जिन्होंने सर्व पर-पदार्थों से ममता छोड़ दी है; इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्त्ती आदि के भोग जिन्हें आकुलताकारक तथा त्यागने योग्य भासते हैं, वे महात्मा मात्र एक अपने आत्मा में व उसकी मुक्ति में ही रुचि रखते हैं। वे सर्व प्रकार के ममत्व से रहित होकर परमात्म-तत्त्व का भली प्रकार अनुभव कर सकते हैं। फिर स्वात्मानुभव से अतीन्द्रिय उत्तम सुख को भोगते हैं; और यही मोक्ष का सच्चा उपाय है। जब जगत् की चंचल वस्तुओं से वैराग्य होगा तभी आत्मिक आनन्द से प्रेम होगा। सुख का कारण एक निर्ममत्वभाव ही है। निर्मोही जीव ही मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

संसार में प्राणियों के जितना-जितना ममत्वभाव रहेगा उतना-उतना ही वे दुःखी रहेंगे; इसलिए परिवार में रहते हुए भी अपने को पृथक् समझो। सोचो! अपने को पृथक् समझने में कौनसा विगाड़ होता है? कुछ भी तो नहीं होता, देखो! जब परिवार में कोई मर जाता है तब कुछ न कुछ भाव ऐसा होता है कि यह मेरा नहीं था। परन्तु यदि ऐसा ही भाव उसके जीवित रहते हो जावे तो इतना दुःख क्यों होवे? अरे! आप यदि उन्हें अपना समझोगे भी तो क्या वे आपके हो जाएँगे? नहीं; कदापि नहीं। आप केवल उन्हें अपना मानकर दुःख कर सकते हैं, क्योंकि अपना और पराया मानना आपके बस की बात है, यदि आप परिवार के लोगों को अपना न समझो तो भला फिर दुःख काहे का। जिस वस्तु को आप अपनी न समझो तो बताओ उसके नाश होने में आपको क्या तकलीफ होती है। तकलीफ तो तभी है कि आप उस वस्तु को अपनी मानलो। उदाहरणार्थ— जैसे कोई व्यक्ति बाजार में से एक किलो घी खरीदकर ला रहा था। मौसम गर्मी का था। घी तपा हुआ था। चलते-चलते बाजार के चौराहे पर उस व्यक्ति के हाथ से घी का बर्तन गिर गया और घी जमीन पर फैल गया। उस समय चौराहे पर खड़े लोग हँसी उड़ाते नजर आएँगे कि भाई यहाँ लाकर क्यों डाला है? तथा बड़ा मूर्ख है, इस प्रकार कहेंगे। परन्तु जिस व्यक्ति का घी गिर गया उसे पूछो, वह क्या कहता है– हाय! बीस रुपये देकर घी लाया था, सब गिर गया, क्या करूँ? वह इस प्रकार दुःखी होता नजर आएगा। इस विषय में अब जरा सोचो! यदि घी गिर जाने से ही दुःख होता तो चौराहे पर खड़े सभी जनों को होता, परन्तु सो बात नही; दुःख तो उसी को हो रहा है जो कहता है कि हाय! मेरा नुकसान हो गया। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ ममकार है वहां दुःख है और जहाँ ममकार नही है वहाँ दुःख भी नहीं है।

निर्ममत्वे सदा सौख्यं, संसारस्थितिभेदनं।
जायते परमोत्कृष्ट-मात्मनः संस्थिते सति ॥२३५॥

अर्थ :– सर्व परपदार्थों से ममता छोड़कर अपनी आत्मा में स्थिति प्राप्त कर लेने से संसार की स्थिति को भेदने वाला परमोत्कृष्ट सुख सदा अनुभव में आता है।

विशेषार्थ :– जिसके भीतर ठहरना है, जिसका स्वाद लेना है जिसमें सच्चा आनन्द है, वह स्वयं आत्मा ही है। यह उपयोग जब तक आत्मा से बाहर रमण करता है, तबतक अपने आत्मा का स्वाद नहीं आ सकता है। जब उपयोग को सर्व अनात्माओं से और अन्तमें उत्कृष्ट गुणस्थानों में पहुंचने पर परमात्मा से भी हटाकर– अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव में श्रद्धापूर्वक जोड़ा जाता है, तन्मय किया जाता है, एकाग्र किया जाता है, तभी स्वात्मानुभव होता है और परमानन्द का स्वाद आता है। यह परमानन्द ही वह शस्त्र है जो संसार के भ्रमण करानेवाले कर्मों का नाश कर देता है। वास्तव में, मोक्ष का मार्ग स्वात्मानन्दमय है। संसार में जो महाभाग राग-द्वेष-मोह का त्याग करेगा वह अवश्य ही मोक्षमार्ग को पाकर सन्तुष्ट होगा। देखो ! आत्मा की रुचि जब साम्यभाव में हो जाती है तब पर-पदार्थों में रुचि नहीं रहती। स्वात्मानन्द से ही आत्मानुभव होता है। उस स्वानुभव रूप परम-सुधा-रस का पान करके प्राणियों को सन्तुष्ट होना चाहिए।

आचार्यों ने मानवों को सदाचार धारण करने के लिए प्रेरित किया है कि वे अपनी इन्द्रियों व मन को वश में रखें। क्रोध, मान, माया और लोभ आदि कषायों को मंद करें तथा अन्याय-अत्याचार न करें। वास्तव में, संसार में प्रचलित सभी धर्मों ने इस बात को मंजूर किया है कि मानव को मानवता ग्रहण करनी चाहिए। देखो! प्राणियों में जब क्रोध पैदा होता है तो वे उसके आवेश में निम्न से निम्न काम भी कर डालते हैं उन्हें उस समय अपने पराये का भी भान नहीं रहता है। अतः प्राणी-मात्र के साथ सद्व्यवहार करो; अपने मन से किसी का बुरा मत करो; अपने वचन से कटु एवं असत्य मत बोलो और अपनी काया से किसी का घात मत करो। मन, वचन और काय की सरलता ही संसार-नाशक है,

जबकि मन, वचन और काय की कुटिलता कर्म-बन्ध की हेतु है। प्राणियों को पर-पदार्थों में ममता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि पर-पदार्थों का ममत्व संसार का कारण है, कर्मबन्ध का जाल है अथवा परपदार्थों का ममत्व ही जीवों को संसृति-कारागृह में डालने वाला है, आत्मध्यान का नाश करने वाला है और आत्मा के स्वरूप को भुलाने के लिए मदिरावत् है। सारांश यह है कि पर-वस्तुओं पर मोहित होकर मत फूलो।

१७. धन की असारता एवं संतोष की महिमा

अर्थो मूलमनर्थानामर्थो निर्वृत्तिनाशनम् ।
कषायोत्पादकश्चार्थो, दुःखानां च विधायकः ॥२३६॥

अर्थ :– यह धन अनर्थों का मूल है; निर्वृत्ति (मोक्ष) का नाशक है; लोभादि कषायों का उत्पादक है और दुःखों का विधायक है।

विशेषार्थ :– लक्ष्मी के त्याग बिना ममत्व का त्याग नहीं हो सकता है। लक्ष्मी होने से ही विषय-सामग्री को एकत्र किया जाता है और उसके बढाने एवं कम न होने की चिन्ता सताती है। लक्ष्मी के लोभ से मानव अनेक प्रकार के अन्याय-अत्याचार करता है, असत्य बोलकर ठगा करता है, चोरी भी कर लेता है। लक्ष्मी का ममत्व न हटेगा तब तक निश्चल आत्मसमाधि प्राप्त नहीं होगी। निश्चल समाधि के बिना मोक्ष के बाधक कर्मों का नाश नहीं हो सकता है। अतएव धन मोक्ष में अन्तराय करता है। धन के निमित्त से लोभ और मान (अहंकार) होता है। मायाचार भी धन के लिए किया जाता है। जो बाधक होता है उस पर क्रोध भी आ जाता है, धन के कारण यहां भी उपार्जन, रक्षण और व्यय की आकुलता होती है। फिर राग-द्वेष से तीव्र कर्मों का बन्ध होता है। कर्मों के उदय से संसार में दुःखों की परम्परा चलती है।

क्रोध, मान, माया, लोभादि कषाय ही प्राणियों को संसार में भटकाते हैं। यदि मानव के पास सोने और चांदी के कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत हों तो भी लोभी पुरुष को संतोष नहीं होगा क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है। आचार्यों ने बताया है कि मानव जब तक चारों कषायों को नहीं छोड़ता तब तक उसका संसार-सागर अथाह रहता है और जब इन कषायों को छोड़ देता है तो उसका संसार एक चुल्लू पानी के बराबर ही रहता है। अतएव आत्म-हितैषियों को चाहिए कि वे अपने विचारों को समीचीन बनाकर अपने जीवन को सफल बनावें।

प्राप्तोज्झितानि वित्तानि, त्वया सर्वाणि संसृतौ।
पुनस्तेषु रतिः कष्टं, भुक्तवान्त इवौदने ॥२३७॥

अर्थ :– हे आत्मन् ! तू ने इस संसार में सर्व प्रकार के धन को प्राप्त करके बार-बार छोड़ा है। खाए हुए भात को वमन हुए के समान उन्हीं सम्पत्तियों में तू फिर आसक्ति करता है, यह बड़े कष्ट की बात है।

विशेषार्थ :– संसार की धन-सम्पदा बार-बार इस प्राणी ने पाई है। संसार के भोग बार-बार भोगे हैं। ये सर्व भोग, सम्पदा, खाकर वमन किए हुए भात के समान, फिर भोगने योग्य नहीं है। जैसे बुद्धिमान् व्यक्ति वमन किए हुए भात को नहीं खाता है वैसे ही तुझे धन-सम्पत्ति को ग्रहण करना योग्य नहीं है, क्योंकि यह संसार में फंसाने वाली है।

यथार्थ में काम, क्रोध, लोभ और मोह ये चार प्रवृत्तियाँ मनुष्य के पतन की कारण हैं। आचार्यों ने लोभी पुरुष की मनोवृत्ति का कितना सुन्दर चित्रण किया है कि लोभी प्राणी न तो इस जन्म में कोई सुख पाता है और न परलोक में। देखो ! लोभ के वश में होकर मनुष्य प्रत्येक वस्तु का संग्रह करता चला जाता है, उसकी इच्छाओं का कभी अन्त नहीं आता है, लोभ के वश होकर वह चोरी करना भी सीख

जाता है। लोभी आदमी के हृदय में न किसी के प्रति दया होती है और न परोपकार का भाव होता है।

लोभ का एक व्यापक रूप भी है। इन्द्रियों के विषयों के पीछे दौड़ना भी लोभ है। संसार में किसी को सौन्दर्य का लोभ होता है तो किसी को खाने-पीने का, किसी को गाने-बजाने का, किसो को विलासिता का। ये सभी लोभ मानव को बुरे से बुरा काम करने तक में प्रवृत्त कर देते हैं। इसके कारण प्राणियों का इहलोक और परलोक बिगड़ जाता है। वह अपने धर्म-कर्म को भी भुला वैठता है तथा अधर्म वृत्ति को अपना लेता है। लोभ के कारण ही मानव झूठ बोलता है तथा प्राणियों को मौत के घाट उतार देता है, अभक्ष्य-भक्षण भी कर लेता है। इसलिए लोभ को पाप का बाप जानकर सतोष धारण करना ही मानवता है। संतोष धारण करने से मानव सुखी रहता है तथा आकुलता से बच जाता है, आकुलता रहते मानव सुख और शान्ति प्राप्त नही कर सकता है।

को वा वित्तं समादाय, परलोकं गतः पुमान्।
येन तृष्णाग्निसंतप्तः, कर्म बध्नाति दारुणम् ।।२३८।।

अर्थ :- संसार में कौन ऐसा प्राणी है जो धन को लेकर परलोक गया हो। धन के कारण ही यह जीव तृष्णा की अग्नि में जलता हुआ तीव्र कर्म बाँधता है।

विशेषार्थ :- अज्ञानी प्राणी रातदिन धन की तृष्णा में फंसा हुआ अपनी सर्व शक्ति व अपना सर्व समय धन के कमाने में ही खर्च करता है, आत्मकल्याण नहीं करता है। उसके लिए आचार्य कहते है कि हे भाई ! तू जिस धन के तीव्र लोभ में पड़कर न्याय-अन्याय का विचार छोड़कर जैसे तैसे धन कमाकर तीव्र पापकर्म बांधता है, वह धन इस पर्याय में ही, इस शरीर के साथ रहेगा। परलोक में किसी के साथ यह धन नहीं गया है। परलोक में तो तेरा पाप-पुण्य साथ जाएगा।

इसलिए धन के पीछे पाप बांधकर परलोक में कष्ट पाना मूर्खता है। अतएव संतोषपूर्वक न्याय से धन कमाते हुए आत्महित के लिए पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए। धन के संचय मात्र से कुछ लाभ न होगा।

देखो ! धन के संचय करने में प्राणी रात-दिन एक कर देता है वह कभी नही सोचता कि आखिर इसका क्या बनेगा ? परन्तु मोही प्राणी को धन-संचय करने की एक लत पड़ जाती है। इस विषय में एक बड़ा सुन्दर और वैराग्यवर्द्धक दृष्टान्त है— एक सेठजी के पास बहुत धन था और २५, ३० मकान थे। सेठजी की उम्र अस्सी साल की थी। वे अपने समय का बहुभाग धन इकट्ठा करने में और मकानों में सजावट आदि कामों में ही लगाते थे। उनके एक ही पुत्र था। वह बहुत ज्ञानवान, धर्मात्मा व तत्त्वज्ञ था। वह अपने पिताजी की आदत देखकर दु:खी होता था और उन्हें समझाता था कि पिताजी ! इतने धन और मकानों का क्या बनेगा, आपके तो मैं एक ही पुत्र हूँ, मेरे लिए एक या दो मकान ही बहुत है। धन इतना है कि मैं पचास पीढ़ी तक भी नहीं खा सकूंगा। आप वृद्ध हैं। क्यों रात-दिन परेशान हो रहे हैं ? परन्तु लड़के की बात का सेठजी पर कोई असर नहीं पड़ सका। आखिर लड़के ने सोचा क्या करूं ? पिताजी मानते नहीं, व्यर्थ ही परेशान होते हैं। इस प्रकार विचार करते हुए लड़के ने एक युक्ति सोची। वह अपने पिताजी से एक दिन बोला— पिताजी ! आज रात को मुझे एक स्वप्न आया था। पिताजी ने कहा– बेटा ! क्या स्वप्न आया ? तब वह बोला कि मैने आज रात को आपके पिताजो, दादाजी आदि कई पीढ़ियों के पूर्वजों को देखा। सेठजी ने पूछा– बेटे ! वे सब खुश तो हैं। तब पुत्र ने कहा कि हाँ सब खुश है। परन्तु उन्होंने एक समाचार आपके लिए कहा है कि अब थोड़े दिनों में हमारा पुत्र (अर्थात् आप) आने वाला है क्योंकि उसकी उम्र अस्सो साल की हो चुकी है सो उसके साथ एक सुई तथा दो-चार हाथ डोरा जरूर भेजना, क्योंकि हमारे कपड़े फट गये हैं सो सिलाई कर लेगे। इतना सुनते ही सेठजी झट बोले, पागल ! कहीं परलोक में सुई-डोरा साथ जाता है क्या ? फौरन ही लड़का

बोला– तो फिर पिताजी ! समझ में नहीं आता, आप रात-दिन क्यों तड़फ रहे हो और धन मकान इकट्ठे कर रहे हो जबकि आपके साथ एक सूई-डोरा भी जाने वाला नही है। बस ! इस बात को सुनते ही सेठजी का अज्ञानरूपी पर्दा हट गया। संसार से विरक्त होकर वन में जाकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण करली। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव अगर सही-सही बात का विचार करे तो उसे मालूम होगा कि यह संसार असार ही है।

तृष्णान्धा नैव पश्यन्ति, हितं वा यदि वाहितं।
संतोषांजनमासाद्य, पश्यन्ति सुधियो जनाः ॥२३९॥

अर्थ :– जो मानव विषयभोगों को व धन की तृष्णा से अन्धे हैं, वे न तो अपना हित विचारते हैं और न कभी अहित का ही विचार करते हैं। परन्तु बुद्धिमान पुरुष आँख में संतोषरूपी अंजन लगाकर अपना सच्चा हित देखते रहते है।

विशेषार्थ :– मानव वे ही हैं जो आत्महित पर दृष्टिपात करें। बुद्धिमान मानवों का यह प्रथम कर्त्तव्य होता है कि वे इस बात को जान ले कि उनकी आत्मा का हित किसमें है और अहित किसमें है। विज्ञ जन धन को संतोष के साथ कमाते हैं तथा अपना समय शास्त्राभ्यास, सत्संगति, तत्त्वविचार और आत्मध्यान के लिए अवश्य निकालते है। परन्तु जो धन के ही मोह में उन्मत्त हैं वे कभी आत्मा के हित को विचारते ही नही, वृथा जीवन खोकर दुर्गति के पात्र हो जाते हैं।

संसार के सभी व्यक्तियों को सभी प्रकार के सेव्य पदार्थों की प्राप्ति हो सके अर्थात् उनकी इच्छानुसार उनका जीवन बना दिया जाए, यह सम्भव नहीं है। हाँ ! यदि सभी लोग संतोष ग्रहण कर लें तो सब सुखी बन सकते हैं। मानव यदि अपनी आकांक्षाओं को संयत कर ले अथवा उनका निरोध कर ले तो फिर किसी प्रकार की परेशानी नहीं होती। आज के भोगासक्त मनुष्य की जीवन-नौका को विपत्तियों की भंवर से

बचाने के लिए "अपरिग्रहवाद" या संयत मनोवृत्ति के उज्ज्वल आलोक-स्तंभ की आवश्यकता है। परिग्रह की वृद्धि आत्मा को दबाते हुए प्राणियों को गतप्राण सा बना देती है। इसलिए आचार्यों ने परिग्रह को मूर्च्छा बताया है; इस मूर्च्छा में मानव अपने स्वरूप से च्युत होकर वस्तुओं को उचित प्रकार से नहीं देख सकता है फलतः आनन्द के सागर अपनी आत्मा का पूर्णतया विस्मृत कर देता है। अतः आज के मूर्च्छित मानवों को अपरिग्रहवाद की संजीवनी सेवन करना अत्यावश्यक है; सोचो! अमर्यादित जीवन-स्तर बढ़ाने से क्या कभी तृप्ति की उपलब्धि हो सकती है? नहीं! अतः कल्याण के इच्छुक प्राणियों को तृष्णा की आग से बचकर संतोष ग्रहण करना चाहिए।

सन्तोषसारसद्रत्नं, समादाय विचक्षणाः।
भवन्ति सुखिनो नित्यं, मोक्षसन्मार्गवर्त्तिनः ॥२४०॥

अर्थ :– बुद्धिमान पुरुष संतोषरूपीसार रूप सच्चे रत्न को हृदय में धारण करके हमेशा ही मोक्ष के सच्चे मार्ग पर चलते हैं और सुखी रहते हैं।

विशेषार्थ :–जो मानव अपने नर-जन्म को सफल करना चाहते हैं, वे ही बुद्धिमान हैं, वे रत्नत्रयमार्ग पर चलते हुए आत्मध्यान का, श्री जिनेन्द्र-भक्ति का व दान-परोपकार तथा श्रावक या मुनि के व्रतों का अभ्यास करते हैं तथा विषय-भोगों की गृद्धता को त्याग देते हैं। वे परम संतोषरूपी रत्न को धारकर सदा सुखी रहते हैं। पुण्यकर्म के उदय से जो भोजन-पान मिल जाता है उसमें संतोष करते हुए अपना जीवन बिताते हैं। उनका मुख्य लक्ष्य आत्मा की उन्नति का रहता है। गृहस्थावस्था में भी वे सामायिक, स्वाध्याय आदि नित्यकर्मों में कभी प्रमाद नहीं करते हैं।

संतोषी प्राणी की स्थिति निराली होती है। वह अवर्णनीय विपत्तियों के आने पर भी विचलित नहीं होता है। उसके सामने कर्मों को

भी हार माननी पड़ती है। इस विषय में 'आत्मानुशासन' में गुणभद्राचार्य ने कितना सुन्दर कहा है—

जीविताशा धनाशा च, येषां तेषां विधिर्विधिः।
किं करोति विधिस्तेषां, येषां आशा निराशता॥

संतोषी प्राणी की मनोवृत्ति मोही जगत् से निराली होती है। वे संतोषी महात्मा धन-दौलत आदि की आशा नहीं करते; सन्मार्ग पर कदम बढ़ाने के लिए हर समय तैयार रहते हैं तथा जीवन की ममतावश कभी सन्मार्ग से पीछे नहीं लौटते। अकिंचन-पना उनकी सम्पत्ति है; वे हमेशा ही अपना कर्त्तव्य-पालन करते हैं तथा आत्म-जागृति-पूर्वक अपना जीवन बिताते हैं। ऐसे बलिष्ठ संतोषी आत्माओं का दुर्दैव क्या कर सकता है ? इस प्रसंग पर आत्मानुशासनकार की वाणी कितनी प्राणपूर्ण है—

निर्धनत्वं धनं येषां, मृत्युरेव हि जीवितम्।
किं करोति विधिस्तेषां, सतां ज्ञानैकचक्षुषाम्॥

अर्थात्–निर्धनपना जिसका धन है; मृत्यु ही जिसका जीवन है तथा जिसके ज्ञानरूपी चक्षु मौजूद हैं ऐसे प्राणी का कर्म क्या कर सकता है। कहने का सार यह है कि संतोषरूपीरत्न जिसके हृदय में विद्यमान है वह प्राणी मोक्षमार्ग पर आरूढ़ है तथा सदा सुखी है। इसलिए सुखार्थियों को तृष्णारूपी जहर का त्याग कर संतोषरूपी अमृत का पान करना चाहिए जिससे आत्मा का हित हो सके।

तृष्णानलप्रदीप्तानां, सुसौख्यं तु कुतो नृणाम्।
दुःखमेव सदा तेषां, ये रता धनसंचये ॥२४१॥

अर्थ :– जो मानव तृष्णारूपी अग्नि से जलते रहते हैं, उनको किस तरह उत्तम सुख प्राप्त हो सकता है। जो धन के एकत्र करने में ही रत रहते हैं, उनको सदा दुःख ही भोगना पड़ता है।

विशेषार्थ :– उत्तम सुख आत्मा का स्वभाव है। इस सुख को वे

ही प्राप्त कर सकते हैं जो सन्तोषी रहते हुए ध्यान, स्वाध्याय व पूजा-पाठ के लिए समय निकालते हैं। जो रातदिन धन को तृष्णा में रत रहते हैं तथा धर्म का साधन नहीं करते हैं, उनको उत्तम सुख तो प्राप्त नही हो सकता है, वे इन्द्रियों के सुखों को प्राप्त करते हैं परन्तु आकुलता को बढ़ा लेते है अतः उनको दुःख अधिक रहता है। क्योंकि उनके तृष्णा बढ़ती जाती है, इच्छानुकूल पदार्थ उन्हें मिलते नहीं हैं और जो पदार्थ मिलते भी हैं तो उनका वियोग हो जाता है तब वे बहुत कष्ट पाते हैं। तात्पर्य यह है कि उनका जीवन निराशापूर्ण बीतता है। यदि गृहस्थ-जन संतोष से अपना जीवन व्यतीत करें और धर्म का साधन करें तो बहुत से मानसिक दुःखों से बच सकते हैं और उभय लोक की सिद्धि कर सकते हैं। वास्तव में, यदि प्राणी विचार करे तो यह मानना होगा कि जो प्राणी धर्म-ध्यान को छोड़कर निरन्तर मात्र धन आदि वस्तुओं का संचय करते रहते हैं उनकी विवेक-बुद्धि नष्ट सी हो गई है, इस विषय में वैराग्यभाव से भरी हुई एक कथा इस प्रकार है–एक राजा बडा दानी था। वह गरीबों को जमीन मुफ्त में देता था। इस कारण से उसकी ख्याति, कीर्ति जगह-जगह हो गई। एक बार एक लोभी पुरुष राजा के पास आया और बोला महाराज ! मुझे भी जमीन दीजिए। राजा ने कहा— पांच बीघा दे दें ! तो लोभी बोला– महाराज इतनी सी से क्या होवे। तो राजा ने कहा दस बीघा दे दें, परन्तु लोभी पूर्वोक्त बात बोला। राजा ने कहा– पचास ! तो भी लोभी का वही कहना था। राजा ने कहा पांच सौ बीघा दे दूं ? तो भी लोभी का मन बढ़ता ही गया और बोला इतनी सी से क्या होगा। राजा ने मन में सोचा– यह कोई परम लोभी है। फिर बोला– ऐसा करो कल सूर्य उगते ही तुम राज-भवन से लेकर जितनी दूर तक पैदल चले जाओगे उतनी ही जमीन तुम्हारी हो जाएगी; लेकिन याद रखना जितनी भी दूर तुम जाओ परन्तु सूर्यास्त के समय तक वापिस राजमहल पर पैदल आना होगा। यदि समय पर नहीं आये तो कुछ नहीं मिलेगा। यह सुनकर वह लोभी पुरुष खुश हो गया। उसने कहा– महाराज बहुत अच्छा। ऐसा ही